



MATS
UNIVERSITY

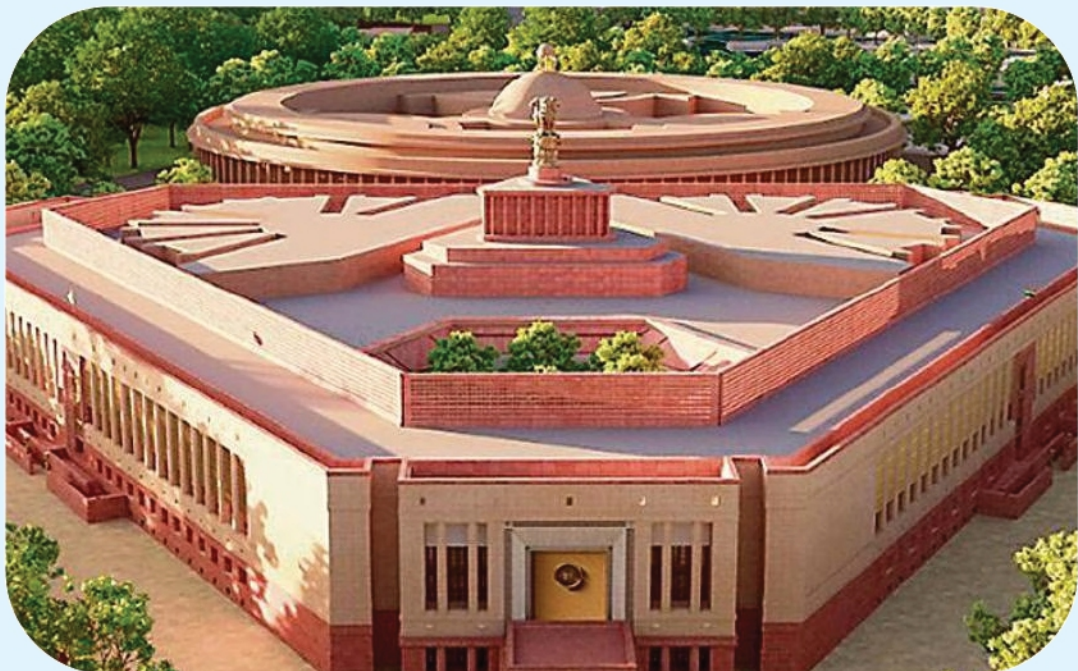
NAAC
GRADE **A⁺**
ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

भारतीय शासन और राजनीति

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

द्वितीय सेमेस्टर



SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

- 1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
- 2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
- 3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
- 4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
- 5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh
- 6- Dr. Naaz Benjamin , Principal ,Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Mr. Khileshwar Raxsel ,Assistant Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025

ISBN- 978-81-987917-1-9

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-
(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल	विषय – भारतीय शासन एवं राजनीति – II	
माड्यूल – 1	राष्ट्रवाद का उदय	1-15
	इकाई – 1 उदारवादी राष्ट्रवाद एक परिचय	
	इकाई – 2 उदारवादी पक्ष विचारधारा और परिचय	16- 25
	इकाई – 3 आन्दोलन के कारण	26-38
	इकाई – 4 राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय	38-51
माड्यूल – 2	भारतीय संविधान और उसके स्रोत	52-121
	इकाई– 5 भारतीय संविधान और उसके स्रोत एक परिचय	52-66
	इकाई– 6 मूल अधिकार	77-80
	इकाई – 7 मूल कर्तव्य एवं राज्य के नीति निर्देशक तत्व	80-90
	इकाई – 8 भारतीय संविधान की विशेषताएँ	91-121
माड्यूल – 3	निर्वाचन आयोग तथा चुनाव सुधार	
	इकाई– 9 निर्वाचन आयोग एक परिचय	122-122
	इकाई– 10 चुनाव सुधार	123-150
	इकाई – 11 राष्ट्रपति	134-153
	इकाई – 12 संसद	154-187
माड्यूल – 4	सर्वोच्च न्यायालय तथा संवैधानिक प्रक्रिया	
	इकाई – 13 सर्वोच्च न्यायालय तथा संवैधानिक प्रक्रिया	188-200
	इकाई – 14 राज्यपाल एवं राज्य विधान मंडल	201-229

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

इकाई 1

राजनीति विज्ञान: अर्थ एवं परिभाषा राष्ट्रवाद का जागरण

इस अध्याय के अन्तर्गत :परिचयराष्ट्रवाद के जागरण का परिचय
आन्दोलन के उदय और इसके कारण

अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे

भारत में शुरू हुए राष्ट्रवाद के जागरण की पृष्ठभूमि समझ सकेंगे ।

राष्ट्रवाद के आन्दोलन के उदय और इसके कारण समझ सकेंगे ।

कांग्रेस की स्थापना के कारण और इसके उद्देश्य समझ सकेंगे ।

कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति और इसके प्रति ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण समझ सकेंगे ।

परिचय

16वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरमोत्कर्ष पर था और भारत की इस समृद्धि से प्रभावित होकर यूरोप के विभिन्न देश भारत के साथ व्यापार करने के लिए लालायित थे । लन्दन के कुछ व्यापारियों ने भारत तथा पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी (म्हें पदकपं बबुचंदल)' की स्थापना की और 31 दिसम्बर, 1600 को ब्रिटिश साम्राज्ञी एलिजाबेथ ने अंग्रेज व्यापारियों की इस कम्पनी को भारत के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्रदान किया । ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा बहुत तेजी के साथ प्रगति की गयी और व्यापारिक प्रतियोगिता में पुर्तगाली, डच तथा फ्रेंच व्यापारिक कम्पनियों को पराजित कर भारत के व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया गया ।

1857 का स्वतंत्रता संग्राम एक साधारण घटना थी । इस असफल संग्राम के परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन का ध्यान भारत में कम्पनी के शासन की बुराइयों की ओर गया । परिणामस्वरूप नवम्बर 1858 ई० के सत्ता हस्तान्तरण और भारत में श्रेष्ठतर शासन हेतु कानून के आधार पर ब्रिटिश सम्राट् ने भारत में कम्पनी के शासन का अन्त कर भारतीय शासन अपने हाथ में ले लिया । लेकिन सत्ता के इस हस्तान्तरण से भारतीय जनता के कष्टों और उनकी विदेशी शासन-विरोधी भावनाओं में कोई कमी नहीं हुई और इन्हीं भावनाओं ने कालान्तर में भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया । राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय और उसके कारण भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय का उल्लेख 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ किए जाने का एक विशेष कारण है' । यद्यपि 'कांग्रेस का इतिहास के लेखक 'पट्टाभि सीतारमैया और कुछ अन्य लेखकों के इस विचार को तो ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस का इतिहास ही भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष का इतिहास है, क्योंकि कांग्रेस की स्थापना के पूर्व और पश्चात् दूसरी अनेक शक्तियों के द्वारा भी इस उद्देश्य से कार्य किया गया था, लेकिन कांग्रेस ने भारतीय स्वतंत्रता के संघर्ष में सदैव केन्द्र का कार्य किया । यह वह धुरी थी जिसके चारों ओर स्वतंत्रता की महान् गाथा की विविध घटनाएँ घटित हुईं ।' स्वतंत्रता आन्दोलन में कांग्रेस की इस प्रमुख भूमिका के कारण ही भारत में



भारतीय शासन राजनीति

जिसके कम-से-कम आधे सदस्य अंग्रेज हों। इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने भारतीयों को दो बातें सिखायीं एक तो यह कि बिना संगठित रूप से आन्दोलन किए उनकी मांगें पूरी नहीं हो सकतीं और दूसरी यह कि इस प्रकार का आन्दोलन कैसे किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सर हैनरी कॉटन ने लिखा है कि इस विधेयक और इसके विरोध में किये गये आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीयता पर जो प्रभाव डाला, वह प्रभाव विधेयक के मूल रूप में पारित होने पर कभी नहीं हो सकता था। उपर्युक्त तत्त्वों के परिणामस्वरूप भारत के लोगों ने इस चेतना का विकास हुआ कि उनकी दयनीय स्थिति के लिए ब्रिटिश शासन ही उत्तरदायी है और इस चेतना ने ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (प्रकपद छंजपवदंस ब्वदहतमे) को जन्म दिया। कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठन— 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना का कार्य विचारों या संगठन की दृष्टि से आकस्मिक नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पूर्व भी कुछ राजनीतिक संगठन स्थापित किए गए थे और उनके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया जा रहा था। कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनों में प्रमुख थे— ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन (1851), इण्डिया लीग (1875), इण्डियन एसोसियेशन (1876), पूना सार्वजनिक सभा (1867), बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन और महाजन सभा (1881), आदि। कांग्रेस की स्थापना— उपर्युक्त संस्थाओं के द्वारा विभिन्न प्रान्तों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का कार्य किया जा रहा था। 1876 के बाद लार्ड लिटन के अविवेकपूर्ण कार्यों और उसके बाद लार्ड रिपन के शासनकाल में इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने अखिल भारतीय स्तर के राजनीतिक संगठन की आवश्यकता स्पष्ट की। इन परिस्थितियों में सर्वप्रथम सम्भवतया एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारी एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम को ही इस संस्था का जन्मदाता समझा जाता है। ह्यूम की योजना सम्भवतया एक ऐसे संगठन का निर्माण करने की थी, जो प्रमुख रूप से सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्य करते हुए भारत की स्थिति में सुधार लाता ह्यूम ने जब यह योजना नये गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन के सामने रखी तो लार्ड डफरिन ने प्रस्तावित संगठन के कार्यक्षेत्र को बाव देते हुए कहा कि इस संगठन के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में भी कार्य किया जाना चाहिए। ह्यूम ने अपनी योजना में वायसराय के निर्देश के अनुसार परिवर्तन किया और वे इंग्लैण्ड पहुँचे। इंग्लैण्ड में उन्होंने वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों लार्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राइट और स्लेग आदि से विचार-विनिमय किया। इंग्लैण्ड से वापस आने पर यह निश्चित किया गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन पूना में 25 से 28 सितम्बर, 1885 तक होगा ! लेकिन पूना में हैजा पुरु हो जाने पर अधिवेशन पूना के स्थान पर बम्बई में किया गया छ 28 दिसम्बर 1885 को दिन के 11 बजे गोकुलदास तेजपाल, संस्कृत कॉलेज के भवन में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन आरम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर व्योमेशचन्द्र बनर्जी द्वारा की गयी। अधिवेशन में भारत के अनेक व्यक्ति— दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दीनशा एदलषी वाचा, काशीनाथ तैलंग, नारायण गणेश चन्द्रावरकर, पी. आनन्दचालू, वी. राघवाचार्य, सुब्रह्मण्यम् आदि उपस्थित थे। यह समस्त कार्य सरकारी आषीर्वाद से किया गया था। कूपलैण्ड ने लिखा है, श्भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की षिषु थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने उसके पालने को आषीर्वाद दिया। अधिवेशन में विलियम वेडरबर्न और रानाडे जैसे सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे। कांग्रेस के उद्देश्य र कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति श्री व्योमेशचन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान आकर्षित करते हुए इसके उद्देश्य इस प्रकार बताये थे रू (1) साम्राज्य के विभिन्न भागों में देशहित के लिए लगन से कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच घनिष्ठता और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करना। (2) समस्त देशवासियों में वंष, धर्म और प्रान्त सम्बन्धी दूषित संस्कारों को मिटाकर राष्ट्रीय ऐक्य की भावनाओं का पोषण और परिवर्द्धन करना। कृ (3) महत्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रज्नों पर भारत के षिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद प्राप्त परिपक्व सम्पत्तियों का संग्रह करना। (4) उन तरीकों और दिषाओं का निर्णय करना, जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देशहित के कार्य करें। कांग्रेस की स्थापना के आधारभूत कारण से सम्बन्धित विवाद (ब्वदजतवअमतेल ब्वदबमतदपदह जीम ठपतजी वब्बिदहतमे) — ए. ओ. ह्यूम तथा उनके सहयोगियों के कांग्रेस को संगठित करने के वास्तविक उद्देश्य क्या थे, इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैंरू

असन्तोश के लिए अभयदीप (मिसल टंसअम) के रूप में की गयी अर्थात् कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था। लार्ड लिटन के दमनकारी शासन की समाप्ति पर भारत क्रांति के बहुत अधिक समीप पहुंच चुका था। भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और शिक्षित नवयुवकों का घोर असन्तोश क्रांति का रूप ग्रहण करने वाला था। ह्यूम को विषसनीय सूत्रों से इस बात का ज्ञान हो गया था कि राजनीतिक अषान्ति अन्दर ही अन्दर बढ़ते-बढ़ते-बढ़ता था और 1887 तक यह नहीं सोच पाया था कि कांग्रेस उसके लिए कभी कोई चुनौती बन सकती है। परन्तु जब कांग्रेस की शक्ति में तीव्र गति से वृद्धि होने लगीय कांग्रेस उच्च वर्ग के साथ साथ सामान्य जनता से जुड़ने लगी और कांग्रेस के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक सुधारों की सबल रूप में मांग की जाने लगी तब कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार के रुख में परिवर्तन होने लगा। कांग्रेस की स्थापना में सहयोग देने वाले लार्ड डफरिन ने स्वयं अपने कार्यकाल की समाप्ति पर कांग्रेस की निन्दा करते हुए कहा कि, शमुझे उसका भारतीय जनता के प्रतिनिधित्व का दावा बेबुनियाद लगता है। कांग्रेस तो नगण्य अल्पमत का प्रतिनिधित्व करती है ! १ भारतीय शासन एवं राजनीति छव्जै "मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस 21 भारतीय शासन एवं राजनीति छव्जै "मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस 22 २ शासन द्वारा इस बात की असफल कोषिष की गयी कि 1888 के कांग्रेस अधिवेशन के लिए कांग्रेस को कोई उपयुक्त स्थान ही न मिले। सरकारी कर्मचारियों का कांग्रेस- अधि वेषन में दर्षक रूप में उपस्थित होना भी निशिद्ध कर दिया गया। मुसलमानों को कांग्रेस के विरोध में संगठित होने की प्रेरणा दी गयी और शिक्षित भारतीयों में मतभेद उत्पन्न करने के भी प्रयत्न किए गए। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि लार्ड कर्जन (1898 –1905) की सरकार ने धनी और कुलीन व्यक्तियों पर कांग्रेस से अलग रहने के लिए बहुत दबाव डाला था। रेम्जे मैकडॉनल्ड के षब्दों में, "कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण प्रारम्भ में मित्रतापूर्ण था, लेकिन बाद में इसने कटु विरोध का रूप ले लिया। १ शासन के इस रवैये ने कांग्रेस की लोकप्रियता में वृद्धि ही की। सारांष रू • राष्ट्रवाद का जागरण भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन विशय का एक प्रमुख तथ्य है। 16वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरम उत्कर्ष पर था इसी समृद्धि और गौरव से मंत्र मुग्ध होकर और लालायित चाहत से प्रभावित होकर यूरोपीय व्यापारी व्यापार करने हेतु भारत तथा पूर्वी देशों के साथ संबंध स्थापित करने हेतु ईस्ट इंडिया कंपनी के बैनर तले विभिन्न यूरोपीय शक्तियों ने भारतवर्ष तथा अन्यपूर्वी देशों के साथ व्यापार लाभ हेतु दाँव पेच खेलना शुरू किया। अनेक यूरोपीय कंपनियों ने भारतवर्ष में अपनी व्यापारिक गतिविधियों शुरू की और आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगी विशेष रूप से फ्रांसीसी और ब्रिटिश कंपनियों में व्यापार – लाभ में एकाधिकार की लम्बी लड़ाई शुरू हुई। अन्ततः ब्रिटिश ईस्ट कंपनी ने भारतीय अर्थव्यवस्था और शासन व्यवस्था को आपसी फूट और कमजोर सैन्यबल तथा केन्द्रीय संयोजक के अभाव अपने कस्बे में ले लिया और ब्रिटिश शासनकी मजबूत नींव डालने में सफलता पाई। इस तरह भारतवर्ष ब्रिटिश भारत कहलाने को बाध्य हुआ। इसके आगे भारतीय राजनीति धर्म अर्थ व्यवस्था समाज और सैन्य क्षेत्रा में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हुआ जिनके कारण भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन का प्रबल विरोधी बना दिया। स्व प्रगति परीक्षण के उत्तर रू 1. थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में एक रूसी महिला मेडम ब्लैवेट्स्की तथा अमरीकी कर्नल अल्काट द्वारा 1875 ई0 में की गयी थी।

भारतीय शासन राजनीति

राष्ट्रीयता के उदय का उल्लेख कांग्रेस की स्थापना के समय अर्थात् 1885 ई. से किया जाता है ।

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन विष्व के किसी भी दूसरे देश में इसी प्रकार के आन्दोलन की तरह राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारणों और विविध शक्तियों के संयोग का परिणाम था । इसमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारणों और तत्वों की विवेचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है :

(1) 1857 का स्वतंत्रता संग्राम

“ 1857 का विद्रोह सैनिक विद्रोह से कहीं अधिक था । वह भारत में इतनी तीव्र गति से फैला कि उसने जनविद्रोह तथा भारतीय स्वतंत्रता के युद्ध का रूप धारण कर लिया ।” यह विद्रोह कुछ कारणवश असफल रहा किन्तु ब्रिटिश शासन ने विद्रोह का दमन करने में जिस अमानुषिक कार्यवाही का आश्रय लिया था, उससे जनता का असन्तोष बहुत अधिक बढ़ गया । ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए दमन के सम्बन्ध में सर चार्ल्स डिल्के अपनी पुस्तक ग्रेटर इण्डिया . (लतमंजमत पदकपं) में लिखते हैं कि “अंग्रेजों ने अपने कैदियों की बिना न्यायिक कार्यवाही के और ऐसे ढंग से हत्या कर दी जो सभी भारतीयों की दृष्टि में पाषविकता की चरम सीमा थी । दमन के दौरान गाँव के गाँव जला दिए गए । निर्दोष ग्रामीणों का ऐसा कत्लेआम किया गया कि मुहम्मद तुगलक भी उससे शरमा जाएगा ।”

अंग्रेजों की बदला लेने की उपर्युक्त भावना ने इस असन्तोष को और भी बढ़ावा दिया । विद्रोह ने अंग्रेजों में भारतीयों के प्रति और भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति घृणा की भावना को और अधिक बढ़ा दिया ।

(2) राजनीतिक एकता की स्थापना ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था । अषोक और अकबर जैसे महान शासकों को भी यातायात के साधनों के अभाव और अपनी विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था के कारण भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने में पूरी सफलता नहीं मिली थी । लेकिन ब्रिटिश शासन सम्पूर्ण देश को एक केन्द्रीय शासन के अर्न्तगत लाने में सफल हुआ और आवागमन के साधनों ने उन्हें इस कार्य में पूर्ण सहायता प्रदान की । भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ सम्पूर्ण भारत में सर्वत्र एक-सी शासन व्यवस्था स्थापित हो गयी और इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भारत एक रूप हो गया ।

ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारत में राजनीतिक एकता उत्पन्न करना नहीं था, लेकिन पूरे देश में एक ही प्रकार की शासन व्यवस्था और यातायात के साधनों के विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश पहली बार राजनीतिक दृष्टि से एक इकाई बन गया । पं० नेहरू के शब्दों में, “ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता सामान्य अधीनता की एकता थी लेकिन उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया ।”

(3) धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण डॉ. जकारिया ने अपनी पुस्तक ‘रिनेसेण्ट इण्डिया (तमदेबमदज पदकपं) में ठीक ही लिखा है कि “भारत की पुनर्जागृति मुख्यतया आध्यात्मिक थी तथा एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण करने के पूर्व इसने अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया ।” 19वीं सदी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन राष्ट्रीयता के विकास में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए । इस प्रकार के सुधार आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसॉफिकल सोसायटी का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है ।

धार्मिक और सामाजिक सुधारकों राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ सेन, के.सी. सेन पी.सी. सरकार, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, एनीबेसेण्ट, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने भारतीयों को भारत की महानता को समझने और उसे पुनः प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया । राजा राममोहन राय को पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जा सकता है ।

भारत में धर्म और समाज सुधार कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने अगस्त 1828 ई० में ब्रह्म समाज की स्थापना की। सती प्रथा का अन्त, स्त्रियों का उद्धार और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार आदि सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों के साथ-साथ राजा राममोहन राय अपने देशवासियों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी संघर्ष करते रहे।

धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण में स्वामी दयानन्द का योग भी बहुत अधिक महत्वपूर्ण है, उनका सन्देश था— 'वेदों की ओर लौटो'। वे एक ही साथ सन्त, समाज सु रक और देशभक्त थे और 1875 ई. में मुम्बई में उनके द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' एक साथ ही धार्मिक, राष्ट्रीय नवजागरण का आन्दोलन था। इसने भारत और हिन्दू जाति को नवजीवन प्रदान किया। " स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में निर्भीकतापूर्वक लिखा कि "विदेशी राज्य से चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो स्वदेशी राज्य चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हो अच्छा है।"

धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण में थियोसॉफिकल सोसायटी और श्रीमती एनी बेसेण्ट का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में एक रूसी महिला मेडम ब्लैवेट्स्की तथा अमरीकी कर्नल अल्काट द्वारा 1875 ई० में की गयी थी। 1879 ई. में ये दोनों भारत आये और मद्रास प्रान्त के अडयार नामक स्थान को उन्होंने अपना मुख्यालय बनाया। विदेशी व्यक्तियों की इस संस्था द्वारा हिन्दू धर्म का गुणगान किए जाने से हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। श्रीमती बेसेण्ट इस संस्था की मुख्य कार्यकर्ता बन गयीं और ब्लैवेट्स्की, कर्नल अल्काट तथा श्रीमती बेसेण्ट ने अपने जोरदार लेखों और कार्यों द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया। स्वामी रामकृष्ण और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मिशन' ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। इस श्रेणी के अन्य सुधार आन्दोलनों में राधास्वामी आन्दोलन, देवसमाज आन्दोलन, बहावी आन्दोलन तथा अलीगढ़ आन्दोलन का नाम लिया जा सकता है।

इन धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने की दिशा में अपूर्व कार्य किया। इन सुधार आन्दोलनों ने एक पण्डितभूमि तैयार की और वातावरण निर्मित किया, जिसके आधार पर राष्ट्रीयता की भावना विकसित हो सकी और भारतीय स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सका। इन आन्दोलनों ने धर्म व समाज की एकता के आधार पर देशव्यापी एकता और संगठन को जन्म दिया। ए. आर. देसाई ने इन सुधार आन्दोलनों के सम्बन्ध में लिखा है कि "ये आन्दोलन कम अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक समानता के लिए संघर्ष थे और इनका चरम लक्ष्य राष्ट्रवाद था।"

(4) ऐतिहासिक अनुसन्धान — ऐतिहासिक अनुसन्धानों ने भी भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय को गति प्रदान की। साहित्य, धर्म और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर, जैकोबी, कौलबुक, रौथ, ए.बी. कीथ, डा० भण्डारकर और हर प्रसाद शास्त्री आदि ने भारतीयों के सम्मुख भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का एक ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जो किसी भी रूप में समकालीन यूरोपियन सभ्यताओं से हीन नहीं था। मध्य एशिया में कार्य कर रहे यूरोपियन विद्वानों ने इस तथ्य को भी प्रकट किया कि भूतकाल में भारत का सांस्कृतिक साम्राज्य पामीर, मलाया, इण्डोनेशिया और मैकांग की उपजाऊ घाटी तक विस्तृत रहा है। इन ऐतिहासिक अनुसन्धों ने स्वाभाविक रूप से भारतीयों में अपनी पुरातन सभ्यता और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना जगाने के साथ-साथ उनके उज्ज्वल भविष्य का चित्र भी प्रस्तुत किया। मजूमदार के अनुसार, 'यह खोज भारतीयों के हृदय में चेतना उत्पन्न करने में असफल नहीं हो सकती थी जिसके परिणामस्वरूप उनके हृदय राष्ट्रीयता की भावना व देश भक्ति से भर गए।'।

(5) पाष्चात्य शिक्षा "भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा पाष्चात्य शिक्षा प्रारम्भ किए जाने का उद्देश्य यह था कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पूर्णरूप से लोप हो जाए और एक ऐसे वर्ग का निर्माण हो, जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हो, किन्तु जो रुचि, विचार, षब्द और बुद्धि से अंग्रेज हो जाए" यह कुछ सीमा तक अंग्रेज इस मनोरथ में सफल भी हुए, क्योंकि कुछ

भारतीय शासन राजनीति

पिछित भारतीयों ने प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति से विमुख होकर स्वयं को पाष्वात्य रंग में ढालना प्रारम्भ कर दिया । लेकिन पाष्वात्य षिक्षा का एक दूसरा पक्ष भी था कि अंग्रेजी साहित्य स्वतंत्रता की उदात्त भावना से परिपूर्ण है अतः इससे राष्ठीयता और स्वतंत्रता की भावना को प्रोत्साहन मिला । इस दृष्टि से पाष्वात्य षिक्षा भारत के लिए एक ईष्वरीय देन सिद्ध हुई ।

पाष्वात्य षिक्षा के कारण भारतीय सर्वोत्तम अंग्रेज विचारकों के सम्पर्क में आये । उन्हें मिल्टन, बर्क, मिल, मैकाले और हरबर्ट स्पेंसर आदि विचारकों की कृतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ, जिनके द्वारा उनमें स्वतंत्रता, राष्ठीयता और स्वराज्य की जीवनदायिनी भावनाओं का संचार हुआ । उनके संकीर्ण विचारों में परिवर्तन हुआ और उनका दृष्टिकोण व्यापक हो गया । इन सबके परिणामस्वरूप उनका तत्कालीन राजनीति से असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था । भारतीयों पर पश्चिमी षिक्षा के प्रभाव के सम्बन्ध ए. आर. देसाई लिखते हैं कि “पिछित भारतीयों ने अमरीका, इटली और आयरलैण्ड के स्वतंत्रता संग्रामों के सम्बन्ध में पढ़ा । उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं का अनुशीलन किया जिन्होंने व्यक्तिगत और राष्ठीय स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया है । ये पिछित भारतीय भारत के राष्ठीय आन्दोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गये ।” इस सम्बन्ध में यह

1. राष्ठीय आन्दोलन के उदग

लिए में थियोसोफिकल सोसाय की क्या भूमिका थी?

2. जाति विभेद की नीति ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीयों के भन किस तरह विद्रोह और राष्ट्रवाद की चेतना जगाने में सहायक रही? 3. आप किस आधार पर कह सकते हैं कि कांग्रेस एक राष्ठीय संगठन के रूप में उभर चुका था और इसकी षक्ति निरंतर बढ़ रही थी?

स्मरणीय है कि राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, व्योमेषचन्द्र बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले और दिनषा वाचा जैसे भारतीय राष्ठीयता के ये सभी सन्देशवाहक अंग्रेजी ‘षिक्षा की देन थे ।

भारतीयों को राष्ठीयता, स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के सर्वोत्तम विचारों का ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त पाष्वात्य षिक्षा ने अंग्रेजी भाषा के रूप में सम्पूर्ण भारत के व्यक्तियों को पारस्परिक विचार विनिमय का साधन प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप भारतवासी एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आए । अंग्रेजी भाषा ने भारतीयों को एक मंच पर लाने, सामान्य समस्याओं पर विचार करने और कार्य की सामान्य योजना के निर्माण का पथ प्रषस्त किया ।

इस प्रकार पाष्वात्य षिक्षा के द्वारा उदीयमान भारतीय राष्ट्रवाद को नवजीवन प्रदान किया गया । लार्ड मैकाले ने कहा था कि “उस दिन को, जब यूरोपियन ज्ञान, प्राप्त भारतीय यूरोपियन संस्थाओं की मांग करेंगे, मैं ब्रिटिश इतिहास का सर्वाधिक गौरवपूर्ण दिवस समझंगा ।” मैकाले का यह स्वप्न बहुत षीघ्र सार्थक हो गया, इतना षीघ्र जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी ।”

(6) भारतीयों का विदेश गमन – 19वीं सदी से अनेक भारतीय षिक्षा प्राप्ति तथा अन्य कार्यों से विदेश जाने लगे । उन्होंने वहाँ प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों तथा संगठनों को कार्यरत देखा और स्वतंत्रता, समानता तथा और भ्रातृष्व का पाठ पढ़ा । वे इन विचारों और सिद्धान्तों से प्रभावित हुए और उस दिन का स्वप्न देखने लगे जब भारत में भी प्रजातान्त्रिक विचारों और संस्थाओं को मूर्त रूप प्राप्त होगा । गुरुमुख निहालसिंह का कथन है कि, ‘इंग्लैण्ड में उन्हें स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधि का गहरा ज्ञान प्राप्त हो जाता था, वे समानता और स्वाधीनता को मूल्य समझ जाते थे तथा उनके मन में जमी हुई दासता की मनोवषति घट जाती थी ।”

(7) भारतीय समाचार-पत्रों तथा देशी साहित्य का विकास— मुनरो ने लिखा है कि, 'एक स्वतंत्र प्रेस और विदेशी राज एक दूसरे के विरुद्ध हैं और ये दोनों एक साथ नहीं चल सकते।' भारतीय समाचार-पत्रों पर भी यह बात पूरी तरह सही उतरती है। पाष्वात्य शिक्षा के प्रभाव से देश में प्रेस का विकास हुआ और समाचार-पत्रों की संख्या में आषातीत वर्षद्धि हुई। भारतीय समाचार पत्रों ने अंग्रेजी पत्रों में भारत विरोधी प्रचार का करारा उत्तर दिया और भारतीयों को विदेशी शासन की बुराइयों से परिचित कराया। इस श्रेणी के समाचार पत्रों में सम्वाद कौमुदी (1821), बॉम्बे समाचार (1882), बंगदूत (1831), रास्त गुप्तार (1851) अमष्ट बाजार पत्रिका (1868), ट्रिब्यून (1877) का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

इस काल में कुछ ऐसे लेखक भी हुए, जिनकी रचनाओं ने राष्ट्रीयता के विकास में बहुत योग दिया। बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' तथा 'वन्देमातरम्' की रचना की, जिन्होंने बंगाल में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की पाठ्य-पुस्तक का कार्य किया। बंगला भाषा के अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती, मराठी और तमिल में भी ऐसे साहित्य का सज्जन हुआ, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय में योग दिया।

—

:

(8) आर्थिक असन्तोश मि० गैरट का विचार है कि, "राष्ट्रीयता में शिक्षित वर्ग का अनुराग, हमेशा ही कुछ हद तक धार्मिक और कुछ हद तक आर्थिक कारणों से हुआ है।" यह कथन भारतीय राष्ट्रीयता पर पूरे-पूरे रूप में घटित होता है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना का उद्देश्य भारत के साथ व्यापार करते हुए इस

देश का आर्थिक शोषण करना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बाद में ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए इस देश के आर्थिक शोषण का ही यह परिणाम था कि जिस भारत को 17वीं सदी तक सोने की चिड़िया कहा जाता था, उसी भारत के सम्बन्ध में 1900 ई. में सर विलियम डिंग्वी ने लिखा, करीब 10 करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में ऐसे हैं, जिन्हें 'किसी समय भी भर-पेट अन्न नहीं मिलता— इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस 'समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश में कहीं पर भी दिखाई नहीं दे सकती।' इस आर्थिक शोषण के राजनीतिक परिणाम उत्पन्न होने स्वाभाविक थे।

कम्पनी ने भारत के उद्योग धन्धों को प्रायः समूल नष्ट कर दिया और व्यापार पर उसका पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया, जिससे भारतीय जनता निर्धनता और भुखमरी का शिकार होती गयी। उद्योग धन्धों के विनाश का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि उद्योग धन्धों में कार्य करने वाले व्यक्ति कृषि की ओर झुके, जिससे भूमि पर दबाव बहुत अधिक बढ़ गया। सरकार ने कृषि की उन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जिससे किसानों की दशा शोचनीय होनी प्रारम्भ हो गयी। आये दिन के अकालों ने स्थिति को और भी अधिक दयनीय बना दिया। ब्रिटिश शासन ने औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश इंग्लैण्ड और पिछड़े हुए देश भारत के बीच स्वतंत्र व्यापार की नीति अपनायी जिससे गिरते हुए भारतीय उद्योग धन्धे पूर्णतया समाप्त ही हो गये। भारतीयों ने इस सत्य को समझ लिया कि उनकी इस दयनीय स्थिति का दोष विदेशी शासन पर है और उसका अन्त करने की दिशा में प्रयत्न किए जाने चाहिए। अंग्रेजी शासन की आर्थिक नीतियों से असन्तुष्ट होकर ही भोलानाथ चन्द्र ने 1877 में लिखा, 'ब्रिटिश शासन का विरोध करने के लिए हमारे द्वारा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की नीति अपनायी जानी चाहिए।'

(9) भारतीयों को उच्च पदों से अलग रखने की नीति— 1833 के अधिनियम में कहा गया था कि सरकारी नौकरियों में प्रवेश योग्यता के आधार पर ही दिया जायेगा और किसी भी भारतीय को धर्म, जन्मस्थान, वंश और वर्ण के कारण कोई पद प्रदान करने में बाध उपस्थित नहीं की जाएगी। इसी प्रकार की नीति को 1858 की साम्राज्यी की घोषणा में भी दुहराया गया था, लेकिन व्यवहार में इस नीति का पालन करने के स्थान पर इसे भंग ही किया गया।



भारतीय शासन राजनीति

. भारतीयों को उच्च पदों, विशेषतया 'भारतीय नागरिक सेवा (प.ई.)' से अलग रखने के विधि वत् प्रयत्न किए गए। इस सेवा में प्रवेश की आयु 21 वर्ष थी, परीक्षा केवल इंग्लैण्ड में होती थी और परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही थी। ऐसी स्थिति में भारतीयों के लिए नागरिक सेवा में प्रवेश करने हेतु ब्रिटेनवासियों से प्रतियोगिता करना अत्यधिक : कठिन था। इतना सब कुछ होने पर भी यदि सुरेन्द्र नाथ बनर्जी या अरविन्द घोष जैसे मेहः गवी विद्यार्थी परीक्षा में सफल हो जाते, तो घुड़सवारी जैसी कुछ गौण बातों के आधार पर उन्हें सेवा में प्रवेश से रोक दिया जाता था (अरविन्द घोष के साथ ऐसा किया गया) या सेवा में प्रवेश कर लेने के बाद मामूली सी गलती के आधार पर उन्हें अलग कर दिया जाता था। (सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के साथ ऐसा ही किया गया)।

सन् 1877 में नागरिक सेवा में प्रवेश की आयु 21 वर्ष के स्थान पर 19 वर्ष कर दी गयी, जिससे भारतीयों के लिए इस प्रतियोगिता में शामिल होना असम्भव ही हो गया। ऐसी स्थिति में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश सरकार के इस कार्य का विरोध करने का निष्पत्ति किया और इस प्रश्न पर राष्ट्रीय जनमत के निर्माण हेतु सम्पूर्ण देश का दौरा किया। उन्होंने तथा 1876 में इण्डियन एसोसियेशन (पदकपंद वेवबपंजपवद) की स्थापना की, जिसे कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्था कहा जा सकता है। इस प्रकार भारतीयों को उच्च पदों से अलग रखने की नीति ने प्रभावशाली शिक्षित भारतीयों में असन्तोष की ज्वाला उत्पन्न कर दी।

1

(10) जाति – विभेद नीति सन् 1857 के विद्रोह के पूर्व भारत स्थित अंग्रेजों और भारतीयों के सम्बन्ध पर्याप्त अच्छे थे, किन्तु विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासन ने जाति-विभेद की जो नीति अपनायी, उसके परिणामस्वरूप इस मधुरता का स्थान पारस्परिक घृणा और कटुता ने ले लिया।

अब वे (अंग्रेज) भारतीयों को 'आधे वनमानुष और आधे जंगली (हंसि लवतपससं, हंसि छमहतव) कहने लगे। भारत में जब वे अपने उन देशवासियों के सम्पर्क में आते थे, जिन्हें विद्रोह के भयंकर अनुभव थे, तो भारतीयों के प्रति उनकी घृणा की भावनाएँ दृढ़तर हो जाती थीं। ऐसे व्यक्तियों के लिए भारतीयों के साथ घुलना मिलना या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव था। मि. गैरट के अनुसार, 'उन्होंने अपने लिए एक विचित्र व्यवहार नीति अपनायी, जिसके तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त थे। प्रथम, यह कि एक यूरोपियन का जीवन अनेक भारतीयों के जीवन के बराबर है। द्वितीय, प्राच्य देशवासियों पर 'केवल भय के आधार पर ही शासन किया जा सकता है। तृतीय, वे यहाँ लोकहित

के लिए नहीं वरन् अपने निजी लाभ और ऐश्वर्य के लिए आये हैं।'

भारत स्थित ब्रिटिश सरकार और अंग्रेजों की मनमानी तथा आतंकपूर्ण नीति भारतीयों को विशेष रूप से खटकती थी। 1872 के मालेरकोटला उपद्रवों में, बिना अभियोग (मुकदमा चलाए 49 सिखों को तोप से उड़वा दिया गया था। इसके नितान्त विपरीत, भारतीयों के साथ अंग्रेजों के बर्बरतापूर्वक व्यवहार या भारतीयों की हत्या की जो घटनाएँ— घटित होती थीं, उनमें अंग्रेज अपराधियों को छोड़ दिया जाता था या मामूली सी सजा दे दी जाती थी। जाति – विभेद की उपर्युक्त नीति और इन सभी घटनाओं का परिणाम था, जातीय कटुता में वृद्धि। इस सम्बन्ध में गैरट ने ठीक ही कहा है कि, "भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ोत्तरी में उपर्युक्त कटुता की भावना एक बड़ा कारण थी।"

~

(11) यातायात तथा संचार के साधनों का विकास. 1860-70 के वर्षों में सड़कों, रेलों डाक और तार, यातायात तथा संचार के द्रुत साधनों के विकास से भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि में सहायता मिली इन साधनों के कारण भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले देश के पुनर्चिन्तक आपस में बार-बार मिलकर देशहित में कार्य करने की योजना बना सकते थे और जनता से व्यापक तथा सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकते थे। गुरुमुख निहालसिंह के शब्दों

में, संचार के इन साधनों ने सारे देश को गूँथकर एक कर दिया और भौगोलिक एकता को एक मूर्त वास्तविकता बना दिया।" यातायात के इन साधनों के कारण ही श्री बनर्जी का नागरिक सेवा सम्बन्धी अखिल भारतीय दौरा सम्भव हो सका। इन साधनों के विकास से राष्ट्रीय आन्दोलनों को बल प्राप्त हुआ !

(12) विदेशी आन्दोलनों का स्वस्थ प्रभाव इटली, जर्मनी, रूमानियां और सर्बिया के राजनीतिक आन्दोलनों, फ्रांस में तृतीय गणतन्त्र की स्थापना और इंग्लैण्ड में सुधार कानूनों का पारित होना आदि घटनाओं ने भारतीयों के मस्तिष्क पर प्रभाव डाला। इन आन्दोलनों ने भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ता प्रदान की और उन्हें अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता हेतु संघर्ष के लिए प्रेरित किया। मजूमदार के शब्दों में, "भारतीय सीमा के बाहर घटित इन घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रवाद की धारा को स्वाभाविक रूप से प्रभावित किया।"

(13) लार्ड लिटन की दमनात्मक नीति दृ. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि, "राजनीतिक प्रगति के विकास में बुरे या क्रूर शासक एक गुप्त वरदान के रूप में आते हैं। उनके कारण समाज में ऐसी जागृति उत्पन्न होती है जैसी वर्षों के प्रचार और आन्दोलन से भी उत्पन्न न हो।" बनर्जी का यह कथन भारत में लार्ड लिटन के सम्बन्ध में पूर्ण तथा सत्य सिद्ध होता है।

.



लार्ड लिटन ने अपने शासनकाल (1876-80) में ऐसे कार्य किए जिनसे भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नागरिक सेवा की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष करने का कार्य 1876 में ही हुआ। इसके बाद लार्ड लिटन ने 1 जनवरी 1877 को विक्टोरिया को 'भारत की महारानी' घोषित करने के लिए दिल्ली में एक विषाल दरबार का आयोजन किया। यह शान्तिपूर्ण दरबार उस समय किया गया था, जबकि दक्षिण भारत में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा था। भारतीय समाचार-पत्रों ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। एक समाचार-पत्र ने तो यहां तक लिख दिया कि, 'जब रोम जल रहा था, तब नीरो बांसुरी बजा रहा था। यह दरबार एक और रूप में भारतीय राष्ट्रीयता के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इस दरबार में बनर्जी एक प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए और यहीं उनके मस्तिष्क में यह भावना जाग्रत हुई कि यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रशंसा के लिए देश के राजा तथा अमीर-उमरावों को एकत्र किया जा सकता है तो देशवासियों को न्यायसंगत ढंग से, स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए क्यों नहीं संगठित किया जा सकता। इसी वर्ष जब भारतीय जनता भूखों मर रही थी, भारत से इंग्लैण्ड को 80 लाख पौण्ड के अन्न का निर्यात किया गया। इधर घोर दुर्भिक्ष, उधर शाही दरबार और अन्न के निर्यात का यह दृश्य भारतीयों के हृदय को वेदने वाला था।



लार्ड लिटन की अफगानास्तान पर आक्रमण की नीति ने भी भारतीयों को असन्तुष्ट किया, क्योंकि अफगानिस्तान पर आक्रमण करने में जो दो करोड़ स्टलिंग का खर्च हुआ वह भारत की निर्धन जनता पर पड़ा। 1878 में भारतीय सेना को सायप्रस भेजने के कार्य का भी भारतीय जनता ने विरोध किया। 1878 में लिटन शासन द्वारा वर्नाक्यूलर प्रेस

कट पारित किया गया, जिससे भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों पर कठोर नियन्त्रण स्थापित हो गया। भारत के शिक्षित वर्ग ने इसे 'गैंगिंग एक्ट' का नाम दिया। समस्त देश में और विशेषतया बंगाल में इस कानून का इतना प्रबल विरोध हुआ कि अन्त में बाध्य होकर लार्ड रिपन को यह कानून रद्द करना पड़ा।

लार्ड लिटन का एक अन्य कुत्सित कार्य 'भारतीय शास्त्र अधिनियम' था। इस अधिनियम के अनुसार भारतीय बिना लाइसेंस बोर्ड की आज्ञा लेकर नहीं चल सकते थे जबकि

भारतीय शासन राजनीति

यूरोपियनों या ऍंग्लो इण्डियनों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था । स्वाभाविक रूप से भारतीय जनता ने इस कानून को अपना घोर अपमान समझा ।

लॉर्ड लिटन की आर्थिक नीति भी असन्तोश उत्पन्न करने वाली थी। उसने अपनी परिशद् के अधिकांश सदस्यों की राय के विरुद्ध लंकाषायर के उद्योगपतियों के हितों की रक्षा के लिए विदेशी सूती कपड़े पर से आयात कर हटा दिया जिससे भारत के सूती वस्त्र उद्योग को बहुत हानि पहुंची। इससे भारत सरकार की आय का एक बहुत बड़ा साधन भी समाप्त हो गया। लॉर्ड लिटन के उपर्युक्त कार्य देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी नियुक्ति ही उन सभी अप्रिय और गन्दे कार्यों को करने के लिए हुई थी, जिन्हें उनके पूर्ववर्ती लॉर्ड नार्थब्रुक ने करने से इन्कार कर दिया था। लॉर्ड लिटन के इन कार्यों के परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय जनता का असन्तोश बहुत उग्र हो गया। सर विलियम

वैडरबर्न ने ब्लंट से कहा था कि “लार्ड लिटन के शासनकाल के अन्त में स्थिति विद्रोह की सीमा तक पहुंच गयी थी।”

(14) इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद – अब तक जातीय भेद की नीति के कारण भारतीय जज अंग्रेजों के मुकदमे नहीं सुन सकते थे। लार्ड लिटन के बाद लार्ड रिपन के शासनकाल में 1883 में तत्कालीन विधि सदस्य मि. इल्बर्ट ने व्यवस्थापिका परिशद में एक विधेयक रखा, जिसमें भारतीय जजों की अंग्रेजों के विरुद्ध मुकदमे सुनने का अधिकार देने का प्रस्ताव था । परन्तु इस विधेयक के पेश होते ही भारत के समस्त अंग्रेजों ने इसका विरोध किया और विधेयक के विरुद्ध संगठित रूप में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। यह झगड़ा कई . महीनों तक चलता रहा और अन्त में समझौता हुआ, जिसके आधार पर भारतीय जजों को अंग्रेजों के मुकदमे सुनने का अधिकार तो दिया गया, परन्तु यह शर्त लगा दी गयी कि भारतीय जज उस मुकदमे की सुनवाई ऐसी जूरी की सहायता से ही कर सकते हैं, जिसके कम-से-कम आधे सदस्य अंग्रेज हों।

इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने भारतीयों को दो बातें सिखायी : एक तो यह कि बिना संगठित रूप से आन्दोलन किए उनकी मांगें पूरी नहीं हो सकतीं और दूसरी यह कि इस प्रकार का आन्दोलन कैसे किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सर हैनरी कॉटन ने लिखा है कि इस विधेयक और इसके विरोध में किये गये आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रियता पर जो प्रभाव डाला, वह प्रभाव विधेयक के मूल रूप में पारित होने पर कभी नहीं हो सकता था ।”

उपर्युक्त तत्वों के परिणामस्वरूप भारत के लोगों ने इस चेतना का विकास हुआ कि. उनकी दयनीय स्थिति के लिए ब्रिटिश शासन ही उत्तरदायी है और इस चेतना ने ही ‘भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस’ (पदकपंद छंजपवदंस ब्दहतमे) को जन्म दिया।

कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठन— 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना का कार्य विचारों या संगठन की दृष्टि से आकस्मिक नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पूर्व भी कुछ राजनीतिक संगठन स्थापित किए गए थे और उनके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया जा रहा था। कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनों में प्रमुख थे— ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन (1851), इण्डिया लीग (1875), इण्डियन एसोसियेशन (1876), पूना सार्वजनिक सभा (1867), बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन और महाजन सभा (1881), आदि ।

कांग्रेस की स्थापना – उपर्युक्त संस्थाओं के द्वारा विभिन्न प्रान्तों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का कार्य किया जा रहा था। 1876 के बाद लार्ड लिटन के अविवेकपूर्ण कार्यों और उसके बाद लार्ड रिपन के शासनकाल में इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने अखिल भारतीय स्तर के राजनीतिक संगठन की आवश्यकता स्पष्ट की। इन परिस्थितियों में सर्वप्रथम सम्भवतया एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारी एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम को ही इस संस्था का जन्मदाता समझा जाता है। ह्यूम की योजना सम्भवतया एक ऐसे संगठन का निर्माण करने की थी, जो प्रमुख रूप से सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्य करते हुए भारत की स्थिति में सुधार लाता ह्यूम ने जब यह योजना नये गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन के सामने

रखी तो लार्ड डफरिन ने प्रस्तावित संगठन के कार्यक्षेत्र को बढ़ाने का सुझाव देते हुए कहा कि इस संगठन के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में भी कार्य किया जाना चाहिए।

ह्यूम ने अपनी योजना में वायसराय के निर्देश के अनुसार परिवर्तन किया और वे इंग्लैण्ड पहुँचे। इंग्लैण्ड में उन्होंने वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों लार्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राइट और स्लेग आदि से विचार-विनिमय किया। इंग्लैण्ड से वापस आने पर यह निश्चित किया गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन पूना में 25 से 28 सितम्बर, 1885 तक होगा ! लेकिन पूना में हैजा पुरु हो जाने पर अधिवेशन पूना के स्थान पर बम्बई में किया गया छ 28 दिसम्बर 1885 को दिन के 11 बजे गोकुलदास तेजपाल, संस्कृत कॉलेज के भवन में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन आरम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर व्योमेशचन्द्र बनर्जी द्वारा की गयी । अधिवेशन में भारत के अनेक व्यक्ति – दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दीनशा एदलशी वाचा, काशीनाथ तैलंग, नारायण गणेश चन्द्रावरकर, पी. आनन्दचालू, वी. राघवाचार्य, सुब्रह्मण्यम् आदि उपस्थित थे। यह समस्त कार्य सरकारी आधीर्वाद से किया गया था। कूपलैण्ड ने लिखा है, “भारतीय राश्ट्रीयता ब्रिटिश राज की षिषु थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने उसके पालने को आधीर्वाद दिया ।” अधिवेशन में विलियम वेडरबर्न और रानाडे जैसे सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे।, कांग्रेस के उद्देश्य कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति श्री व्योमेशचन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान आकर्षित करते हुए इसके उद्देश्य इस प्रकार बताये थे : (1) साम्राज्य के विभिन्न भागों में देशहित के लिए लगन से कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच घनिष्ठता और मित्रता के सम्बन्ध I स्थापित करना ।

(2) समस्त देशवासियों में वंष, धर्म और प्रान्त सम्बन्धी दूशित संस्कारों को मिटाकर राश्ट्रीय ऐक्य की भावनाओं का पोशण और परिवर्द्धन करना ।

कृ (3) महत्वपूर्ण और आवष्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के षिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद प्राप्त परिपक्व सम्पत्तियों का संग्रह करना ।

(4) उन तरीकों और दिषाओं का निर्णय करना, जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देशहित के कार्य करें।

कांग्रेस की स्थापना के आधारभूत कारण से सम्बन्धित विवाद (बदजतवअमतेल बवदबमतदपदह जीम ठपतजी वब्बिदहतमे) – ए. ओ. ह्यूम तथा उनके सहयोगियों के कांग्रेस को संगठित करने के वास्तविक उद्देश्य क्या थे, इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं

अभयदीप की धारणा – पहली धारणा के अनुसार कांग्रेस की स्थापना देश में व्याप्त व्यापक असन्तोष के लिए अभयदीप (मिसल टंसअम) के रूप में की गयी अर्थात् कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था। लार्ड लिटन के दमनकारी षासन की समाप्ति पर भारत क्रांति के बहुत अधिक समीप पहुँच चुका था। भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और षिक्षित नवयुवकों का घोर असन्तोष क्रांति का रूप ग्रहण करने वाला था । ह्यूम को विष्वसनीय सूत्रों से इस बात का ज्ञान हो गया था कि राजनीतिक अषान्ति अन्दर ही अन्दर बढ़ रही है। दक्षिण के कृशक विद्रोह तथा बंगाल के उग्र क्रांतिकारियों की गतिविधि यों ने दूरदर्शी ह्यूम को भावी खतरे की पूर्वसूचना दे दी थी। ह्यूम साहब जन आन्दोलन की इस क्रांतिकारी भावना से बहुत चिन्तित थे। अतः उन्होंने जनता के असन्तोष को क्रांति का रूप ग्रहण करने से रोकने के लिए इस ‘अभयदीप’ को जन्म दिया, जो कि कांग्रेस थी । ह्यूम के जीवनी – लेखक सर विलियम वेडरबर्न के अनुसार ह्यूम ने एक बार कहा था कि “भारत में असन्तोष की बढ़ती हुई षक्तियों से बचने के लिए ‘अभयदीप’ (जमसल टंसअम) की आवष्यकता है और कांग्रेस आन्दोलन से बढ़कर अभयदीप दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती।

भारतीय शासन राजनीति

लाला लाजपतराय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'यंग इण्डिया में उपर्युक्त धारणा का ही प्रतिपादन करते हुए लिखा कि "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि इस संस्था के संस्थापक ब्रिटिश साम्राज्य की संकटों से रक्षा करना और उसको छिन्न-भिन्न होने से बचाना चाहते थे।" डॉ. नन्दलाल चटर्जी ने भी अपने एक लेख में यही विचार व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में रजनी पामदत्त ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पदकपं ज्वकल' में यहां तक कह दिया है कि "कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार की एक पूर्व निश्चित गुप्त योजना के अनुसार की गयी थी।"

यह स्पष्ट है कि कांग्रेस ने मि ह्यूम और उन ब्रिटिश अधिकारियों की आशाओं को, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में योग दिया था, पूर्ण किया। वह शिक्षित भारतीयों के असन्तोश के आकर्षण का केन्द्र बन गयी। कांग्रेस के मंच से इस बैचेनी और असन्तोश को वैधानिक रूप में व्यक्त किया जाने लगा और इस प्रकार कांग्रेस राष्ट्रीय असन्तोश को व्यक्त करने का षान्तिमय साधन बन गयी।

राष्ट्रीय संस्था के रूप में स्थापना कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में इस दूसरी धारणा का प्रतिपादन किया जाता है कि कांग्रेस की स्थापना भारतवासियों के हितार्थ एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में की गयी। यदि कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में प्रतिपादित 'अभयदीप की धारणा को स्वीकार कर लिया जाय, तो यह न केवल ह्यूम वरन् उन भारतीय नेताओं पर भी आक्षेप होगा, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया था। सुश्री एनी बेसेण्ट लिखती हैं कि "राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म मातृभूमि की रक्षा के हित में 17 प्रमुख भारतीयों तथा ह्यूम साहब के द्वारा हुआ था।" यहां पर गुरुमुख निहाल सिंह के विचार का उल्लेख करना भी उचित होगा, जिन्होंने यह लिखा है कि "यह सम्भव है कि ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने तथा कांग्रेस का प्रयोग एक अभयदीप की तरह करने के विचार ह्यूम तथा बेडरबर्न के हृदयों में हो किन्तु इस बात पर विश्वास करना असम्भव है कि दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता और रानाडे जैसे भारतीय नेता इनके हाथों में साधन मात्र थे या वे भी ब्रिटिश साम्राज्य को क्रान्ति के खतरे से बचाने का विचार रखते थे।"

इसके अतिरिक्त ह्यूम को भी जिनके द्वारा अपने जीवन का काफी बड़ा भाग भारतीय जनता के कल्याण में ही लगाया गया था, कोरा साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता। यंग इण्डिया के लेखक लाला लाजपतराय भी ह्यूम के उच्च आदर्श को स्वीकारते हुए लिखते हैं: "ह्यूम स्वतंत्रता के पुजारी थे और उनका हृदय भारत की निर्धनता और दुर्दशा पर रोता था वे इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि कोई भी शासन चाहे वह देशी हो अथवा विदेशी, बिना किसी दबाव के जनता की माँगों को पूरा नहीं करता। इसलिए वे यह चाहते थे कि भारतीयों के द्वारा स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस दिशा में प्रथम प्रयत्न संगठित होना था इसलिए उनके द्वारा संगठन का परामर्श दिया गया।" इन बातों के आधार पर इतिहासकार डॉ. ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि "राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीयों के हित की दृष्टि से ही की गयी थी।

वास्तविक स्थिति – कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य के सम्बन्ध में जो उपरोक्त दो दृष्टिकोण व्यक्त किए गए हैं, वे दोनों आंशिक रूप से ही सत्य हैं। कांग्रेस की स्थापना की सही व्याख्या इसी रूप में की जा सकती है कि कांग्रेस की स्थापना में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की भावना तो विद्यमान थी, किन्तु इसके साथ ही कांग्रेस की स्थापना के मूल में

भारतीयों के हित का विचार और भारतीयता की भावना भी विद्यमान थी। भारतीय राजनीति में उस समय दो प्रमुख धाराएं थीं। पहले मत के लोग हिंसा के द्वारा ब्रिटिश राज्य का अन्त कर देना चाहते थे। दूसरे मत के लोग ब्रिटिश राज्य का अन्त, कम-से-कम तत्काल अन्त, नहीं चाहते थे। वे भारतीय शासन में भारतीय जनता का ऐसा प्रतिनिधित्व चाहते थे जो बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाय कि भारत ब्रिटिश ताज के अन्तर्गत स्वशासन प्राप्त कर ले।

और कांग्रेस की स्थापना में उनके सहयोगी भारतीय राजनीति की इस दूसरी धारा से सम्बद्ध थे और कांग्रेस की स्थापना देश को वैधानिक प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए ही की गयी ।

कांग्रेस : एक राष्ट्रीय संगठन 1885 ई0 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अखिल भारतीय स्वरूप का संगठन था । इसका उद्देश्य जाति, धर्म या वर्ण के किसी भेदभाव के बिना सभी भारतवासियों का प्रतिनिधित्व करना था । कांग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इसके प्रथम अध्यक्ष व्योमेशचन्द्र बनर्जी भारतीय ईसाई थे, दूसरे दादाभाई नौरोजी पारसी थे, तीसरे बदरुद्दीन तैय्यबजी मुसलमान थे और चौथे तथा पांचवे अध्यक्ष जॉर्ज यूल तथा सर विलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे ।

इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस के अधिकांश सदस्य और पदाधिकारी हिन्दू थे । इसका एक कारण यह है कि भारत की अधिकांश जनता हिन्दू है । कांग्रेस में आनुपातिक रूप में मुसलमानों की संख्या कम होने का कारण यह भी था कि सर सैयद अहमद जैसे प्रभावशाली व्यक्ति मुसलमानों को कांग्रेस से बाहर रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे । लेकिन कांग्रेस ने सदैव ही मुसलमानों सहित सभी वर्गों के हितों की रक्षा का पूरा-पूरा प्रयत्न किया और इस प्रकार अपने राष्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखा ।

कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति— 1885 ई. कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में केवल 72 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे लेकिन समय और परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा भारतीय जनता के बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्साह के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्ति में तेजी से और निरन्तर वृद्धि होती गयी । इसके दूसरे, तीसरे और चौथे अधिवेशन में क्रमशः 436, 607 तथा 1248 प्रतिनिधियों ने भाग लिया ।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने 1888 से ही कांग्रेस को निर्बल करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिए थे, लेकिन कांग्रेस की शक्ति में कमी होने के बजाय वृद्धि ही होती गयी और इसने पीछे ही अखिल भारतीय संस्था का रूप ग्रहण कर लिया ।

कांग्रेस के प्रति सरकार का दृष्टिकोण ब्रिटिश शासन के सहयोग से की गयी थी । प्रारम्भ के यह तथ्य है कि कांग्रेस की स्थापना तीन वर्षों में कांग्रेस के प्रति शासन का दृष्टिकोण सहयोग और सहानुभूति से पूर्ण रहा । यह स्थिति इस कारण थी कि ब्रिटिश शासन कांग्रेस को अपने लिए एक सहायक संगठन समझता था और 1887 तक यह नहीं सोच पाया था कि कांग्रेस उसके लिए कभी कोई चुनौती बन सकती है ।

परन्तु जब कांग्रेस की शक्ति में तीव्र गति से वृद्धि होने लगीय कांग्रेस उच्च वर्ग के साथ साथ सामान्य जनता से जुड़ने लगी और कांग्रेस के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक सुधारों की सबल रूप में मांग की जाने लगी तब कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार के रुख में परिवर्तन होने लगा । कांग्रेस की स्थापना में सहयोग देने वाले लार्ड डफरिन ने स्वयं अपने कार्यकाल की समाप्ति पर कांग्रेस की निन्दा करते हुए कहा कि, “मुझे उसका भारतीय जनता के प्रतिनिधित्व का दावा बेबुनियाद लगता है । कांग्रेस तो नगण्य अल्पमत का प्रतिनिधित्व करती है !”

शासन द्वारा इस बात की असफल कोषि की गयी कि 1888 के कांग्रेस अधिवेशन के लिए कांग्रेस को कोई उपयुक्त स्थान ही न मिले । सरकारी कर्मचारियों का कांग्रेस— अधि वेशन में दर्शक रूप में उपस्थित होना भी निशिद्ध कर दिया गया । मुसलमानों को कांग्रेस के विरोध में संगठित होने की प्रेरणा दी गयी और शिक्षित भारतीयों में मतभेद उत्पन्न करने के भी प्रयत्न किए गए । इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि लार्ड कर्जन (1898 –1905) की सरकार ने धनी और कुलीन व्यक्तियों पर कांग्रेस से अलग रहने के लिए बहुत दबाव डाला था । रेम्जे मैकडॉनल्ड के शब्दों में, “कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण प्रारम्भ में मित्रतापूर्ण था, लेकिन बाद में इसने कटु विरोध का रूप ले लिया ।” शासन के इस रवैये ने कांग्रेस की लोकप्रियता में वृद्धि ही की ।

भारतीय शासन राजनीति

सारांश :

राष्ट्रवाद का जागरण भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन विषय का एक प्रमुख तथ्य है। 16वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरम उत्कर्ष पर था इसी समृद्धि और गौरव से मंत्र मुग्ध होकर और लालायित चाहत से प्रभावित होकर यूरोपीय व्यापारी व्यापार करने हेतु भारत तथा पूर्वी देशों के साथ संबंध स्थापित करने हेतु ईस्ट इंडिया कंपनी के बैनर तले विभिन्न यूरोपीय शक्तियों ने भारतवर्ष तथा अन्यपूर्वी देशों के साथ व्यापार लाभ हेतु दाँव पेच खेलना शुरू किया। अनेक यूरोपीय कंपनियों ने भारतवर्ष में अपनी व्यापारिक गतिविधियों शुरू की और आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगी विशेष रूप से फ्रांसीसी और ब्रिटिश कंपनियों में व्यापार – लाभ में एकाधिकार की लम्बी लड़ाई शुरू हुई। अन्ततः ब्रिटिश ईस्ट कंपनी ने भारतीय अर्थव्यवस्था और शासन व्यवस्था को आपसी फूट और कमजोर सैन्यबल तथा केन्द्रीय संयोजक के अभाव अपने कस्बे में ले लिया और ब्रिटिश शासनकी मजबूत नींव डालने में सफलता पाई। इस तरह भारतवर्ष ब्रिटिश भारत कहलाने को बाध्य हुआ। इसके आगे भारतीय राजनीति धर्म अर्थ व्यवस्था समाज और सैन्य क्षेत्रा में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हुआ जिनके कारण भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन का प्रबल विरोधी बना दिया। स्व प्रगति परीक्षण के उत्तर :

1. थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में एक रूसी महिला मेडम ब्लैवेट्स्की तथा अमरीकी कर्नल अल्काट द्वारा 1875 ई० में की गयी थी। 1879 ई. में ये दोनों भारत आये और मद्रास प्रान्त के अडयार नामक स्थान को उन्होंने अपना मुख्यालय बनाया। विदेशी व्यक्तियों की इस संस्था द्वारा हिन्दू धर्म का गुणगान किए जाने से हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। श्रीमती बेसेण्ट इस संस्था की मुख्य कार्यकर्ता बन गयीं और ब्लैवेट्स्की, कर्नल अल्काट तथा श्रीमती बेसेण्ट ने अपने जोरदार लेखों और कार्यों द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया।

2. जाति – विभेद नीति – सन् 1857 के विद्रोह के पूर्व भारत स्थित अंग्रेजों और भारतीयों के सम्बन्ध पर्याप्त अच्छे थे, किन्तु विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासन ने जाति-विभेद की जो नीति अपनायी, उसके परिणामस्वरूप इस मधुरता का स्थान पारस्परिक घृणा और कटुता ने ले लिया।

अब वे (अंग्रेज) भारतीयों को 'आधे वनमानुष और आधे जंगली' (हैमिफ्रॉन) कहने लगे। भारत में जब वे अपने उन देशवासियों के सम्पर्क में आते थे, जिन्हें विद्रोह के भयंकर अनुभव थे, तो भारतीयों के प्रति उनकी वृष्णा की भावनाएँ दृढ़तर हो जाती थीं। ऐसे व्यक्तियों के लिए भारतीयों के साथ घुलना मिलना या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव था। मि. गैरट के अनुसार, उन्होंने अपने लिए एक विचित्र व्यवहार नीति अपनायी, जिसके तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त थे। प्रथम, यह कि एक यूरोपियन का जीवन अनेक भारतीयों के जीवन के बराबर है। द्वितीय, प्राच्य देशवासियों पर केवल भय के आधार पर ही शासन किया जा सकता है। तृतीय, वे यहाँ लोकहित के लिए नहीं वरन् अपने निजी लाभ और ऐश्वर्य के लिए आये हैं।

कांग्रेस : एक राष्ट्रीय संगठन 1885 ई० में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अखिल भारतीय स्वरूप का संगठन था। इसका उद्देश्य जाति, धर्म या वर्ण के किसी भेदभाव के बिना सभी भारतवासियों का प्रतिनिधित्व करना था। कांग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इसके प्रथम अध्यक्ष व्योमेशचन्द्र बनर्जी भारतीय ईसाई थे, दूसरे दादाभाई नौरोजी पारसी थे, तीसरे बदरुद्दीन तैय्यबजी मुसलमान थे और चौथे तथा पांचवे अध्यक्ष जॉर्ज यूल तथा सर विलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे।

इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस के अधिकांश सदस्य और पदाधिकारी हिन्दू थे। इसका एक कारण यह है कि भारत की अधिकांश जनता हिन्दू है। कांग्रेस में आनुपातिक रूप में मुसलमानों की संख्या कम होने का कारण यह भी था कि सर सैयद अहमद जैसे प्रभावशाली

व्यक्ति मुसलमानों को कांग्रेस से बाहर रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे। लेकिन कांग्रेस ने सदैव ही मुसलमानों सहित सभी वर्गों के हितों की रक्षा का पूरा-पूरा प्रयत्न किया और इस प्रकार अपने राष्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखा।

कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति— 1885 ई. कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में केवल 72 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे लेकिन समय और परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा भारतीय जनता के बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्साह के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्ति में तेजी से और निरन्तर वृद्धि होती गयी। इसके दूसरे, तीसरे और चौथे अधिवेशन में क्रमशः 436, 607 तथा 1248 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने 1888 से ही कांग्रेस को निर्बल करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिए थे, लेकिन कांग्रेस की शक्ति में कमी होने के बजाय वृद्धि ही होती गयी और इसने शीघ्र ही अखिल भारतीय संस्था का रूप ग्रहण कर लिया।

अभ्यास – प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के मूलभूत कारणों का विवेचन कीजिए।
2. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारणों का परीक्षण कीजिए।
3. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि कांग्रेस की स्थापना एक अभयदीप के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए की गयी थी?
4. कांग्रेस का जन्म कब और किन उद्देश्यों से हुआ?

भारतीय शासन राजनीति**इकाई-2****राजनीति शास्त्र का स्वरूप व लक्षण****Self&Instructional Material उदारवादी राष्ट्रवाद**

कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप के अन्तर्गत :

उदारवादी पक्ष की विचारधारां और कार्यपद्धति

उदारवादियों की सफलताएँ और भारतीय राजनीति में उनका स्थान

राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उग्रवाद

कांग्रेस में फूट

उदारवाद तथा परिवारवाद में अन्त

☐ गांधीवादी युगं

☐ असहयोग आंदोलन की पृष्ठभूमि

☐ गोलमेज सम्मेलन

अस्तर प्रस्ताव

भारत छोड़ो आन्दोलन

☐ भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947

भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायक तत्व

☐ राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधीजी का योगदान

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

: कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप, इसके उदारवादी पक्ष की विचारधाराएँ और कार्य पद्धति समझ सकेंगे

: उदारवादियों को मिली सफलता के कारण तथा भारतीय राजनीति में उनका स्थान भी समझ सकेंगे।

: राष्ट्रीय आन्दोलन पर उग्रवाद की पृष्ठभूमि समझ सकेंगे।

: कांग्रेस में विचार – मतभेद के कारण समझ सकेंगे।

: गाँधीवादी युग की शुरुआत कैसे हुई, असहयोग आन्दोलन कैसे शुरू हुआ, गोलमेज सम्मेलन कहाँ और क्यों हुए तथा इनकी परिणति क्या हुई इन्हें समझ सकेंगे।

: अगस्त प्रस्ताव, भारत छोड़ो आन्दोलन के तथ्यों से परिचित हो सकेंगे।

: भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के सहायक तत्व और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी के समस्त योगदान से अवगत हो सकेंगे।

. परिचय:

कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप : उदारवादी राष्ट्रवाद

कांग्रेस के इतिहास के तीन काल 1885 ई० में कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भी भारत में ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन, इण्डियन एसोसिएशन, बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन और पूना की सार्वजनिक सभा आदि संस्थाओं द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया जा रहा था, लेकिन इनमें से कोई भी संस्था अपने कार्य और स्वरूप की दृष्टि से राष्ट्रीय नहीं थी। कांग्रेस ही ऐसी प्रथम संस्था थी, जिसके सम्बन्ध में पं. मदनमोहन मालवीय के शब्दों में कहा जा सकता है कि भारत ने अपनी आवाज इस महान् संस्था में पायी। अतः इस समय से ही बहुत-कुछ अंशों में कांग्रेस का इतिहास ही भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास बन गया।

1885 ई. से लेकर 1947 ई. तक भारतीय स्वतंत्रता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस द्वारा जिन विभिन्न रूपों में कार्य किया गया, उसके आधार पर कांग्रेस के इतिहास या भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन को निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) उदार या नरम राष्ट्रीयता का काल (1885-1905) – कांग्रेस के 20 वर्षों के इस प्रारम्भिक काल में उदार अथवा नरम राष्ट्रीयता की प्रधानता रही। इस युग में कांग्रेस किसी भी प्रकार एक क्रांतिकारी संस्था नहीं थी। इसके नेताओं ने ब्रिटिश सम्राट के प्रति विश्वास तथा सहयोग की नीति अपनायी तथा वे प्रार्थना पत्रों, स्मृति-पत्रों और प्रतिनिधि ज-मण्डलों के आधार पर भारतीय जनता को राजनीतिक अधिकार दिलाने के प्रयत्न करते रहे। कांग्रेस के इस काल की सबसे बड़ी सफलता 1892 का 'भारतीय परिशद्' अधिनियम है।

(2) उग्र राष्ट्रीयता का काल (1906-1919) – कांग्रेस ने अपने प्रथम काल में ब्रिटिश शासन की आधारभूत न्यायप्रियता में विश्वास रखते हुए प्रार्थना-पत्रों, स्मृति-पत्रों और प्रतिनिधि ज-मण्डलों की जो नीति अपनायी थी, भारतीय जनता को उनके वांछित परिणाम प्राप्त न हुए। अतः कांग्रेस के एक बहुत बड़े दुर्ग विशेषतया नव-युवकों में इस नीति के प्रति विश्वास नहीं रहा और 1906 तक कांग्रेस का नेतृत्व उग्र राष्ट्रवादियों के हाथ में आ गया। उग्र राष्ट्रवादियों ने कहा कि कांग्रेस को याचना की पद्धति छोड़कर अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए और ब्रिटिश शासन पर दबाव डालकर शासन व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करवाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। सन् 1907 में 'सूरत विच्छेद' हुआ, जिससे कांग्रेस दो पक्षों- 'नरम दल' तथा 'गरम दल' में बँट गयी और दोनों दलों के मध्य समझौता 1915 ई. में ही हो सका। इस काल के आरम्भ में मुसलमानों ने 'मुस्लिम लीग' के रूप में अपनी अलग राजनीतिक संस्था का निर्माण किया।

(3) राष्ट्रीय आन्दोलन का गांधी युग (1920-1947) कांग्रेस का तीसरा काल 1920-1947 तक का है। 28 वर्षों के इस काल में महात्मा गांधी न केवल कांग्रेस, वरन् राष्ट्रीय गतिविधियों के केन्द्र बने रहे – अतः इसे 'राष्ट्रीय आन्दोलन का गांधी युग' कहा जाता है। इस काल में कांग्रेस ने पहले तो ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग और फिर अहिंसात्मक संघर्ष की नीति अपनायी, जिसके तीन निरन्तर प्रगतिशील चरण- 'असहयोग आन्दोलन', 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' थे। इस काल के प्रारम्भ में ही नरम दल के लोग कांग्रेस से पृथक् हो गये तथा उन्होंने अपनी अलग संस्था 'अखिल भारतीय उदार संघ' (सस प्दकपं स्पड्मतंस थमकमतंजपवद) की स्थापना कर

ली। इस काल में हिन्दू मुस्लिम मतभेद अपने चरम स्तर पर पहुँच गये। मि. जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने 1940 ई. में पाकिस्तान की मांग की और 1947 ई. में भारतीय स्वतंत्रता के साथ-साथ भारत का विभाजन भी हो गया।

उदारवादी राष्ट्रीयता या कांग्रेस का उदारवादी पक्ष (1885-1905)

भारतीय शासन राजनीति

उदारवादी क्रमशः सुधार की नीति में विष्वास करते थे। इसलिए उनके द्वारा व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए बहुत ऊँची माँगें नहीं की गयीं। उदारवादी राष्ट्रीयता के 20 वर्षों में कांग्रेस द्वारा की गयी प्रमुख माँगें थीं— भारतीय शासन की जांच, भारत मंत्री तथा भारत परिषद् का अन्त, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार तथा सुधार, भारतीयों की उच्च नागरिक तथा सैनिक पदों पर नियुक्ति और इंग्लैण्ड से आने वाले कपड़े पर आयात कर लगाना आदि। कांग्रेस के द्वारा इन, माँगों के लिए इंग्लैण्ड में भी प्रचार कार्य किया गया। उदार राष्ट्रवादियों (कांग्रेस के उदारवादी पक्ष) की विचारधारा और कार्य—पद्धति 1885—1905 ई. के काल में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर उदारवादियों का प्रभाव और नियन्त्रण बना रहा। इन उदारवादियों की विचारधारा का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं में किया जा सकता है :

(1) ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति — इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस का संचालन करने वाले उदार राष्ट्रवादी उच्च कोटि के देशभक्त थे, लेकिन वे अपनी देशभक्ति के बावजूद ब्रिटिश शासन के बड़े प्रशंसक थे। ब्रिटिश राज्य के उपकारों के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भाव था और वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति भी रखते थे। दूसरे अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी अपने सहयोगियों को सामान्य भावना को ही व्यक्त कर रहे थे, जबकि उन्होंने यह घोशणा की थी कि, “आओ हम पुरुषों की तरह बोलें और घोशणा कर दें कि हम आचूड़ राजभक्त हैं।” इन नेताओं के सम्बन्ध में, एनीबेसेण्ट ने कहा था कि, ‘इस काल के नेता अपने को ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा मानने में गौरव का अनुभव करते थे।’

(2) अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विष्वास उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विष्वास था और वास्तव में इस विष्वास ने ही उनमें राजभक्ति की भावना को जन्म दिया था। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार, “उदारवादी नेता इस बात पर विष्वास करते थे कि अंग्रेज स्वभाव से न्यायप्रिय होते हैं तथा यदि उन्हें भारतीय दृष्टिकोण का सही ज्ञान करा दिया गया, तो वे इसे स्वीकार कर लेंगे।” 12वें अधिवेशन के सभापति — पद से रहमतुल्ला सयानी ने घोषित किया था कि “अंग्रेजों से बढ़कर सच्चा मित्र तथा सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाश के नीचे नहीं बसती।” अन्य उदारवादी नेताओं की भी यही भावना थी।

(3) ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध भारत के हित में समझना — अधिकांश प्रारम्भिक राष्ट्रीय नेता पश्चिमी शिक्षा के परिणाम थे और उनका विचार था कि ब्रिटिश शासन ने अंग्रेजी साहित्य, शिक्षा—पद्धति, यातायात, संचार की व्यवस्था और स्थानीय स्वायत्त शासन के रूप में हमें एक प्रगतिशील सभ्यता प्रदान की है और ब्रिटिश शासन ही आन्तरिक अशांति और बाहरी आक्रमण से भारत की रक्षा करने में समर्थ है। फिरोजशाह मेहता ने कांग्रेस के छठे अधिवेशन के सभापति पद से कहा था, “इंग्लैण्ड और भारत का सम्बन्ध इन दोनों देशों और समस्त विषय की आने वाली पीढ़ियों के लिए वरदान होगा।”

(4) क्रमिक सुधार में विष्वास —

उदारवादी राजनीतिक क्षेत्र में क्रमबद्ध विकास की धारणा में विष्वास करते थे और इन तथ्यों से परिचित थे कि एकदम ही प्रतिनिध्यात्मक शासन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तात्कालिक रूप में वे प्रशासन में आवश्यक सुधारों, विधायी परिषदों, सेवाओं, स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और रक्षा सेवाओं में सुधार से ही सन्तुष्ट थे और वे क्रांतिकारी परिवर्तन के विरुद्ध थे।

(5) उदारवाद का लक्ष्य राजनीतिक स्वशासन की प्राप्ति— उदारवादी नेता यद्यपि सुधारों में विष्वास करते थे लेकिन इन वैधानिक सुधारों का अन्तिम लक्ष्य भारतीयों के लिए स्वशासन की प्राप्ति था। वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन की स्थापना चाहते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में ही स्वशासन की बात कही थी और 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस द्वारा स्वशासन के इस लक्ष्य को स्पष्ट रूप से अपनाया गया।

भारतीय शासन राजनीति

(3) भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा – राष्ट्रीय आन्दोलन को उनकी एक अन्य देन यह है कि उन्होंने भारतीय जनता को राजनैतिक शिक्षा प्रदान की और उसमें प्रजातन्त्र तथा स्वतंत्रता के आदर्शों को प्रसारित किया। उन्होंने सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार विमर्श के लिए एक संगठन प्रदान किया और इस प्रकार शासन से सम्बद्ध प्रमुख प्रश्नों पर प्रबल जनमत का निर्माण किया। उन्होंने भारतीय जनता को व्यक्तिगत स्वाधीनता, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना, आर्थिक और सामाजिक सुधारों और अन्त में स्वशासन की मांग करने के लिए प्रेरित किया। जनमत को प्रभावित करने और भारतीयों को राष्ट्रीय जीवन की ओर आकर्षित करने की दिशा में उनके कार्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके द्वारा भारतीय प्रश्नों के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के जनमत को प्रभावित करने में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की गयी।

(4) भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आधार तैयार करना यद्यपि उदारवादियों के द्वारा स्वयं गम्भीरतापूर्वक स्वतंत्रता की मांग या इस हेतु कोई आन्दोलन नहीं किया गया, लेकिन उन्होंने एक पष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर ही भविष्य में स्वतंत्रता हेतु विभिन्न आन्दोलन किए जा सके। कें. एम. मुन्षी लिखते हैं कि “यदि पिछले 30 वर्षों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था में गांधीजी का कोई महान् आन्दोलन सफल न होता।” प्रारम्भिक कांग्रेसियों की भीरुता और भिक्षावृत्ति को उपहास की दृष्टि से देखना अत्यन्त सुगम है, परन्तु जैसा कि डॉ. पट्टाभि सीतारमैया लिखते हैं कि, “जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियां अपनाई, उनके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव से 6 फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गढ़े हैं, क्या उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो आधार है जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम औपनिवेशिक स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होम रूल, उसके बाद स्वराज तथा सबके पीछे पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें एक के बाद एक ही बन सकी हैं।”

(5) भारतीय परिशद् अधिनियम, 1892 – उदारवादी राष्ट्रीयता की तात्कालिक सफलता 1892 का ‘भारतीय परिशद् अधिनियम’ था। यद्यपि यह भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सका, लेकिन फिर भी देश के वैधानिक विकास की दिशा में यह एक निश्चित प्रगतिशील चरण था। इस प्रकार उदार राष्ट्रवादी आन्दोलन अपनी समस्त कमियों के बावजूद भारत में राष्ट्रीय जागरूकता की दिशा में महत्वपूर्ण कदम रहा।

राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उग्रवाद

उग्र राष्ट्रवादी आन्दोलन का विकास (1906–1919)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जिन उदार राष्ट्रवादियों के प्रभाव में थी, उनका लक्ष्य भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में क्रमिक सुधार करना था और वे इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संवैधानिक साधनों के प्रयोग में विश्वास रखते थे। लेकिन 1885 ई. से 1905 ई. के बीच के काल में भारत और विदेशों में कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुईं और कुछ ऐसी शक्तियाँ क्रियाशील हुईं जिन्होंने भारतीय राष्ट्र के अपेक्षाकृत युवा वर्ग को पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करने के लिए प्रेरित किया और संवैधानिक साधनों, विशेषतया नरम संवैधानिक साधनों के प्रति अविश्वास की भावना को जन्म दिया। पूर्ण स्वतंत्रता की मांग और उसकी प्राप्ति हेतु जन आन्दोलन के मार्ग को अपनाने वाली इस धारा को ही ‘उग्र राष्ट्रीयता’ के नाम से जाना जाता है।

उग्र राष्ट्रीयता (उग्रवादी राष्ट्रवाद) के उदय के कारण

उग्र राष्ट्रीयता का उदय न तो आकस्मिक था और न ही अन्य परिस्थितियों से अलग। एक पृथक् परिवर्तन, वरन् यह तो विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियों और शक्तियों का स्वाभाविक

परिणाम था। उग्र राष्ट्रीयता के उदय के कारणों की व्याख्या निम्नलिखित बिन्दुओं में की जा सकती हैं :

इकाई-3 राजनीति शास्त्र का क्षेत्र

(1) सन् 1892 के सुधार कानून की अपर्याप्तता संवैधानिक सुधारों की दिशा में राष्ट्रीय कांग्रेस के 7 वर्षों के प्रयत्नों का परिणाम 1892 का 'भारतीय परिशद्' अधि नियम था। लेकिन यह अधिनियम स्वयं में निहित कमियों और त्रुटियों के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस या सामान्य भारतीयों को सन्तुष्ट नहीं कर सका। अधिनियम में निर्वाचन की व्यवस्था

स्वप्रगति की जाँच करें

1. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि उदारवादियों ने वास्तव में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आधार तैयार किया?

2. स्पष्ट करें कि किस तरह 1907 में विधिवत रूप से सूरत अधिवेशन में कांग्रेस दो वर्गों में बँट गई?

को बहुत घुमा फिराकर रखा गया था, इसमें गैर सरकारी सदस्यों की संख्या कम थी और परिशदों के कार्य तथा अधिकार बहुत सीमित थे। अधिनियम की उपर्युक्त त्रुटियों के कारण संवैधानिक पद्धति के आधार पर कुछ प्राप्त करने की आशा समाप्त हो गयी और अब कांग्रेस के अन्दर तथा बाहर एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो क्रमिक परिवर्तन के स्थान पर आधुनिक परिवर्तन और प्रार्थना के मार्ग के स्थान पर आन्दोलन के मार्ग को अपनाने पर जोर देने लगा।

(2) धार्मिक पुनरुत्थानवाद और सांस्कृतिक नवजागरण – कांग्रेस के प्रारम्भिक नेता पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित थे और अपनी मानसिक पृष्ठभूमि के कारण ब्रिटिश शासन को भारत के हित में मानते थे, लेकिन कालान्तर में धार्मिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप कांग्रेस में ही एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जो भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के गौरव से परिचित था और जिसका विष्वास विदेशी शासन की समाप्ति में था। स्वामी विवेकानन्द ने 1893 के शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म की विजय दुन्दुभी बजायी थी और अरविन्द घोष तथा तिलक आदि उग्र राष्ट्रवादी नेता धार्मिक पुनरुत्थान के ही परिणाम थे। अरविन्द घोष ने कहा था 'स्वाधीनता हमारा लक्ष्य है और हिन्दुत्व ही हमारी यह आकांक्षा पूरी कर सकता है। धार्मिक पुनरुत्थान से प्रभावित होने के कारण ही तिलक ने भारत की स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवों और हिन्दू संगठनों पर बल दिया था। ये उग्र राष्ट्रवादी नेता भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति को अपना परम पवित्र धार्मिक कर्तव्य समझते थे।

(3) प्राकृतिक प्रकोप – 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत को अभूतपूर्व प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करना पड़ा। 1876 से 1900 तक के 25 वर्षों में देश में 18 अकाल पड़े, जिनमें सबसे अधिक भीषण 1796-97 का अकाल था जिसका प्रभाव 7 करोड़ आबादी और 70 हजार वर्गमील क्षेत्र पर पड़ा। इस भयानकतम अकाल में शासन द्वारा किए जाने वाले सहायता कार्य बहुत अधिक अपर्याप्त और धीमे थे। शासन का रुख कितना उपेक्षापूर्ण था, इसका प्रमाण यह है कि जनता तो भूखों मर रही थी, किन्तु शासन ने रानी विक्टोरिया का जयन्ती उत्सव मनाने के लिए 1897 में ही दिल्ली में शानदार दरबार लगाकर पानी की तरह

धन लुटाया था।

अकाल की यातना से अभी मुक्ति मिली भी नहीं थी कि बम्बई प्रान्त के दक्षिणी भाग में भयंकर प्लेग फैल गया। अकाल का सामना करने में सरकार ने जितनी निष्क्रियता दिखायी थी, प्लेग का सामना करने में भी उतनी ही अधिक अविवेकपूर्ण और निर्दय सक्रियता दिखाई गयी। प्लेग कमिश्नर रैण्ड और सेना के द्वारा बीमारी वाले मकानों को जबरदस्ती गिराने और बीमारों के बिस्तर और कपड़े जलाने, रसोईघर, पूजाघर और स्त्रियों के कमरे में घुस – घुसकर लोगों को घसीटने का मनमाना व्यवहार किया गया। रामगोपाल क' अनुसार, 'सारा

भारतीय शासन राजनीति

काम इस ढंग का था जैसे दुष्मन द्वारा जीते गये किन्हीं षहरों को फूँका जा रहा हो।" इस तरह के व्यवहार को जनता सहन नहीं कर सकती थी और इसके परिणामस्वरूप जनता में रोश इतना फैल गया कि रैण्ड और उसके एक साथी अर्यस्ट को एक नवयुवक द्वारा गोली से उड़ा दिया गया । -

(4) आर्थिक असन्तोश — लॉर्ड बेकन का यह कथन भारत के उग्र राष्ट्रवाद पर पूरे तौर से लागू होता है कि "आर्थिक दरिद्रता और आर्थिक असन्तोश क्रांति को जन्म देते हैं।" सरकार द्वारा निरन्तर भारत-विरोधी नीति अपनायी जा रही थी। शासन द्वारा 1894 में विदेशी माल पर आयात कर समाप्त कर दिया गया. इससे देशी सामान महंगा हो गया और विदेशी सामान सस्ते दामों पर बिकने लगा। सरकार की इस नीति के कारण ही, "स्वदेशी आन्दोलन" चला। इसके अतिरिक्त शिक्षण संस्थाओं में वृद्धि के साथ-साथ

शिक्षित भारतीयों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही थी, लेकिन शासन द्वारा शिक्षित भारतीयों को उनकी योग्यता के अनुसार पद प्रदान नहीं किए जा रहे थे। इससे भी उनमें निराशा और तीव्र असन्तोश की भावना उत्पन्न हुई। ए. आर. देसाई के अनुसार, "भारत में उग्रवाद के उदय का प्रमुख कारण शिक्षित भारतीयों में बेकारी से उत्पन्न राजनीतिक असन्तोश था ।

(5) भारतीयों से अंग्रेजों का कटुता और अहंकारयुक्त व्यवहार— उग्र राष्ट्रवाद के उदय का एक अन्य कारण था— अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति कटु व अहंकारयुक्त व्यवहार और आंग्ल-भारतीय पत्रों का भारत विरोधी दृष्टिकोण तथा प्रचार । दिन-प्रतिदिन के जीवन में भारतीयों के साथ अपमानजनक व्यवहार ही किया जाता था, अनेक बार ब्रिटिश सैनिकों और अन्य व्यक्तियों ने भारतीयों के साथ घातक मारपीट की और कई बार आहत व्यक्ति मर भी गये, लेकिन अंग्रेज अधिकारी दण्ड से बच गये या उन्हें बिल्कुल साधारण सा दण्ड दिया गया। लॉर्ड रोनाल्ड अपनी पुस्तक में इस प्रकार की दो घटनाओं के उदाहरण देते हैं। इन अपराधों और हत्या से भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि आंग्ल-भारतीय समाचार पत्रों द्वारा इस प्रकार के व्यवहारों को प्रोत्साहित किया जाता था। लाहौर से प्रकाशित आंग्ल-भारतीय दैनिक दी सिविल एण्ड मिलिट्री गजट तो भारतीयों को जी खोलकर गालियाँ देता था और पढ़े-लिखे भारतीयों को 'बलबलाते बी. एकृ वर्णसंकर बी. ए., गुलाम, दास जाति और कलंकी जाति जैसे अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित करता था। इस अपमानजनक व्यवहार की भारतीयों में प्रतिक्रिया होना नितान्त स्वाभाविक था ।

(6) विदेशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार— ब्रिटिश उपनिवेशों, विशेषकर नेपाल और दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार असन्तोश का एक अन्य कारण था । इस दुर्व्यवहार के कारण 1903 में दक्षिण अफ्रीका से लौटकर डॉ. बी. एस. मुंजे ने दुःखपूर्वक कहा था कि "हमारे पासक इस बात पर विश्वास नहीं करते कि हम भी मनुश्य हैं ।" भारतीयों के द्वारा यह अनुभव किया गया कि उन भारतीयों के साथ भारत राष्ट्र की पराधीनता के कारण ही दुर्व्यवहार किया जा रहा है और इसकी समाप्ति का एकमात्र उपाय भारत के लिए स्वतंत्रता की प्राप्ति है।

(7) पश्चिम के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव जब भारतीयों ने अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के माध्यम से मैजिनी, वर्क, गैरीबाल्डी और जार्ज वाशिंगटन के स्वतंत्रता के लिए प्रेरित करने वाले भाषण पढ़ें, अमरीका का स्वतंत्रता युद्ध, आयरलैण्ड का संघर्ष, इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति का इतिहास पढ़ा तो वे स्वतंत्रता की ओर बढ़े और उनके

□ द्वारा उग्र राष्ट्रीयता का मार्ग अपना लिया गया ।

(8) भारत के बाहर होने वाले विशेष परिवर्तन — 19वीं सदी तक पूर्व में यह ध रणा प्रचलित थी कि पश्चिम के किसी संघर्ष में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। लेकिन. 1896 में अफ्रीका के एक छोटे से देश एबीसीनिया द्वारा यूरोप के विषाल देश इटली और 1904-05 में जापान के द्वारा रूस को पराजित कर दिया गया। ये असम्भव समझी जाने वाली घटनाएँ थीं और इन्होंने भारतीयों में यह विचार उत्पन्न किया कि ब्रिटेन के विरुद्ध स्वाधीनता के

संघर्ष में सफलता प्राप्त की जा सकती है। पर्सिया, चीन, टर्की और आयरलैण्ड में इसी काल में चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलनों ने भारतीयों को और अधिक प्रोत्साहित किया।

(9) बाल, लाल और पाल का नेतृत्व – उग्र राष्ट्रीयता के उदय में बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल का नेतृत्व एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण था। ये नेता अटूट देशभक्त और ब्रिटिश शासन के कट्टर शत्रु थे। तिलक कहा करते थे, “स्वतंत्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा। हमारा उद्देश्य आत्म विश्वास है, भिक्षावृत्ति नहीं।” लाला लाजपत राय ने अपनी सशक्त वाणी में कहा, “अंग्रेज भिखारी से सबसे अधिक घृणा करते हैं और मैं सोचता हूँ कि भिखारी घृणा का पात्र है भी। अतः हमारा यह कर्तव्य है कि हम सिद्ध कर दें कि हम भिखारी नहीं हैं।” इन नेताओं ने भिक्षावृत्ति का मार्ग त्यागकर आन्दोलन का मार्ग अपनाने पर जोर दिया और महाराष्ट्र, पंजाब, बंगाल तथा अन्य क्षेत्रों में जागृति की अपूर्व लहर उत्पन्न कर दी।

(10) लॉर्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन भारत में उग्रवाद के उदय के लिए यदि कोई एक कारण सबसे अधिक प्रमुख रूप से उत्तरदायी कहा जा सकता है तो वह है लॉर्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन। इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में “1898 से 1905 तक भारत के गवर्नर जनरल के रूप में नौकरशाही के साक्षात् प्रतिरूप लॉर्ड कर्जन ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वही कार्य किया, जो मुगल साम्राज्य के लिए औरंगजेब ने किया था।” लॉर्ड कर्जन ने 1891 में ‘कलकत्ता कॉरपोरेशन अधिनियम’ पास कर कॉरपोरेशन में भारतीयों की संख्या घटाकर आधी कर दी। इसी प्रकार 1904 में ‘भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम’ (एडकपंद न्दपअमतेपजपमे [बज]) पास कर विश्वविद्यालय की सीनेट और सिण्डिकेट में भारतीयों का प्रतिनिधित्व कम कर दिया गया। लॉर्ड कर्जन विजयों और शान्ति के प्रति विश्वास करते थे, इसलिए उन्होंने निर्धन जनता पर ज्यादा से ज्यादा कर लगाये और इस धनराशि को सेना पर व्यय किया गया तथा सप्तम एडवर्ड को भारत का सम्राट घोषित करने के लिए जनवरी 1903 में दिल्ली में विराट दरबार लगाया गया। 1904 के ‘प्रशासकीय गुप्तता अधिनियम’ (विपिबपंसंमबतमजे [बज]) के द्वारा उन्होंने समाचार पत्रों की स्वतंत्रता को और सीमित कर दिया। इसके अलावा लॉर्ड कर्जन का भारत और भारतीयों के प्रति व्यवहार बहुत अधिक अपमानजनक था। एक अवसर पर भारतीयों की योग्यता में अविश्वास व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि “भारतीय लोग शासन का उत्तरदायित्व सम्भालने के सर्वथा अयोग्य हैं।” 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति पद से दिए गए दीक्षान्त भाषण में उन्होंने कहा कि ‘भारतवासियों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है और वास्तव में भारतवर्ष में सत्य को कभी आदर्श माना ही नहीं गया है।’ उन्होंने कहा कि ‘भारत राष्ट्र नाम की कोई वस्तु नहीं है।’ लॉर्ड कर्जन द्वारा व्यक्त किए गए इन अपमानजनक शब्दों का विरोध करने के लिए ऐनी बेसेन्ट के शब्दों में, “सारा भारत राष्ट्र एक व्यक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ।”

लॉर्ड कर्जन का सबसे महत्वपूर्ण बंगाल विभाजन, 1905 (चंजपजपवद वठिमदहंस) कार्य 16 अक्टूबर 1905 को किया गया बंगाल का विभाजन था। यद्यपि इस विभाजन के पक्ष में सरकार का तर्क था कि बंगाल जैसे प्रान्त पर एक ही केन्द्र से शासन नहीं किया जा सकता और सुशासन के हित में उसका विभाजन आवश्यक है लेकिन वास्तव में, जैसा कि जकारिया लिखते हैं, “उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से बंगाल के विभाजन का कार्य नितान्त धूर्ततापूर्ण था।” वास्तव में बंगाल का यह विभाजन फूट डालो और राज करो की नीति के अनुरूप किया गया था। बंगाल के विभाजन का विरोध करने के लिए बंगाल में तीव्र आन्दोलन शुरू हो गया जो शीघ्र ही लगभग सम्पूर्ण भारत में फैल गया। यद्यपि बंगाल के विभाजन में कर्जन का उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को कुचल देना था, लेकिन व्यवहार में इस कार्य के परिणामस्वरूप न केवल बंगाल वरन् सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीयता की अभूतपूर्व भावना को जन्म मिला।

उपर्युक्त सभी कारणों के परिणामस्वरूप भारत में उग्र राष्ट्रवाद और कांग्रेस में उग्र राष्ट्रवादी पक्ष का उदय नितान्त स्वाभाविक ही था।



भारतीय शासन राजनीति

कांग्रेस में फूट का आरम्भ : उदारवादी और उग्रवादी

1905 का बनारस अधिवेशन— भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय से कांग्रेस संगठन का प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था । 1905 के बनारस अधिवेशन में बाल गंगाधर तिलक ने व उग्र राष्ट्रवादियों के एक वर्ग ने उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षावृत्ति (चवसपजपबंस डमदकपबंदबल) की नीति की तीव्र निन्दा की और इस बात का प्रतिपादन किया कि संगठित निष्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाकर ही भारत के राष्ट्रीय जीवन पर विदेशी नौकरशाही के प्रभुत्व का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश माल और सरकारी शिक्षण संस्थाओं का भी संगठित और निरन्तर बहिष्कार किया जाना चाहिए, लेकिन उदारवादी निष्क्रिय प्रतिरोध को न्यूनाधिक रूप में अव्यावहारिक मानते थे और उनका विचार था कि इससे राष्ट्रीय प्रगति अवरुद्ध ही होगी। उदारवादियों को अब भी ब्रिटिश राष्ट्र की न्याय भावना और संवैधानिक साधनों की प्रभावशीलता में विश्वास था । कांग्रेस के दोनों वर्गों में स्वराज्य की व्याख्या में भी भेद था ।

उदारवादियों तथा उग्रवादियों के उपर्युक्त मतभेद के कारण 1907 के सूरत अधि वेधन में कांग्रेस विधिवत रूप से दो वर्गों में बंट गयी— उदारवादी कांग्रेस तथा उग्रवादी कांग्रेस

उग्र राष्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा और साधन

कांग्रेस के उग्र राष्ट्रवादी पक्ष की राजनीति

उग्र राष्ट्रवाद उदारवाद के विरुद्ध भी उतना ही बड़ा विद्रोह था जितना कि स्वयं साम्राज्यवाद के विरुद्ध । उग्र राष्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा उदारवादियों से नितान्त भिन्न और बहुत कुछ अंशों में विपरीत थी । उदारवादी समझते थे कि ब्रिटेन और भारत के अन्तिम हित समान हैं और ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं भारत के हित में है, लेकिन उग्रवादियों के अनुसार ब्रिटेन और भारत के हित नितान्त विरोधी हैं, ब्रिटिश साम्राज्य के साथ चाहे कितना ही सहयोग क्यों न किया जाय, उसके द्वारा भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं स्वप्रगति की जाँच करें : कर सकता । विपिनचन्द्र पाल का मत था कि ब्रिटेन के आर्थिक हितों की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक था कि भारत पर उसका राजनीतिक नियन्त्रण बना रहे, अतः युद्ध के बिना भारत को स्वतंत्रता प्राप्त होना नितान्त असम्भव है। उग्र राष्ट्रवादियों को उदारवादियों की तरह ब्रिटिश राष्ट्र की न्यायप्रियता में कतई विश्वास नहीं था। दादाभाई नौरोजी और दूसरे उदारवादियों का विचार था कि ब्रिटिश राष्ट्र जैसे ही यह महसूस करेगा कि हमारी बात उचित है— उसके द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जायेगा, लेकिन इसके विपरीत लाला लाजपतराय और अन्य उग्रवादियों का विचार था कि, 'व्यापारियों का यह राष्ट्र (ब्रिटेन) केवल दबाव की भाषा ही समझता है ।'

इसके अतिरिक्त, उदारवादियों और उग्रवादियों में राजनीतिक लक्ष्य का अन्तर भी था । उदारवादियों का विचार था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया जा सकता है एवं क्रमिक सुधार ही उपयुक्त और भारत के हित में है। इसी कारण उनके द्वारा विधायी परिशदों के सुधार और उनकी शक्ति में वृद्धि, भारतीयों के लिए उच्च सरकारी पद और स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की स्थापना आदि मांगों की जाती थीं लेकिन उग्रवादियों का विचार था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया ही नहीं जा सकता, उसका तो अन्त किया जाना चाहिए। सर हैनरी कॉटन के अनुसार, "उग्रवादी भारत में सब प्रकार से मुक्त और स्वतंत्र राष्ट्रीय प्रणाली की स्थापना करना चाहते थे ।" उनका उदारवादियों के औपनिवेशिक स्वराज्य में विश्वास नहीं था, वे पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थे ।

उग्रवादियों के साधन

राजनीतिक विचारधारा और लक्ष्य की दृष्टि से तो उग्रवादी उदारवादियों से भिन्न थे ही, इन दोनों में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अन्तर साधन

3. क्या आप इस कथन से सहमत हैं? किसी भी पराधीन देश द्वारा अपने राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति उसी समय की जा सकती है जब राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला वर्ग त्याग करने का इच्छुक हो ?

4. क्रिप्स मिशन और क्रिप्स योजना स्पष्ट करें।

‘सम्बन्धी था। नेविन्सन ने तिलक को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि “अपने उद्देश्य के कारण नहीं, वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।” उदारवादी ब्रिटिश जनता की लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों में विष्वास करते थे और उनका विचार था कि विपुल संवैधानिक साधनों के आधार पर भारत को स्वतंत्र किया जा सकता है। लेकिन उग्रवादी इन बातों को आत्म प्रवचना मात्र समझते थे। उग्रवादियों का तर्क था कि इंग्लैण्ड जैसे स्वतंत्र और लोकतन्त्रात्मक देश में तो वैधानिकता के आधार पर राजनीतिक परिवर्तन किए जा सकते हैं लेकिन भारत जैसे पराधीन राष्ट्र में संवैधानिक आन्दोलन के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्त करने का स्वप्न देखना स्वयं को ही धोखा देना है। उग्र राष्ट्रवादी उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित प्रार्थना-पत्रों, स्मृतिपत्रों और प्रतिनिधि – मण्डलों की नीति में लेशमात्र भी विष्वास नहीं करते थे और इस पद्धति के प्रति घृणा प्रकट करते हुए इसे इसे ‘राजनीतिक शिक्षावर्षा’ के नाम से पुकारते थे। 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में लाला लाजपतराय ने कहा था “एक अंग्रेज सबसे अधिक घृणा भिखारी से करता है। मेरा विचार है कि भिखारी है भी इस योग्य कि उससे घृणा की जाए। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अंग्रेजों को दिखा दें कि हम भिखारी नहीं हैं।” विपिनचन्द्र पाल का विचार था कि “स्वराज्य स्वावलम्बन के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है।” वे कहा करते थे कि “हमें अपनी राष्ट्रीय शक्तियों को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि कोई भी शक्ति जो हमारे विरुद्ध हो, हमारे सम्मुख झुकने को बाध्य हो जाए।” पुनः उनका कथन है कि, “यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए कहूँगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता जिसको प्राप्त करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।” लोकमान्य तिलक उग्रवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते थे, “हमारा आदर्श दया-याचना नहीं, आत्म-निर्भरता है।” उग्रवादी शासकों प्रति शक्ति और सहयोग की नीति अपनाने के स्थान पर ‘निष्क्रिय प्रतिरोध’ (चैपमन तमपजंदबम) के कार्यक्रम को अपनाने के पक्ष में थे। इस निष्क्रिय प्रतिरोध के सम्बन्ध में विपिनचन्द्र पाल ने कहा कि “सरकार के कार्य को कई प्रकार से ठप्प किया जा सकता है। ऐसा सम्भव नहीं है कि प्रत्येक मजिस्ट्रेट कार्य करने से इन्कार कर दे तथा एक व्यक्ति के त्यागपत्र देने पर उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति न मिले परन्तु सारे देश में यह भावना जाग्रत हो जाय तो समस्त सरकारी कार्यालयों में हड़ताल की जा सकती है। हम उस भारतीय की स्थिति जो सरकारी कर्मचारी है, ऐसी कर सकते हैं कि जैसे वह भारतीय नागरिक के सम्मान से नीचे गिर गया हो।”

बहिष्कार स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा— जिस प्रकार उग्रवादियों के अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साधन प्रार्थनाएं, स्मृति-पत्र और प्रतिनिधि मण्डल थे, उसी प्रकार उग्र राष्ट्रवादियों के साधन बहिष्कार, स्वदेशी और शिक्षा थे, जिनमें बहिष्कार को सबसे अधिक प्रमुख कहा जा सकता है। उग्रवादियों के बहिष्कार आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्ति तो विदेशी, वस्तुओं के ही विरुद्ध थी, परन्तु इनकी व्याख्या में, इसमें सरकार के साथ असहयोग, सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठानों तथा उपाधियों का बहिष्कार भी शामिल था। उग्रवादियों की मान्यता थी कि बहिष्कार विदेशी शासन की प्रतिष्ठा और हितों के ऊपर एक सीधा आघात होगा। लाला लाजपतराय कहा करते थे कि “दुकानदारों की जाति ब्रिटिश राष्ट्र को नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।” एक दूसरे स्थान पर वे बहिष्कार आन्दोलन में निहित विचारधारा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, हम अपने मुख सरकारी भवनों से हटाकर, साधारणजनों की कुटियों की तरफ ले जाना चाहते हैं। बहिष्कार आन्दोलन का यही मनोवैज्ञानिक, यही नैतिक और यही आध्यात्मिक महत्व है।

भारतीय शासन राजनीति

इकाई 3
आंदोलन के कारण

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ता के ऐंग्लो-इण्डियन समाचार-पत्र 'दि इंग्लिशमैन' ने लिखा था कि "यह बिल्कुल सत्य है कि कलकत्ता के गोदामों में कपड़ा इतना भरा हुआ है कि यह बेचा नहीं जा सकता। अनेक मारवाड़ी फर्मे नष्ट हो गयी हैं और कई बड़ी से बड़ी यूरोपीय निर्यात की दुकानों को या तो बन्द करना पड़ा है या उनका व्यापार बहुत ही मन्दगति पर आ गया है। बहिष्कार के रूप में राज के षत्रुओं ने देश में ब्रिटिश हितों पर कुठाराघात करने का अत्यन्त प्रभावशाली षस्त्र पा लिया है।" भारत के कुछ क्षेत्रों में तो बहिष्कार आन्दोलन कितना अधिक प्रबल और लोकप्रिय था इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि परीक्षार्थियों ने विदेशी कागज की कापियाँ छूने से इन्कार कर दिया, बच्चों ने विदेशी जूते पहनने या ज्वर में विदेशी दवा लेने से इन्कार कर दिया और विवाह में मिली ऐसी विदेशी भेंटें भी अस्वीकार की जाने लगीं जो भारत में भी बन सकती थीं।"

इस बहिष्कार आन्दोलन ने भारतीय उद्योगों विशेषतः वस्त्र उद्योग को अपूर्व बल प्रदान किया और कपड़ा बुनकर उद्योग की सहायता देने के लिए एक राष्ट्रीय कोश जमा किया गया, जिसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को एक ही सार्वजनिक सभा में 70 हजार रुपये एकत्रित करने में सफलता मिली।

उग्र राष्ट्रवादी आन्दोलन का मूल्यांकन

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उग्रवाद के जन्म और विकास ने भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत स्वस्थ प्रभाव डाला। उदारवादी यद्यपि अपने देश के प्रति प्रेम रखते थे, लेकिन उनके साधन प्रभावशाली नहीं थे। उग्रवादियों ने इस सत्य को समझा कि केवल प्रार्थनाओं से स्वतंत्रता तो दूर नहीं, अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक सुधार भी प्राप्त नहीं किए जा सकते। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रभावशाली, रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। उनके द्वारा अपनाये गये बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन ने जनता में नयी चेतना फूंक दी। यह आन्दोलन केवल एक उग्रवादी आन्दोलन ही नहीं रह गया, वरन् एक जनवादी आन्दोलन बन गया। 19वीं सदी तक राष्ट्रीयता उच्च शिक्षा प्राप्त सम्पन्न वर्ग की ही सम्पत्ति थी। उग्रवादियों द्वारा अपनाये गये साधनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्षेत्र में सहायता प्रदान की। यहां यह कहना असंगत न होगा कि उग्रवादियों द्वारा चलाया गया बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन बाद में महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए आन्दोलन का बीजरूप था। उग्रवादियों का लक्ष्य न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता वरन् भारतीय नवयुवकों के लिए सांस्कृतिक स्वतंत्रता भी प्राप्त करना था। उन्होंने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की योजना बनायी जो राष्ट्र द्वारा नियंत्रित होने के साथ ही देश के हितों के अनुकूल हो तथा नवयुवकों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार करे। उग्रवादियों का यह कार्य अत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण था। उग्रवादी आन्दोलन के प्रभाव का प्रमाण यह है कि ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर उग्रवादियों के हाथ में आ जाने से रोकने के लिए ही 1909

में मार्ले मिण्टो सुधार पारित किए। उग्रवादी आन्दोलन के अभाव में इन सुधारों के पारित होने में कुछ अधिक समय लग सकता था।

किसी भी पराधीन देश द्वारा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति उसी समय की जा सकती है जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला वर्ग स्वयं त्याग करने का इच्छुक हो

। अधिकांश उदारवादी नेताओं में इस प्रकार की त्याग भावना का अभाव था, लेकिन उग्रवादी नेता प्रत्येक त्याग और कष्ट के लिए तत्पर थे। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल वास्तविक अर्थों में लोकनायक थे। 1908 में तिलक को गिरफ्तार करने और उनके साथ किए गए अन्याय ने जनता को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि कई जगह दंगे हो गये। बम्बई की मिलों के मजदूरों ने सरकार के इस कार्य के विरोध में एक व्यापक हड़ताल की। लेनिन ने इस हड़ताल को भारत के श्रमिक वर्ग की पहली राजनीतिक कार्यवाही बताया था। इस प्रकार उग्रवादियों ने अब तक के वैधानिक आन्दोलन को वास्तविक राष्ट्रीय आन्दोलन और जन आन्दोलन की दिशा प्रदान की। उदारवाद तथा उग्रवाद में अन्तर

(उदारवादी तथा उग्रवादी पक्ष की राजनीति में अन्तर)

उदारवाद तथा उग्रवाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की दो धाराएँ रही हैं। इन दोनों धाराओं का मूल उद्देश्य भारतीय जनता का हित साधन था, लेकिन यह हित साधन किस रूप में किया जा सकता है और इसके हेतु किन साधनों को अपनाया जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध में इन दोनों विचारधाराओं में अन्तर रहा है। मूल उद्देश्यों की अपेक्षा साधनों के सम्बन्ध में यह अन्तर अधिक प्रमुख रूप में देखा जा सकता है। इन दोनों विचारधाराओं के अन्तर का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं में देखा जा सकता है :

(1) राष्ट्रवाद की इन दोनों धाराओं का उद्देश्य एक ही था – स्वशासन (मस- हवामतदउमदज) की प्राप्ति, लेकिन स्वशासन से इन दोनों के द्वारा अलग-अलग आशय लिया गया था। स्वशासन से उदारवादियों का तात्पर्य था कि क्रमिक राजनीतिक सुधारों के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए ब्रिटिश शासन की छत्रछाया में प्रतिनिध्यात्मक संसदीय संस्थाओं की स्थापना की जाय। इसके विपरीत, उग्रवादी किसी भी रूप में ब्रिटिश शासन को बनाये रखने के विरुद्ध थे। उनकी स्वराज्य की धारणा में ब्रिटिश सम्राट के प्रति भक्ति के लिए कोई स्थान न था। वे भारतीयता पर आधारित स्वराज्य तथ ब्रिटेन से घीघ्रातिघीघ्र सम्बन्ध विच्छेद के पक्ष में थे।

(2) उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था और वे ऐसा सोचते थे कि यदि अंग्रेजों को भारतीय दृष्टिकोण समझा दिया जाए, तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे, लेकिन उग्रवादियों को अंग्रेजों की नेकनीयती तथा उदारता में जरा भी विश्वास नहीं था। श्रीमती एनी बेसेण्ट के अनुसार, “उग्रवादियों को सरकार के अच्छे इरादों में तनिक भी विश्वास नहीं था जबकि उदारवादियों की आशा का आधार शासन की निष्कलता (पदबमतपजल) थी।”

□

(3) उद्देश्य की अपेक्षा साधन के सम्बन्ध में इन दोनों का अन्तर अधिक महत्वपूर्ण था। तिलक कहा करते थे कि “अपने उद्देश्य के कारण नहीं वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।” उदारवादी केवल संवैधानिक साधनों का प्रयोग ही उचित समझते थे और उनके द्वारा अपनी मांगें मनवाने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजने, स्मृति – पत्र भेजने, भाषण देने, लेख लिखने और शिष्ट मण्डल भेजने के तरीकों का ही प्रयोग किया जाता था। उग्रवादियों का इन तरीकों की प्रभावशीलता में विश्वास नहीं था और वे इन्हें अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध भी मानते थे इसलिए उनके द्वारा इस उदारवादी पद्धति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति (च्यसपजपबंस डमदकपबंदबल) के नाम से पुकारा गया। वे इस राजनीतिक भिक्षावृत्ति की अपेक्षा आत्मनिर्भरता तथा जनसाधारण के बीच

कार्य में विश्वास करते थे। इस उद्देश्य से उनके द्वारा स्वदेशी माल के प्रचार, विदेशी माल – के बहिष्कार, स्वदेशी संस्थाओं के निर्माण और राजनीतिक प्रशिक्षण हेतु विविध साधनों के विकास पर जोर दिया गया।



भारतीय शासन राजनीति

(4) उदारवादियों के विचार में ब्रिटेन तथा भारत के हित में मूलभूत विरोध नहीं था। वे ऐसा सोचते थे कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत का हित साधन सम्भव है ! इसके नितान्त विपरीत उग्रवादियों की धारणा यह थी कि ब्रिटेन तथा भारत के हित एक-दूसरे के नितान्त विपरीत हैं, अतः ब्रिटिश शासन भारत के विकास में कभी भी सहायक हो ही नहीं सकता।

(5) उदारवादी पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित थे, जबकि उग्रवादी प्राचीन हिन्दू धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति तथा उनके आधार पर विकसित हिन्दू – राष्ट्रीयता के पोशक थे। उदारवाद की प्रेरणा स्रोत पश्चिम था तो उग्रवाद की प्रेरणा पूर्वी स्रोत था।

(6) राष्ट्रीयता की इन दोनों धाराओं में यह भी अन्तर बताया जा सकता है कि उदारवादी 'आरामकुर्सी' की राजनीति में विश्वास करते थे और गोखले जैसे कुछ नेताओं को छोड़कर सामान्यतः वे देशहित के लिए त्याग और कष्ट सहन करने को तत्पर नहीं थे। लेकिन उग्रवादी देश के लिए त्याग करने और कष्ट सहन करने को आवश्यक मानते थे और स्वयं इसके लिए तत्पर थे।

उदारवादी और उग्रवादी राष्ट्रीय आन्दोलन में अन्तर बताते हुए लाला लाजपत राय ने लिखा है कि "उदारवादी ब्रिटिश शासन से अपील करते थे, जबकि उग्रवादी नेता अपने

देववासियों और अपने ईश्वर से अपील करते थे।"

उदारवादियों तथा उग्रवादियों में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी दोनों सच्चे देशभक्त थे और इस दृष्टि से वे एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि सच्चे अर्थों में एक दूसरे के पूरक थे। रामनाथ सुमन ने इस सम्बन्ध में 'हमारे राष्ट्रनिर्माता' में लिखा है, 'जब हम नरम व गरम— दोनों दलों की प्रवृत्तियों का विप्लेशन और अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि हमारी राष्ट्रीयता के विकास में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण हैं। वस्तुतः वे दोनों एक ही आन्दोलन के पक्ष हैं। एक ही दीपक के दो परिणाम हैं। पहला प्रकाश का द्योतक है तो दूसरा गर्मी का। पहला बुद्धि पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। पहला जहाँ कुछ सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता है, वहाँ दूसरे का उद्देश्य राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन करना है।" गांधीवादी युग

1909—1919 के काल में भारतीय राजनीति में तीन प्रमुख घटनाएँ घटित हुईं, प्रथम, होमरूल या गृह शासन आन्दोलन, द्वितीय, 1916 का कांग्रेस-लीग समझौता, और तृतीय, 20 अगस्त, 1917 की मॉण्टेग्यू घोषणा। लेकिन इन घटनाओं से अधिक महत्वपूर्ण घटना थी, महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश।

महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

महात्मा गांधी ने अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ 1893 में दक्षिण अफ्रीका सरकार की रंगभेद की नीति का सफल विरोध करते हुए किया था। दक्षिण अफ्रीका में सफल सत्याग्रही की ख्याति प्राप्त कर चुकने के बाद जनवरी, 1915 में महात्मा जी भारत आये। भारतीय जनता गांधी जी से प्रभावित थी ही, गोखले के देहावसान, तिलक की रुग्णता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी व विपिनचन्द्र पाल आदि नेताओं के उत्साह में कमी हो जाने के कारण भारतीय राजनीति का नेतृत्व स्वतः ही महात्मा जी के हाथ में आ गया। अखिल भारतीय

राजनीति में प्रवेश से पूर्व महात्मा जी ने चम्पारन, खेड़ा और अहमदाबाद में सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया।

महात्मा गांधी सहयोगी से असहयोगी महात्मा गांधी के द्वारा भारतीय राजनीति में ब्रिटिश शासन के सहयोगी के रूप में प्रवेश किया गया। महात्मा जी ने भारतीय जनता से ब्रिटिश सरकार के युद्ध प्रयत्नों में जन और धन की पूरी-पूरी सहायता देने की अपील की। शासन के द्वारा भी उन्हें कोस-ए-हिन्दू भी उपाधि प्रदान की गयी, किन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं

जिनके कारण महात्मा जी सहयोगी से असहयोगी हो गये और उनके द्वारा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया ।

असहयोग आन्दोलन

असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि

जनता में घोर निराशा और असन्तोष— युद्धकाल में भारत राष्ट्र ने ब्रिटेन को जन और धन से भरपूर सहायता दी थी और युद्ध से भारतीय राष्ट्रवाद को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। अब भारतीय जनता स्वतंत्रता और लोकतन्त्र के स्वप्न सँजोने लगी थी लेकिन कुछ

घटनाओं ने जनता की आशा को निराशा और घोर असन्तोष में बदल दिया ।

शासन के द्वारा युद्ध व्यय के रूप में जोर जबरदस्ती से और भारी मात्रा में धन की वसूली और आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में असाधारण वृद्धि के कारण जनता का प्रत्येक वर्ग आर्थिक कष्ट से गुजर रहा था और इस स्थिति के लिए ब्रिटिश सरकार को उत्तरदायी समझा रहा था। प्लेग, इन्फ्लुएन्जा और अकाल की स्थिति में शासन की उदासीनता से घोर असन्तोष था । दुःखदायी बात यह थी कि युद्ध के प्रारम्भिक चरण में जितनी तेजी और जोर जबरदस्ती से सेना में भर्ती की गयी, अन्तिम चरण में उतनी ही तेजी से छँटनी प्रारम्भ कर दी गयी। इससे हजारों लोग बेरोजगार हो गये और जनता ने अनुभव किया कि यह सरकार घोर स्वार्थी है।

रौलट ऐक्ट ब्रिटिश सरकार युद्धकाल के बाद भी, आतंकवादी तत्वों पर नियन्त्रण के नाम पर दमनात्मक षक्तियाँ अपने हाथ में बनाये रखना चाहती थी। अतः भारत के सभी वर्गों के विरोध के बावजूद रौलट कमेटी की रिपोर्ट को कानूनी रूप देते हुए 'रौलट ऐक्ट' बनाया गया, जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर उसे मनमाने समय तक नजरबन्द रखा जा सकता था। 18 मार्च, 1919 को रौलट ऐक्ट पारित हुआ जिसने मोतीलाल नेहरू के शब्दों में "अपील, वकील और दलील की व्यवस्था का अन्त कर दिया।" जलियाँवाला हत्याकाण्ड महात्माजी ने रौलट ऐक्ट के विरुद्ध 'सत्याग्रह' प्रारम्भ करने का निश्चय किया। सत्याग्रह का प्रारम्भ सार्वजनिक हड़ताल के माध्यम से करते हुए 30 मार्च, 1919 को सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने का निश्चय किया गया, किन्तु बाद में तिथि बदलकर 6 अप्रैल कर दी गयी। 6 अप्रैल को सारे देश में शहरों और गांवों में पूर्ण और अधिकांशतया शान्तिपूर्ण हड़ताल हुई। सरकार ने कुछ स्थानों की हिंसात्मक घटनाओं को आधार बनाकर दमनचक्र प्रारम्भ करते हुए 7 अप्रैल को महात्माजी को गिरफ्तार कर लिया। पंजाब में ब्रिटिश सरकार का विरोध करने के लिए विशेष उत्साह था और पंजाब के गवर्नर माइकल ओ डायर जनता पर शक्ति प्रयोग करने के लिए बेचौन हो रहे थे। 10 अप्रैल को प्रातः अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर ने किसी कारण से पंजाब के दो प्रसिद्ध नेताओं सत्यपाल और डॉ. किचलू को धर्मशाला में नजरबंद कर अमृतसर से निष्कासन के आदेश दे दिए। जनता ने इसका विरोध किया और स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। रौलट ऐक्ट और सरकार के इन कार्यों का विरोध करने के लिए 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा हुई। इस सभा में सैनिक शासन के प्रमुख जनरल डायर के द्वारा अनावश्यक और अन्धा-धुन्ध गोली बर्शा करायी गयी, जिसके परिणामस्वरूप कम से कम 800 व्यक्ति मरे और 2000 घायल हुए। इस हत्याकाण्ड का उद्देश्य सारे पंजाब को

आतंकित करना था। इसके बाद भी सैनिक शासन घोषित कर अमानवीय व्यवहार और दमन जारी रखा गया। मनमानी गिरफ्तारियाँ, कोड़ों की मार और मई की तपती दोपहरी में विद्यार्थियों को 16-16 मील तक मार्च कराना दमनकारी शासन के अंग थे।



भारतीय शासन राजनीति

प्रभाव इस दुर्घटना का राष्ट्र के मन और मस्तिष्क पर व्यापक प्रभाव पड़ा। कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपना 'सर' का खिताब छोड़ दिया और वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य पंकरन नायर ने मार्शल लॉ जारी रखने के विरोध में कार्यकारिणी से त्याग पत्र दे दिया। हत्याकाण्ड के प्रभाव के सम्बन्ध में थोम्पसन और गैरट लिखते हैं, "अमृतसर दुर्घटना भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों में युगान्तरकारी घटना थी, लगभग वैसी ही महत्वपूर्ण जैसा कि 1857 का विद्रोह।"

हण्टर कमेटी की रिपोर्ट- हत्याकाण्ड की जाँच करने के लिए 'हण्टर कमेटी' की नियुक्ति की गयी, लेकिन इस कमेटी ने हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी जनरल डायर को दण्ड देने की सिफारिश करने के स्थान पर उनके कार्य को "कर्तव्य से सत्यनिष्ठ, लेकिन गलत धारणा पर आधारित" बताते हुए उसका परोक्ष समर्थन किया। ब्रिटिश लॉर्ड सभा और आंग्ल भारतीय प्रेस ने जनरल डायर को "ब्रिटिश साम्राज्य का रक्षक" कहा। यह सब कुछ भारतीयों के जले पर नमक छिड़कना था और इससे उदार भारतीयों को असहनीय ठेस पहुँची।

खिलाफत आन्दोलन - महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार ने भारत के मुसलमानों को टर्की के सुल्तान की स्थिति बनाये रखने के सम्बन्ध में कुछ आश्वासन दिए थे, लेकिन युद्ध के बाद ब्रिटेन ने टर्की के साथ जो 'सेवर्स की सन्धि' की, उसके द्वारा इन आश्वासनों को भंग कर दिया गया। इस सन्धि के द्वारा टर्की के सुल्तान के अधिकार छीन लिये गये। इससे टर्की के सुल्तान को अपना 'खलीफा' (धर्मगुरु मानने वाले भारतीय मुसलमान ब्रिटिश शासन के बहुत अधिक विरुद्ध हो गये और उन्होंने 'खिलाफत आन्दोलन' (खलीफा की सत्ता की पुनर्स्थापना का आन्दोलन) शुरू कर दिया। महात्मा गांधी ने खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया और हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन निष्पन्न किया।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन - सितम्बर, 1920 में कलकत्ते में कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ, उसमें महात्माजी ने असहयोग आन्दोलन सम्बन्धी प्रस्ताव रखा और समापति लाला लाजपतराय सहित अनेक वरिष्ठ नेताओं के विरोध के बावजूद गांधी जी का प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकृत हो गया। दिसम्बर, 1920 के नागपुर अधिवेशन में गांधीजी का प्रस्ताव पुनः भारी बहुमत से स्वीकृत हुआ। अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास कर गांधीजी को षान्तिमय और अहिंसक आन्दोलन करने के समस्त अधिकार दे दिए गए। असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम और प्रगति

सन् 1919 का वर्ष भारतीय जनता के लिए असहयोग का सन्देश लेकर आया। असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश भारत की जो भी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ हैं, उन सबका बहिष्कार कर दिया जाए और इस प्रकार सरकार की मशीनरी को बिल्कुल ठप्प कर दिया जाए।

प्रस्ताव के अनुसार इसका कार्यक्रम निम्नलिखित था :

1. सरकारी वैतनिक तथा अवैतनिक पद एवं उपाधियों का त्याग। 2. सरकारी और अर्द्ध सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार। 3. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले चुनावों का बहिष्कार।

भारतीय शासन एवं राजनीति

4. सरकारी अदालतों का बहिष्कार।

5. विदेशी माल का बहिष्कार।

6. सरकारी और अर्द्ध सरकारी उत्सवों और समारोहों में उपस्थित न होना।

भारतीयों द्वारा मैसोपोटामिया में सैनिक क्लर्क या मजदूर के रूप में कार्य करने – से इन्कार करना ।

उपर्युक्त निशेधात्मक कार्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रम का सकारात्मक पक्ष भी था, जिसमें निम्न बातें मुख्य थीं :

(1) राष्ट्रीय स्कूल और कालेजों की स्थापना, (2) पारस्परिक विवाद तय करने के लिए निजी पंचायतों का उपयोग, (3) बड़े पैमाने पर स्वदेशी का प्रचार, (4) हथकरघा और बुनाई उद्योग का जीर्णोद्धार, (5) अस्पृश्यता का अन्त ।

“ आन्दोलन का सूत्रपात गांधीजी ने अपने केसर ए हिन्द के पदक को वापस देकर किया । सेठ जमनालाल बजाज ने अपनी राय बहादुर की उपाधि तथा ‘आनरेरी मजिस्ट्रेटी छोड़ दी । स्थान स्थान पर हजारों विद्यार्थियों द्वारा सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार किया गया । इन विद्यार्थियों के अध्ययन हेतु आन्दोलन के नेताओं द्वारा राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई जिनमें बिहार विद्यापीठ पटना, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ पूना, मुस्लिम विद्यापीठ अलीगढ़ तथा काशी विद्यापीठ, काशी की स्थापना की गई । इन राष्ट्रीय विद्यालयों के स्नातकों ने देश सेवा के कार्य में प्रशंसनीय योगदान दिया । अदालतों के बहिष्कार सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत देश के अनेक प्रमुख वकीलों ने वकालत छोड़ दी ।

विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में लोगों ने अपूर्व उत्साह दिखाया । स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली के अपूर्व दृश्य देखे गए । षराब और विदेशी वस्त्र की दुकानों पर पिकेटिंग की गयी । स्वदेशी को लोकप्रियता प्राप्त हुई और हाथ करघा व हाथ-बुनाई को प्रोत्साहन मिला । कांग्रेस महासमिति ने अपनी मार्च 1921 की वेजवाड़ा बैठक में एक करोड़ रुपया एकत्रित करना निश्चित किया और इस कोष में तेजी से राशि एकत्रित होने लगी । कांग्रेस महासमिति ने 30 लाख स्वयंसेवकों की सूची और 20 हजार चर्खे तैयार किए । आन्दोलन की विशेष बात हिन्दू-मुस्लिम एकता थी ।

शासन द्वारा दमन और प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार – प्रारम्भ में आन्दोलन के प्रभाव को दूर करने के लिए सरकार ने ‘अमन सभाएं स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु शासन की यह चेष्टा नितान्त असफल सिद्ध हुई । सरकार की समझ में नहीं आता था कि इस अद्भुत स्थिति का कैसे सामना किया जाए । आन्दोलन को आषा से अधिक बढ़ता देखकर सरकार ने क्रूर दमन का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया । सरकार ने राजद्रोह सभा अधिनियम का खुलकर प्रयोग किया तथा आन्दोलन के नेताओं को पकड़ना पुरु कर दिया । देशबन्धु चित्तरंजनदास को मैमनसिंह में एक सभा में भाषण देने से रोक दिया गया । इसी प्रकार डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा मौलाना मजरूल हक को आगरा जाने, याकूब हुसैन को कलकत्ता जाने और लाला लाजपतराय को पेशावर जाने से रोक दिया गया । कुछ स्थानों पर तो बिना आवश्यकता के ही अत्यधिक शक्ति का प्रयोग किया गया । इस प्रकार की घटनाओं में ‘ननकाना काण्ड’ सबसे प्रमुख है । 4 मार्च, 1921 को गुरुद्वारे में कुछ सिख एकत्रित हुए । यह बिल्कुल शान्तिमय समुदाय था, लेकिन यकायक उन पर धाबा बोल दिया गया और गोलियाँ चलायी गयीं, जिसमें सरकार के कथनानुसार 70 मौते हुई । जनता का उत्साह बढ़ता जा रहा था और इस बढ़ते हुए उत्साह के कारण जुलाई, 1921 में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार आन्दोलन में तीव्रता आ गयी । शासन ने भी अपने वचनों को भुलाकर सितम्बर,

अली बन्धुओं को गिरफ्तार कर लिया । कांग्रेस महासमिति ने अपनी बैठक में अली बन्धुओं की गिरफ्तारी का विरोध किया और गिरफ्तारी के विरोध में प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन के दिन सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने का निश्चय किया ।

शासन द्वारा पूरी शक्ति के साथ दमन-चक्र जारी रखा गया और अब तो मारपीट, लाठी और गोली बर्शा रोजमर्रा की घटनाएं हो गयीं । सितम्बर, 1921 तक चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, मौलाना आजाद और गांधी जी के अतिरिक्त सभी मुख्य नेताओं



भारतीय शासन राजनीति

को गिरफ्तार कर लिया गया। इस समय कुल गिरफ्तार व्यक्तियों की संख्या लगभग 60 हजार थी, लेकिन जनता का उत्साह कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था।

17 नवम्बर, 1921 को जब प्रिंस ऑफ वेल्स बम्बई उतरे, तो कांग्रेस के निष्चय के अनुसार बम्बई में उनका स्वागत हड़ताल से किया गया। कलकत्ता और अन्य स्थानों पर भी प्रिंस का स्वागत हड़ताल और विरोध प्रदर्शनों से ही किया गया। रजनी पामदत्त ने शब्दों में, “जनता की नफरत का ऐसा व्यापक और सफल प्रदर्शन पहले कभी नहीं हुआ था।” जनता के अपूर्व उत्साह और ब्रिटिश सरकार के दमन को देखते हुए आन्दोलन के अन्तर्गत कोई नवीन कदम उठाना जरूरी हो गया था। अतः 1 फरवरी, 1922 को महात्मा गांधी ने वायसराय को पत्र लिखते हुए चेतावनी दी कि यदि 7 दिन के अन्दर सरकार ने अपनी दमन-नीति में परिवर्तन नहीं किया तो बारडोली और गुण्टूर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जाएगा, जिसमें ‘कर न दो का कार्यक्रम भी शामिल होगा।

‘चौरीचौरा काण्ड और आन्दोलन का अन्त लेकिन 7 दिन का समय समाप्त होने के पूर्व ही एक ऐसी घटना हुई, जिसने सम्पूर्ण स्थिति को बदल दिया। 5 फरवरी 1922 को गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा नामक ग्राम में पुलिस के बल प्रयोग से जनता ने उत्तेजित होकर थाने में आग लगा दी, जिसके फलस्वरूप थानेदार और 21 सिपाही जलकर मर गये। अहिंसावादी गांधी हिंसा के इस क्रूर प्रयोग को सहन नहीं कर सके, उन्होंने चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय और सुभाषचन्द्र बोस आदि सभी नेताओं द्वारा मना किए जाने पर भी 11 फरवरी 1922 को आन्दोलन स्थगित कर दिया। 10 मार्च, 1922 को गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए तथा उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें 6 वर्ष की सजा दे दी गयी।

आन्दोलन के आकस्मिक स्थगन का अन्य नेताओं द्वारा तीव्र विरोध किया जाना नितान्त स्वाभाविक था। मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल से ही लम्बे पत्र लिखकर गांधी जी को किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दण्ड देने के लिए आड़े हाथों लिया। सुभाष बोस ने सामान्य भावना को व्यक्त करते हुए कहा, ‘ठीक उस समय जबकि जनता का उत्साह चरमोत्कर्ष पर था, वापस लौटने का आदेश दे देना राष्ट्रीय दुर्भाग्य से कम न था। बहुत बड़ी संख्या में कांग्रेसियों और जनता के एक भाग द्वारा आन्दोलन के स्थगन को राष्ट्रीय अपमान समझा गया। आन्दोलन के स्थगित होने से हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा।

आन्दोलन की दुर्बलताएँ आन्दोलन की सम्भवतया सबसे बड़ी दुर्बलता। राजनीति में धर्म का प्रवेश था, जिसके दूरगामी परिणाम बहुत घातक हुए। खिलाफत का प्रश्न जो एक धार्मिक प्रश्न था, उसे राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक मसले के साथ मिलाना दुर्भाग्यपूर्ण था। गांधी जी ने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए ऐसा किया था, लेकिन इसने भारतीय राजनीति में धार्मिक कट्टरता को प्रवेश प्रदान किया और इसका दूरगामी प्रभाव ‘हिन्दू-मुस्लिम तनाव’ के रूप में प्रकट हुआ। मंजूमदार ठीक ही लिखते हैं कि “गांधीजी द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए चुना गया आधार बहुत कमजोर था।”

5. वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता किसी एक तत्व का परिणाम नहीं, वरन् अनेक तत्वों का सामूहिक परिणाम थी – इस वक्तव्य को स्पष्ट करें।

आन्दोलन से भारतीयों में जिन उच्च आशाओं ने जन्म लिया था उनमें से किसी एक भी के पूरे हुए बिना आन्दोलन के स्थगन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। बोस लिखते हैं कि एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन न केवल अविश्वेकपूर्ण वरन् बालक सदृश भी था।” जन मनोवृत्ति का ध्यान रखते हुए हिंसा की छुट पुट घटनाओं को गांधीजी के द्वारा स्वाभाविक समझा जाना चाहिए था। इसके अतिरिक्त, ये घटनाएं शासन द्वारा किए गए दमनात्मक कार्यों की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई थीं और इस रूप में इन घटनाओं का उत्तरदायित्व शासन पर डाला जाना चाहिए था।

आन्दोलन को सहसा स्थगित कर देना अबुद्धिमत्तापूर्ण ही था। साधारण अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि यह आन्दोलन कुछ समय तक और चलता रहा तो सरकार के लिए सुधारों की नवीन और सारपूर्ण योजना की घोषणा आवश्यक होती।

आन्दोलन का महत्व – उपर्युक्त दुर्बलताओं के होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि असहयोग आन्दोलन भारतीय स्वतंत्रता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

(1) इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक जन आन्दोलनों का रूप प्रदान कर दिया। इसने जनता में अपूर्व त्याग और साहस की भावना का संचार किया। अब तक, देशभक्ति या राष्ट्रीयता कुछ गिने चुने व्यक्तियों की विरासत समझी जाती थी, महात्मा गांधी और असहयोग आन्दोलन के प्रभाव से यह सर्वसाधारण की सम्पत्ति बन गयी। असहयोग आन्दोलन पहला जन आन्दोलन था और इसने भारतीय जनता को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया। महात्माजी और कांग्रेस की यह एक और आश्चर्यजनक सफलता थी। असहयोग आन्दोलन की महत्ता के सम्बन्ध में कूपलैण्ड लिखते हैं, “उन्होंने (गांधीजी) ने वह काम किया जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक ‘क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी ही नहीं, अपितु जनप्रिय भी बनाया। अभी वह नगरों के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, अब वह ग्रामों की जनता तक पहुँच गया।”

(2) आन्दोलन के द्वारा साधारण जनता को निर्भीकता प्रदान की गयी। पहले, जनता सरकार का विरोध करने में बहुत घबराती थी, जेलों से डरती थी। इस आन्दोलन का

□ परिणाम यह निकला कि जनता निर्भीक हो गयी और सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने से नहीं डरने लगी। अब सार्वजनिक सभाओं में सरकार की आलोचना करना साधारण बात हो गयी और बच्चे बच्चे के मुँह से स्वराज्य शब्द सुनाई देने लगा।

(3) इस आन्दोलन का एक लाभ यह हुआ कि जब तक आन्दोलन चलता रहा, ब्रिटिश सरकार जनता का पूर्ण सहयोग करने के लिए प्रयत्नशील रही। इस हेतु उसने 1919 के सुधारों को उदारतापूर्वक कार्यान्वित किया और उदारवादियों को अपना हर तरह का सहयोग दिया।

(4) कांग्रेस ने जो रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जैसे खादी, चर्खा कातना, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं का संचालन और विदेशी माल के बजाय स्वदेशी माल को अपनाना, इससे भी देश को बड़ा भारी लाभ हुआ। सुभाषचन्द्र बोस आन्दोलनों की सफलताओं को स्वीकार करते हुए लिखते हैं। 1921 के वर्ष ने निस्सन्देह एक सुव्यवस्थित दलीय संगठन प्रदान किया। इसके पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल और मुख्यतया बात करने वाली संस्था थी। महात्माजी ने इसे नया विधान दिया और देशव्यापी बनाया। उन्होंने इसे एक क्रांतिकारी संगठन के रूप में भी परिवर्तित कर दिया।”

सविनय अवज्ञा आन्दोलन :

1923–28 की भारतीय राजनीति— इस काल की भारतीय राजनीति में तीन प्रमुख स्थितियाँ उत्पन्न हुई, प्रथम, स्वराज्य दल की स्थापना, उसके कार्य और इतिश्री, द्वितीय, साइमन कमीशन और तृतीय, सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट

सविनय अवज्ञा आन्दोलन और गोलमेज सम्मेलन

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि –

कलकत्ता कांग्रेस (1928)— कांग्रेस का अल्टीमेटम – नेहरू रिपोर्ट के सम्बन्ध में कांग्रेस के नेताओं में काफी मतभेद थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में युवा



भारतीय शासन राजनीति

दल इस रिपोर्ट को केवल पूर्ण स्वतंत्रता के आधार पर ही स्वीकार करने को तत्पर था, लेकिन मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में पुरानी पीढ़ी इसे पूर्ण रूप से स्वीकार करना चाहती थीं। ऐसी स्थिति में गांधीजी ने मध्यस्थता करते हुए प्रस्ताव प्रेष किया। यह प्रस्ताव ब्रिटिश शासन के लिए एक अल्टीमेटम के रूप में था। प्रस्ताव का एक महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार था: “यदि ब्रिटिश संसद इस विधान को ज्यों का त्यों 31 दिसम्बर, 1929 तक या उससे पहले स्वीकार कर ले, तो कांग्रेस इस विधान को अपना लेगी बशर्ते कि राजनीतिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो। लेकिन यदि उस तिथि तक ब्रिटिश संसद उसे स्वीकार न करे। या इसके पहले ही अस्वीकार कर दे तो कांग्रेस देश को करबन्दी की सलाह देकर तथा अन्य उपायों के आधार पर जिन्हें वह बाद में निश्चित करेगी, अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलायेगी।”

कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार, लेकिन स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं

□ मई 1929 में इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हुई। भारतीयों को मजदूर दल की सरकार से बहुत आशाएँ थीं। लेकिन मजदूर दल की इस सरकार पर अनेक भारत-विरोध

दबाव थे, इस कारण भारत के सम्बन्ध में स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

1929 का लाहौर अधिवेशन और पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव सरकार के दृष्टिकोण से भारतीय नेताओं को यह निश्चय हो गया था कि ब्रिटिश सरकार उस समय तक भारत को स्वराज्य न देगी, जब तक वह इसके लिए मजबूर न हो जाय। अतः भारी निराशा और क्षोभ के वातावरण में पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में दिसम्बर 1929 को लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। अधिवेशन में 31 दिसम्बर की रात्रि को 12 बजे रावी नदी के तट पर भारत का तिरंगा झण्डा फहराकर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया गया। प्रस्ताव का महत्वपूर्ण भाग इस प्रकार था – “यह कांग्रेस घोषित करती है कि वर्तमान स्थिति में कांग्रेस का गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना निरर्थक है। कांग्रेस के विधान की पहली धारा में ‘स्वराज्य’ शब्द का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट वापस ली जाती है तथा यह कांग्रेस अपने सदस्यों और राष्ट्रीय आन्दोलन में लगे हुए अन्य व्यक्तियों से अनुरोध करती है कि वे अपना सारा ध्यान देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति में लगायें।” नयी कार्यसमिति ने निश्चय किया कि प्रतिवर्ष 26 जनवरी का दिन ‘स्वाध निता दिवस’ के रूप में मनाया जाय। इस दिन पढ़े जाने वाले घोषणा-पत्र से स्वाधीनता को भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया गया था।

देश की आन्तरिक स्थिति जिस समय कांग्रेस के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का उपर्युक्त घोषणा पत्र स्वीकार किया गया, उस समय देश की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति भी बहुत अधिक खराब और उत्तेजनापूर्ण थी। राजनीति में नवयुवक वर्ग अधिक सक्रिय था।

इस समय विश्व के दूसरे देशों के समान भारत भी आर्थिक मन्दी का शिकार हुआ। “कृषि सम्बन्धी उपज के भव 50 प्रतिशत से अधिक गिर गये थे और किसानों की हालत इतनी तंग थी कि वे एक गज कपड़ा व एक बोतल लैम्प का तेल भी नहीं खरीद सकते थे। सीधा-सादा तथ्य यह था कि वे कर लगान और ऋण अदा करने में असमर्थ थे।” व्यावसायिक और औद्योगिक वर्गों में रुपये की नयी दर के कारण तीव्र असन्तोष था। सरकार ने रुपये की कीमत 18 पेंस से बढ़ाकर 18 पेंस कर दी थी। इस परिवर्तन से इंग्लैण्ड को बहुत अधिक लाभ हुआ। भारत के उद्योगपतियों और व्यापारियों ने कांग्रेस का समर्थन किया तथा उसके कोश में 1920 ई. से भी अधिक मुक्तहस्त होकर दान दिया। औद्योगिक क्षेत्र में कार्य कर रहे मजदूर भी बहुत अधिक असन्तुष्ट और उत्तेजित थे, क्योंकि शासन के दमन के कारण उन्हें बहुत अधिक कष्ट उठाने पड़ रहे थे। सरकार ने मार्च 1929 में मजदूर संगठन के सबसे अधिक प्रभावशाली नेताओं को गिरफ्तार करके उन पर शङ्क्यन्त्र का अभियोग लगाया,

जो बिधिलतापूर्वक लगातार 4 वर्ष तक चलता रहा और जिसमें 27 श्रमिक नेताओं को राजद्रोह के अपराध में दीर्घ कारावास का दण्ड दिया गया । सरकार के इस कार्य से श्रमिक वर्ग के असन्तोष में अत्यधिक वृद्धि हुई । इसी समय सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त के क्रांतिकारी कार्यों और लाहौर शङ्खन्त्र अभियोग के कारण भी भारत का राजनीतिक वातावरण अत्यधिक उत्तेजनापूर्ण हो गया था ।

इस प्रकार 1930 के प्रारम्भ में चारों ओर अत्यधिक उत्तेजना का वातावरण था और इस बात के चिन्ह विद्यमान थे कि यदि महात्मा गांधी अहिंसात्मक आन्दोलन का श्रीगणेश न करते, तो बहुत अधिक दुर्दशा व नौकरशाही दमन-चक्र के कारण भारत में हिंसक क्रांति का सूत्रपात हो जाता । गांधीजी इस बात से अवगत थे, अतः उन्होंने स्थिति में सुधार या स्थिति को नियन्त्रित करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए । इस स्थिति में भारत के ग्राम- ग्राम और नगर - नगर में 26 जनवरी, 1930 को पूर्ण स्वाधीनता दिवस बहुत उत्साहपूर्वक मनाया गया ।

कांग्रेस का आन्दोलन छेड़ने का निर्णय - कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक 14 से 16 फरवरी, 1930 तक साबरमती में हुई । कांग्रेस कार्यकारिणी ने स्थिति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और एक प्रस्ताव पास कर महात्मा गांधी को उसे सविनय अवज्ञा आन्दोलन करने के संपूर्ण अधिकार दे दिए ।

यद्यपि कार्यकारिणी ने गांधीजी को आन्दोलन प्रारम्भ करने के सम्पूर्ण अधिकार दे दिए थे, किन्तु शान्तिवादी और समझौते में विश्वास करने वाले के नाते गांधीजी ने वायसराय को एक और मौका दिया । अपने साप्ताहिक पत्र 'यंग इण्डिया' के एक लेख में उन्होंने वायसराय को निम्नलिखित 11 शर्तें बतायीं और आप्वासन दिया कि यदि सरकार उन्हें मान. ले तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन का नाम भी नहीं सुनना पड़ेगा :

1. पूर्ण नषाबन्दी हो ।
2. मुद्रा विनिमय में एक रुपया एक शिलिंग चार पेंस के बराबर माना जाए ।
3. मालगुजारी आधी कर दी जाए और उसे विधानमण्डल के नियंत्रण में रखा जाए ।
4. नमक पर लगने वाला कर बन्द हो ।
5. सैनिक व्यय कम हो और शुरु में आधा कर दिया जाए ।
6. शासन व्यय में कमी करने के लिए अधिकारियों के वेतन आधे या उससे कम कर दिए जाएं ।
7. विदेशी वस्त्रों पर तट कर लगाया जाए, ताकि देशी उद्योग का संरक्षण हो ।
8. तटीय व्यापार संरक्षण कानून पारित किया जाए ।
9. हत्या या हत्या की चेष्टा में दण्डित बन्दियों को छोड़कर शेष सभी राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिए जाएं, सभी मुकदमे वापस लिए जाएँ और भारत से निर्वासित किए गए. सभी लोगों को आने दिया जाए ।
10. खुफिया पुलिस तोड़ दी जाय या इसे जन- नियंत्रण में रखा जाए ।
11. आत्म-रक्षा के लिए बन्दूक आदि हथियारों के लाइसेंस दिए जाएँ ।

और अब लाठी प्रहार दिन प्रतिदिन की घटना हो गयी। धारासना में 2,500 स्वयंसेवकों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और वे पाषाणिक लाठी प्रहार के शिकार हुए। “जमीन पीड़ा से कराहते हुए आदमियों से पट गयी थी। किसी का कन्धा टूट गया था और किसी की खोपड़ी। लोगों के सफेद कपड़े खून से तर बतर थे।” ‘न्यूफ्रीमैन’ के सम्वाददाता वेब मिलर धारासना के दृश्य और पुलिस की ज्यादतियों का वर्णन करते हुए लिखते हैं, “ 18 वर्ष तक 20 देशों में सम्वाद – संग्रह के काम में मैंने असंख्य उपद्रव, संघर्ष, गली कूचों में जमकर हुई लड़ाइयाँ और विद्रोह, देखे हैं। लेकिन ६ रासना जैसे रोंगटे खड़े कर देने वाले मर्मभेदी दृश्य मैंने कभी नहीं देखे। कभी-कभी ऐसी पीड़ा के दृश्य होते कि मुझे थोड़ी देर तक के लिए आंखें हटा लेनी पड़तीं। स्वयंसेवकों का अनुशासन आश्चर्यजनक था, लगता था कि उन्होंने गांधीजी की अहिंसा को घोलकर पी लिया है।” धारासना के बाद बडाला के नमक डिपो पर धावा बोलते समय भी स्वयंसेवकों ने इसी प्रकार से लाठी प्रहार सहन किया।

कभी कभी पुलिस बिलकुल मामूली-सी बातों पर छात्रों का पीछा करती हुई उनकी कक्षाओं में घुस जाती थी और उन्हें वे उनके अध्यापकों को लाठियों का शिकार बनाती थी। कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया था और एक वर्ष में ही लगभग 90 हजार सत्याग्रहियों को जेल में ठूस दिया गया। महिलाओं के साथ भी इसी प्रकार की कठोरता का बर्ताव किया गया। देश को अध्यादेश शासन के अधीन कर दिया गया था और एक के तुरन्त बाद दूसरे दमनमूलक कानूनों का बोलबाला था। करबन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात् ग्रहण, हरण और नीलाम का सहारा लिया था। पुलिस के जुल्मों के परिणामस्वरूप कई गाँव बिलकुल उजड़ गये।

पुलिस के दमन कार्य की प्रतिक्रिया के रूप में कुछ स्थानों पर जनता ने भी हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कीं। षोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने थाने जला दिए तथा कुछ चौकीदारों को मार डाला। संगठित कार्यकर्ताओं ने व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, लेकिन पुलिस ने 25 व्यक्तियों को भूनकर और सैकड़ों को घायल करके प्रतिषेध लिया। पेशावर में अप्रैल 1930 में इससे भी भयंकर घटनाएँ हुई और 24 अप्रैल से 4 मई तक पेशावर में अंग्रेजी हुकूमत नहीं रही। इस अवधि में शान्तिपूर्ण व अनुशासित खुदाई खिदमतगारों ने व्यवस्था कायम रखी। इसके बाद सैनिक दस्तों ने पुनः शहर पर अधिकार कर लिया और अनेक खुदाई खिदमतगारों को मशीन गनों से धरापायी कर दिया। इस दौरा में महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि एक गढ़वाली प्लाटून ने अपने निहत्थे मुस्लिम देशवासियों पर

गोली चलाने से इन्कार कर दिया। आन्दोलन का दुःखदायी तथ्य यह था कि भारतीय मुसलमान उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में इस आन्दोलन से अलग ही रहे। प्रथम गोलमेज सम्मेलन और गांधी इरविन समझौता

साइमन कमीशन द्वारा भारतीय समस्याओं को सुलझाने के लिए गोलमेज सम्मेलन का सुझाव दिया गया था। नवम्बर 1930 में लन्दन में हुए प्रथम गोलमेज सम्मेलन का कांग्रेस द्वारा बहिष्कार किया गया। ब्रिटिश शासन ने अब इस तथ्य को समझ लिया था कि राष्ट्रीय कांग्रेस के सहयोग के बिना भारत की कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती। अतः सम्मेलन के पश्चात् जयकर तथा सप्रू के हस्तक्षेप से 5 मार्च, 1931 को ‘गांधी-इरविन समझौता’ हुआ जिसके द्वारा कांग्रेस ने आन्दोलन बन्द करने और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने का निष्पत्ति किया और शासन द्वारा आन्दोलन में गिरफ्तार व्यक्तियों को छोड़ने और उनकी सम्पत्ति वापस करने का वचन दिया गया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (सितम्बर 1931)

कांग्रेस के सर्वाधिकार प्राप्त प्रतिनिधि के रूप में महात्मा गांधी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित हुए लेकिन महात्माजी के समस्त प्रयत्नों के बावजूद ब्रिटिश शासन की अनुदारता और मि. जिन्ना की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण भारत की राजनीतिक समस्या का कोई हल नहीं निकाला जा सका। सम्मेलन 1 दिसम्बर, 1931 ई. को समाप्त हो गया। यह

भारतीय शासन राजनीति

इकाई 4

राष्ट्रीय कांग्रेस का विकास

विलिंगडन का रुख इतना कठोर था कि गांधीजी के सामने सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर से शुरू करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहा। इस बार शासन का दमन चक्र बहुत ही अधिक कठोर था। लाठी प्रहार, गोली बर्षा, सम्पत्ति की जब्ती और सामूहिक जुर्माने नित्य के कार्यक्रम हो गये। गांधीजी को बन्दी बना लिया गया, कांग्रेस को अवैध। संगठन घोषित कर दिया गया और समाचार-पत्रों पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए गए। 1932 के अन्त तक राजनीतिक बन्दियों की संख्या 2 लाख 20 हजार तक पहुँच गयी।

अत्यधिक दमन के कारण आन्दोलन की शक्ति कम होती जा रही थी। सरकार ने 8 मई, 1933 को गांधीजी को रिहा कर दिया था। 10 मई 1933 को महात्माजी ने आन्दोलन 11 सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया। 14 जुलाई 1933 को जन-आन्दोलन रोक कर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू किया जो 9 माह तक चलता रहा। 7 अप्रैल, 1934 को इसे भी स्थगित कर दिया गया। अब गांधी जी के नेतृत्व पर पुनः आक्षेप हुए। कुछ दिनों बाद सरकार ने कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध उठा लिया। 1934 के बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर कांग्रेसियों को धारासभाओं में प्रवेश करने की इजाजत दे दी। तृतीय गोलमेज सम्मेलन

गोलमेज परिषद का तीसरा और अन्तिम अधिवेशन नवम्बर, 1932 में प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में राष्ट्रीय कांग्रेस और इंग्लैण्ड के मजदूर दल द्वारा भाग नहीं लिया गया, इसलिए इसका कोई महत्व नहीं है। सम्मेलन में कट्टर राजभक्तों ने भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। सम्मेलन में उन बातों को पुष्ट किया गया, जो प्रथम दो सम्मेलनों में निश्चित की गयी थीं।

पष्ठभूमि 1935 के अधिनियम की क्रियान्विति और उसका प्रभाव ब्रिटिश संसद के द्वारा 1935 ई. में भारत के लिए भारतीय शासन अधिनियम, 1935 पारित किया गया। कांग्रेस में इस बात पर मतभेद थे कि इस अधिनियम के आधार पर होने वाले चुनावों में भाग लिया जाये या नहीं, लेकिन अन्त में कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया। 1937 के चुनाव परिणाम कांग्रेस के लिए बहुत उत्साहवर्धक थे। 1937 में ही 11 में से 8 प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण हुआ और कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के द्वारा अनेक जनहितकारी कार्य किये गये। युद्ध का प्रारम्भ, वायसराय द्वारा भारत की ओर से युद्ध की घोषणा और प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र

3 सितम्बर, 1939 ई. को द्वितीय विष्व युद्ध प्रारम्भ हुआ। ग्रेट ब्रिटेन युद्ध से अलग नहीं रह सकता था, अतः लोकतन्त्र और स्वतंत्रता की रक्षा के नाम पर इंग्लैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस स्थिति में भारत के वायसराय ने भारतीय नेताओं, कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों या केन्द्रीय विधानसभा से परामर्श लिए बिना ही भारत की ओर से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। भारतीय नेताओं द्वारा वायसराय के इस अपभोगनीय और अपमानजनक कार्य का विरोध किया जाना नितान्त स्वाभाविक था। कांग्रेस चाहती थी कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के उद्देश्य स्पष्ट करे और आप्वासन दे कि युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्रता दे दी जायेगी। ब्रिटिश शासन द्वारा ऐसा कोई भी आप्वासन न दिये जाने पर कांग्रेस कार्य समिति ने 22 अक्टूबर, 1939 को प्रस्ताव पास कर प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने के लिए कहा और आठ प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने तुरन्त अपने त्यागपत्र दे दिये।

गवर्नर जनरल लॉर्ड लिनलिथगो ने गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के विस्तार का सुझाव प्रस्तुत करते हुए कांग्रेस से शासन के साथ सहयोग करने के लिए आग्रह किया। लेकिन यह प्रस्ताव नितान्त असन्तोषजनक था और कांग्रेस के द्वारा इसे अस्वीकार कर दिया गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह अगस्त प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरू और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे नेताओं के क्रियाकलापों के लिए, जो भारत की प्रतिरक्षा में सक्रिय सहयोग देना चाहते थे और जिनके नेतृत्व में कांग्रेस ने पहले महात्मा गांधी के युद्ध प्रयत्न सम्बन्धी शान्तिवाद और असहयोग सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था, एक तीव्र आघात था। अतः कांग्रेस ने पुनः महात्मा गांधी को मार्गदर्शन के लिए आमंत्रित किया। इस प्रकार कांग्रेस ने पुनः असहयोग के मार्ग को ग्रहण कर लिया। महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भारतीय भावनाओं को व्यक्त करना चाहते थे, लेकिन इसके साथ ही वे ब्रिटिश सरकार के सम्मुख उत्पन्न संकट की स्थिति से अनुचित लाभ उठाने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने सामूहिक कार्यवाही के स्थान पर सीमित पैमाने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल प्रतीकात्मक विरोध था और इसका उद्देश्य नैतिक विरोध

की अभिव्यक्ति मात्र था। इस सत्याग्रह में अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया था और सामूहिक कार्यवाही को प्रत्येक रूप में निषिद्ध कर दिया गया था।

गांधीजी के विष्वस्त अनुयायी विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही के रूप में चुना गया और उनके द्वारा 17 अक्टूबर, 1940 को पवनार में यह आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। विनोबा जी का अनुकरण पण्डित नेहरू ने किया। षोडश ही व्यक्तिगत सत्याग्रह का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। सत्याग्रह आन्दोलन का स्वरूप प्रतीकात्मक ही था, फिर भी मई 1941 तक लगभग 1,400 सत्याग्रही जेल पहुँच गये। इनमें 6 प्रान्तों के भूतपूर्व मुख्यमंत्री, 29 मंत्री और 290 प्रान्तीय विधानमण्डलों के सदस्य थे।

सत्याग्रहियों की रिहाई और सत्याग्रह का स्थगन – 7 दिसम्बर, 1941 को अमरीकी जहाज पर्ल हार्बर पर आक्रमण करने के साथ ही जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। उसने फिलीपाइन द्वीपसमूह, हिन्दचीन, मलाया आदि पर आधिपत्य कर आगे बढ़ना जारी रखा। इससे युद्ध भारत के दरवाजे तक पहुँच गया, ऐसी स्थिति में प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि सत्याग्रहियों को रिहा कर भारत में सद्भावनापूर्ण वातावरण तैयार करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। दिसम्बर 1941 में पं. जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आजाद को रिहा कर दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अधिकाधिक गम्भीर होती जा रही थी और भारत की सुरक्षा भी संकट में थी, इसलिए दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बारडोली में कांग्रेस कार्यसमिति की जो बैठक हुई, उसमें व्यक्तिगत सत्याग्रह को स्थगित कर दिया गया और सम्भावित संकट में देश की रक्षा के लिए उचित संगठन स्थापित करने का निष्पत्ति किया गया।

क्रिप्स मिशन और क्रिप्स योजना

युद्ध के प्रारम्भिक चरण में ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। 1941 में जब जापानी सेनाएं बर्मा में भारत की सीमा तक आ पहुँचीं, तो ब्रिटिश सरकार को चिन्ता हुई। ब्रिटिश सरकार ने सोचा कि जापान के सम्भावित आक्रमण से भारत की रक्षा का कार्य भारत की राजनीतिक शक्तियों के सहयोग से ही सम्भव है। अतः प्रधानमंत्री चर्चिल ने राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए मार्च 1942 में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। मई 1942 में क्रिप्स के द्वारा अपनी योजना पेश की गयी, जिसके दो भाग थे: अन्तरिम योजना और दीर्घकालीन योजना। योजना में युद्ध समाप्ति पर भारत को स्वतंत्रता देने की बात कही गयी थी लेकिन युद्ध होते रहने तक सुरक्षा विभाग ब्रिटिश शासन के अधिकार में रखने के लिए कहा गया। उस समय युद्ध की स्थिति ऐसी थी कि किसी भी दीर्घकालीन योजना की अपेक्षा तत्कालीन योजना में ही अधिक रुचि हो सकती थी और कांग्रेस सुरक्षा विभाग के

भारतीय शासन राजनीति

सम्बन्ध में क्रिप्स योजना के प्रबन्ध को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। गांधीजी ने क्रिप्स योजना को दिवालिया बैंक के नाम भविष्य की तिथि में भुनाने वाले चौक (च्वेज—कंजमक बीमुनम वद बतौपदह इंदा) की संज्ञा दी थी। कांग्रेस तथा भारत के अन्य राजनीतिक दलों ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

‘भारत छोड़ो’ आन्दोलन के कारण

आन्दोलन के कारण

(1) क्रिप्स मिशन की असफलता और निराशा एवं व्यग्रता का वातावरण क्रिप्स प्रस्तावों को एकदम वापस लिए जाने और सर क्रिप्स को एकदम इंग्लैण्ड बुलाये जाने से भारत में घोर निराशा के वातावरण और इस विचार को जन्म मिला कि क्रिप्स मिशन

से सम्बन्धित सम्पूर्ण क्रियाकलाप एक राजनीतिक धूर्तता मात्र थी, जिसका उद्देश्य अपने युद्ध सहयोगियों— अमरीका और चीन को सन्तुष्ट करना और पूर्व अनुमानित असफलता का उत्तरदायित्व भारतीय जनता पर डाल देना था। यह स्वाभाविक ही था कि क्रिप्स मिशन की असफलता का भारत—ब्रिटेन सम्बन्धों पर विपरीत प्रभाव पड़ता। आजाद के शब्दों में, “मिशन का एकमात्र कार्य भारत ब्रिटेन सम्बन्धों पर अत्यधिक तीव्र आघात था।”

(2) बर्मा में भारतीयों के प्रति अमानवीय व्यवहार बर्मा पर जापान की विजय के बाद बर्मा से जो भारतीय शरणार्थी आ रहे थे, उन्होंने भारत आकर अपनी दुःखभरी कहानियाँ सुनायीं। अंग्रेजों और भारतीयों को बर्मा से भारत आने के लिए अलग—अलग मार्ग दिये गये थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य मि. अणे और पं. हृदयनाथ कुंजरू मि. डाम के साथ बर्मा में भारतीयों की स्थिति देखने के लिए गये। उन्होंने बाद में एक वक्तव्य में कहा कि, “भारतीय शरणार्थियों से ऐसा अपमानजनक व्यवहार किया जा रहा है, जैसे वे किसी घटिया जाति से सम्बन्धित हों।” गांधीजी को इस जानकारी से बहुत दुःख हुआ।

(3) पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज्य — इस समय पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज्य था। सरकार ने वहाँ सैनिक उद्देश्य के लिए अनेक किसानों की भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था। इसी प्रकार सैकड़ों देशी नावों को नष्ट कर दिया गया, जिनसे हजारों परिवार पलते थे। शासन के इन कार्यों से लोगों के दुःख बहुत बढ़ गये।

(4) षोचनीय आर्थिक स्थिति और शासन में अविश्वास □ इस समय वस्तुओं के दाम अत्यधिक बढ़ जाने के कारण लोगों की परेशानियाँ बहुत बढ़ गयीं थीं। युद्ध की स्थिति और वस्तुओं के दाम बेतहाशा बढ़ते जाने के कारण लोगों का कागज के नोटों से विश्वास उठता जा रहा था। मध्यम वर्ग की स्थिति विशेष रूप से ऐसी ही थी।

(5) जापानी आक्रमण का भय और ब्रिटिश रक्षा व्यवस्था में भारतीयों का अविश्वास जापान के द्वारा सिंगापुर, मलाया और बर्मा में अंग्रेजों को पराजित कर दिया गया था और प्रतिक्षण भारत पर जापानी आक्रमण का भय था। महात्मा गांधी और अन्य भारतीय नेताओं का विचार था कि अंग्रेज भारत की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इसके साथ ही वे यह सोचते थे कि अंग्रेज शासक के रूप में भारत छोड़कर चले जायें, तो शायद जापान का आक्रमण न हो। ‘हरिजन’ में अपने एक लेख में उन्होंने लिखा था, “भारत के लिए उसके परिणाम कुछ भी क्यों न हों भारत और ब्रिटेन की वास्तविक सुरक्षा, समय रहते इंग्लैण्ड के भारत छोड़ देने में ही है।”

आन्दोलन का विचार और वर्धा प्रस्ताव (जुलाई 1942)

जुलाई 1942 में कांग्रेस कार्य समिति की वर्धा में जो बैठक हुई, उसमें गांधी जी के इन विचारों का समर्थन किया गया कि भारतीय समस्या का हल अंग्रेजों के भारत छोड़ देने में ही है। 14 जुलाई को कार्य समिति ने इस आषय का प्रस्ताव पास किया, जो ‘वर्धा प्रस्ताव’ के नाम से प्रसिद्ध है।

‘वर्धा प्रस्ताव के उपरान्त वर्धा प्रस्ताव के उपरान्त जनता में यह भावना जाग्रत हुई कि कांग्रेस की ओर से अति घोर ही जन आन्दोलन की घोषणा की जायेगी, किन्तु कांग्रेस ने जन आन्दोलन की घोषणा के पहले आवश्यक तैयारी कर लेना उचित समझा। कांग्रेसी नेता जन जागृति को और अधिक प्रबल बनाने के प्रयत्न में लगे रहे। 1 अगस्त, 1942 को इलाहाबाद में तिलक दिवस मनाया गया। इस अवसर पर पं. नेहरू ने अपने भाषण में

कहा कि “हम आग के साथ खेलने जा रहे हैं”। इसी समय बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने व्यक्त किया, “हमको इस बार गोली खाने और तोप का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। भारत सरकार कांग्रेस की इस प्रक्रिया से उदासीन नहीं थी। उसने सम्भावित जन-आन्दोलन को कुचलने का निष्पत्ति कर लिया था।”

8 अगस्त, 1942 का भारत छोड़ो प्रस्ताव वर्धा प्रस्ताव के निष्पत्ति के अनुसार 7 अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन आरम्भ हुआ। ‘न केवल भारत वरन् सम्पूर्ण संसार की निगाहें इस अधिवेशन पर लगी हुई थीं। भविष्य के इतिहास तथा घटनाओं ने इस अधिवेशन को ऐतिहासिक अधिवेशन की संज्ञा प्रदान की। इस समिति ने पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरान्त ‘भारत छोड़ो प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया था कि, “यह समिति कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के 14 जुलाई, 1942 के प्रस्ताव का समर्थन करती है तथा उसका यह विश्वास है कि बांद की घटनाओं ने इसे और भी औचित्य प्रदान कर दिया और इस बात को स्पष्ट कर दिखाया है कि भारत में ब्रिटिश शासन का तत्काल ही अन्त, भारत के लिए और मित्र राष्ट्रों के आदर्श के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी के ऊपर युद्ध का भविष्य एवं स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की सफलता निर्भर है।”

क्योंकि कांग्रेस इस बात से परिचित थी कि अंग्रेज भारत छोड़कर आसानी से नहीं जायेंगे, अतः एक जन-आन्दोलन के संचालन का निष्पत्ति किया गया। लेकिन इस आन्दोलन की तिथि की घोषणा नहीं की गयी थी, क्योंकि गांधीजी आन्दोलन छेड़ने से पूर्व एक बार सरकार से अन्तिम बात कर लेना चाहते थे। गांधीजी ने इस समय कांग्रेस कार्य समिति के सम्मुख 70 मिनट तक भाषण दिया। पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में, ‘वास्तव में गांधीजी उस दिन एक अवतार और पैगम्बर की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर भाषण दे रहे थे।” अपने इस दिव्य भाषण के अन्त में गांधीजी ने भारतवासियों को करो या मरो (क़व वत क़म) का इतिहास – प्रसिद्ध सन्देश दिया, जिसका तात्पर्य यह था कि. भारतवासियों द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए उन्होंने यह नितान्त स्पष्ट कर दिया था कि वे यह नहीं चाहते थे कि उनके द्वारा की गयी कार्यवाही हिंसात्मक हो।

अगस्त क्रांति एवं शासन का दमन – कांग्रेस द्वारा संचालित पिछले दो आन्दोलनों में कांग्रेस द्वारा आन्दोलन किये जाने के बाद ही ब्रिटिश सरकार ने दमन चक्र प्रारम्भ किया था, लेकिन इस बार आन्दोलन और दमन-चक्र का क्रम विपरीत हो गया। गांधीजी ने ‘भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित करते हुए कहा था कि आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व वे एक बार वायसराय महोदय से बातचीत करेंगे लेकिन सरकार ने गांधीजी को इस प्रकार की बातचीत का अवसर ही नहीं दिया। 9 अगस्त को प्रातः काल ही महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य नेता गिरफ्तार कर लिये गये। गांधीजी तथा श्रीमती सरोजनी नायडू को पूना के आगाखां महल में बन्दी बनाया गया और कांग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को अहमदनगर दुर्ग में बन्दी बनाया गया। इसके उपरान्त एक दो दिन में ही प्रान्तीय नेताओं को भी कारागार में डाल दिया गया। महात्मा गांधी और कांग्रेस के दूसरे नेताओं को बन्दी बनाने से पूर्व 8 अगस्त की रात्रि को शासन द्वारा एक विज्ञप्ति प्रसारित की गयी, जिसमें कांग्रेस द्वारा अपनाये जाने वाले कार्यक्रम का उल्लेख था। शासन ने इस विज्ञप्ति को समाचार पत्रों में प्रकाशित करते हुए कहा कि इस कार्यक्रम के कारण ही नेताओं को गिरफ्तार करने की आवश्यकता हुई। इस विज्ञप्ति के अनुसार रेल की पटरियों को तोड़ा जाना, टेलीफोन व टेलीग्राम के तारों को तोड़ा जाना कार्यक्रम का अंग था।



भारतीय शासन राजनीति

शासन द्वारा भारतीय नेताओं को कारावास में डाल दिये जाने से जनता अवाक् सी रह गयी। जनता शासन की नीति से ऊब तो पहले ही चुकी थी, मार्ग निर्देशन के अभाव में। जनता के इस विरोध ने व्यापक जन-विद्रोह का रूप धारण कर लिया, जनता ने सरकार की नीति का विरोध करने के अभिप्राय से जुलूस निकाले, सभाएँ कीं तथा हड़तालों का आयोजन किया। सरकार ने प्रदर्शनकर्ताओं के साथ कठोर व्यवहार किया और कहीं-कहीं तो गोलियों का प्रयोग भी किया गया। सरकार के दमन चक्र के कारण शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध व्यक्त करने के सभी साधन बन्द हो गये। जनता ने बाध्य होकर हिंसात्मक कार्य करने प्रारम्भ किये। संचार साधन भंग कर दिये गये और रेलवे व पुलिस स्टेशन जला दिये गये। जमशेदपुर, बम्बई व अहमदाबाद के मजदूरों ने हड़तालों की और लगभग एक सप्ताह के लिए बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, मद्रास, बंगलौर व अमृतसर में सार्वजनिक जीवन बिलकुल ठप्प हो गया। कई स्थानों पर ब्रिटिश शासन का बिलकुल अन्त हो गया और वहाँ समानान्तर सरकारें स्थापित हो गयीं। संयुक्त प्रान्त में बलिया तथा बस्ती जिले में, बम्बई में सतारा में, बंगाल के मिदनापुर जिले में और बिहार के कुछ भागों में ऐसा ही हुआ। उस समय की स्थिति को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि ब्रिटिश शासन का भारत से षीघ्र अन्त हो जायेगा। '1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन ने कितना उग्र रूप धारण कर लिया था, इसका कुछ अनुमान उन आँकड़ों से लगाया जा सकता है जो फरवरी 1943 में भारत सरकार के युद्ध सदस्य सर रैजीनल्ड मैक्सवेल ने केन्द्रीय विधानसभा में प्रस्तुत किये थे। इन आँकड़ों के अनुसार 1942 के आन्दोलन में पुलिस और सेना द्वारा 538 बार गोलियाँ चलायी गयीं जिसके परिणामस्वरूप 940 व्यक्ति मारे गये और 1,360 घायल हुए। 69,229 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। 220 के लगभग रेलवे स्टेशन नष्ट कर दिये गये, 550 के लगभग डाकखानों पर हमला हुआ जिनमें से 50 बिलकुल जला डाले गये और 200 को भारी नुकसान पहुँचा। 3,500 स्थानों पर तार और टेलीफोन की लाइनों को काटा गया। 70 थाने और अन्य 85 सरकारी भवनों को जलाकर धराषायी कर दिया गया।'

शासन द्वारा सर्वत्र आन्दोलन का बहुत अधिक कठोरतापूर्वक दमन किया गया। माइकेल ब्रेचर के शब्दों में, "संक्षेप में, सर्वत्र सरकारी दमन बहुत अधिक कठोर था। 1857 के बाद भारत में ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध सबसे बड़े विद्रोह का सामना करने के लिए पुलिस राज्य स्थापित किया गया।" इस प्रकार के अमानवीय दमन ने खुले विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की, लेकिन आन्दोलन भूमिगत हो गया और जयप्रकाश नारायण, डॉ० राम मनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली और अच्युत पटवर्धन जैसे समाजवादी नेताओं द्वारा इसका संचालन किया जाने लगा।

विभिन्न दलों की प्रतिक्रिया इस आन्दोलन का समर्थन भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों द्वारा किया गया। समाजवादी नेताओं ने तो आन्दोलन के सम्बन्ध में पूर्णतः कांग्रेस का साथ दिया लेकिन साम्यवादियों द्वारा देश के लिए घातक नीति अपनायी गयी और उनके कार्यों ने सिद्ध कर दिया कि उनकी भक्ति अपनी मातृभूमि के स्थान पर तथाकथित सर्वहारावर्ग की भूमि के प्रति ही है। 1939 में जबकि युद्ध प्रारम्भ हुआ भारतीय साम्यवादियों द्वारा ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों की निन्दा करते हुए इसे 'साम्राज्यवादी युद्ध' की संज्ञा दी गयी, लेकिन 1941 में जैसे ही सोवियत रूस मित्र राष्ट्रों की ओर से सम्मिलित हुआ, भारतीय साम्यवादियों के लिए कल तक का साम्राज्यवादी युद्ध 'लोक युद्ध' (ज्मवचसमे .त) में परिणत हो गया। साम्यवादी दलों ने लीग के साथ गठबन्धन कर उनकी पाकिस्तान सम्बन्धी योजना के पक्ष में विचार प्रकट किये तथा कांग्रेस को आन्दोलन स्थगित करने की सलाह दी। साम्यवादियों के ये कार्य राष्ट्रीय आन्दोलन की पीठ में छुरा भोंकने के समान थे।

मुस्लिम लीग ने कहा कि "इस आन्दोलन का लक्ष्य भारतीय स्वतंत्रता नहीं, वरन् भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना है और इस कारण यह आन्दोलन मुसलमानों के लिए घातक है।" मि. जिन्ना ने कहा कि कांग्रेस के साथ उसी समय सहयोग किया जा सकता है जबकि कांग्रेस पाकिस्तान निर्माण की बात स्वीकार कर ले द्य

प्रस्ताव को 'अविचारित और असामयिक बताया गया और दलित वर्गों के नेता डॉ. अम्बेडकर ने गांधीजी द्वारा संचालित आन्दोलन को 'अनुत्तरदायित्व और पागलपन भरा कार्य' बताया। हिन्दू महासभा के नेता सावरकर के द्वारा भी गांधी की नजरबन्दी के दिन ही हिन्दुओं से अपील की गयी कि उनके द्वारा कांग्रेस के आन्दोलन में सहयोग न दिया जाय।

आन्दोलन के परिणाम

भारत छोड़ो आन्दोलन महात्मा गांधी द्वारा अब तक किये गये आन्दोलनों में सबसे भीषण और भारतीय स्वतंत्रता के लिए किया गया महानतम प्रयास था। आन्दोलन का उद्देश्य भारत के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करना था और इस बात को स्वीकार करना होगा कि आन्दोलन द्वारा तत्काल ही भारत की स्वतंत्रता प्राप्त न कर सकने या जिसे आन्दोलन की असफलता कहा जाता है, के कारण इस प्रकार थे :

(1) आन्दोलन के संगठन में कमियाँ – भारत छोड़ो आन्दोलन एक जन-आन्दोलन था और इस प्रकार के जन-आन्दोलन को सफल बनाने के लिए व्यापक तैयारियाँ की जानी चाहिए थीं। आन्दोलन के नेताओं द्वारा अपनी रणनीति निश्चित कर ली जानी चाहिए थी और इसके पूर्व कि शासन उनको गिरफ्तार करे, उन्हें अज्ञात स्थान में चला जाना चाहिए था। वस्तुतः इस प्रकार की कोई तैयारी नहीं की गयी थी। ऐसी स्थिति में जब शासन द्वारा दमनकार्य की पहल की गयी, तो आन्दोलनकारी हतप्रभ रह गये और प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के कारण आन्दोलन नेतृत्वविहीन हो गया।

(2) सरकारी नेताओं और उच्च वर्गों की वफादारी भारत छोड़ो आन्दोलन तत्काल ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति में इसलिए भी असफल रहा कि देशी रियासतों के नरेश, 'सेना, पुलिस, उच्च सरकारी अधिकारी तथा कर्मचारी आन्दोलन काल में सरकार के प्रति पूर्ण वफादार बने रहे और इससे शासन कार्य बेरोकटोक चलता रहा।

(3) आन्दोलनकारियों की तुलना में शासन की कई गुना शक्ति वस्तुतः आन्दोलन की तात्कालिक असफलता अवश्यम्भावी थी क्योंकि आन्दोलनकारियों की तुलना में शासन की शक्ति कई गुना थी। आन्दोलनकारियों की न तो कोई गुप्तचर व्यवस्था थी और न ही एक संस्थान से दूसरे स्थान को सन्देश भेजने के साधन थे। उनकी आर्थिक शक्ति भी ब्रिटिश शासन की तुलना में बहुत कम थी।

आन्दोलन का एक अवांछनीय परिणाम लीग की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि के रूप में सामने आया।

आन्दोलन का महत्व यद्यपि भारत छोड़ो आन्दोलन अपने मूल लक्ष्य भारत से ब्रिटिश शासन की समाप्ति को तात्कालिक रूप से प्राप्त नहीं कर सका, लेकिन इस आन्दोलन ने भारत की जनता में एक ऐसी अपूर्व जागृति उत्पन्न कर दी जिससे ब्रिटेन के लिए भारत पर लम्बे समय तक शासन कर सकना सम्भव नहीं रहा। ए. जी. बनर्जी के शब्दों में, "इस विद्रोह के परिणामस्वरूप अधिराज्य की पुरानी मांग सर्वथा समाप्त हो गयी और उसका स्थान पूर्ण स्वतंत्रता की मांग ने ले लिया।" इस सम्बन्ध डॉ० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं, "अगस्त क्रांति अत्याचार और दमन के विरुद्ध भारतीय जनता का विद्रोह था और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बेस्टिले के पतन या सोवियत रूस की अक्टूबर क्रांति से की जा सकती है। यह क्रांति जनता में उत्पन्न नवीन उत्साह तथा गरिमा की सूचक थी।"

इस आन्दोलन से उत्पन्न चेतना के परिणामस्वरूप ही 1946 ई. में जलसेना का विद्रोह हुआ, जिसने भारत में ब्रिटिश शासन पर भयंकर चोट की। इस आन्दोलन तथा कुछ अन्य तत्वों के परिणामस्वरूप ही युद्ध के बाद अमरीका तथा इंग्लैण्ड में लोकमत इतना अधिक भारत के पक्ष में हो गया कि इंग्लैण्ड को विवश होकर भारत छोड़ना पड़ा। इस प्रकार यह निश्चित तथ्य है कि भारत छोड़ो आन्दोलन ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।



ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार

जुलाई 1945 में ब्रिटेन में जो आम चुनाव हुए उनमें मजदूर दल को आषातीत सफलता प्राप्त हुई और चर्चिल के स्थान पर मजदूर दल के नेता मि. एटली इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री बने। नये प्रधानमंत्री एटली ने भारतीय समस्या को हल करने का दृढ़ निष्पत्ति किया।

भारत में चुनाव और चुनावपरिणाम

1945 में भारत में भी चुनाव हुए और

चुनाव में राष्ट्रीय कांग्रेस तथा अन्य सभी राजनीतिक दलों ने भी भाग लिया। कांग्रेस को निर्वाचन में आषातीत सफलता प्राप्त हुई। इसने लगभग सभी सामान्य और मुस्लिम स्थानों पर अधिकार कर लिया। लेकिन चुनाव परिणाम का एक दूसरा पक्ष भी था और वह यह था कि बंगाल, पंजाब तथा सिन्ध के मुस्लिम बहुत प्रान्तों में जनता का समर्थन कांग्रेस को नहीं वरन् मुस्लिम लीग को प्राप्त हुआ था ! इस प्रकार भारत के मुसलमान तेजी से लीग की ओर झुक रहे थे।

सेना में विद्रोह – भारतीय सेना में भी ब्रिटिश शासन से असन्तोष बढ़ता जा रहा था और इस असन्तोष का विस्फोट 18 फरवरी, 1946 को बम्बई में हुआ, जबकि जलसेना के द्वारा खुला विद्रोह कर दिया गया। विद्रोह अन्य बन्दरगाहों में स्थित नौ सेना में भी फैल गया और बम्बई के तीन लाख मजदूरों ने भी उनकी सहानुभूति में हड़ताल कर दी, लेकिन थोड़े समय बाद कांग्रेस और लीगी नेताओं के हस्तक्षेप से स्थिति षान्त हो गयी। विद्रोह ने ब्रिटिश सम्मान को आघात पहुँचाने के साथ विदेशी शासकों को यह भी समझा दिया कि अब भारत को और अधिक समय तक परतन्त्र नहीं रखा जा सकेगा।

केबिनेट मिशन योजना— ब्रिटिश सरकार ने मार्च 1946 में सर पैथिक लारेंस, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और सर ए. बी. एलेक्जेंडर का तीन सदस्यीय कमीशन भारत भेजा। मिशन द्वारा भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच समझौता कराने का फैसला किया गया लेकिन जब इस प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं हुई तो 15 मई को केबिनेट मिशन की ओर से अपनी योजना पेश की गयी। केबिनेट मिशन योजना को भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। योजना के अनुसार भारत के नवीन संविधान का निर्माण करने हेतु संविधानसभा के सदस्यों का प्रान्तीय विधानसभा के सदस्यों द्वारा चुनाव किया गया।

अन्तरिम सरकार का निर्माण – केबिनेट मिशन योजना के आधार पर सितम्बर 1946 में पं. नेहरू की अध्यक्षता में अन्तरिम सरकार का निर्माण हुआ। पहले तो मुस्लिम

लीग द्वारा केबिनेट योजना को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन बाद में कांग्रेस और लीग में मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण लीग ने योजना को अस्वीकार कर दिया। अक्टूबर 1946, मैं लीग अन्तरिम सरकार में शामिल हुई, किन्तु लीग द्वारा शासन को दृढ़ता प्रदान करने के स्थान पर सरकार में प्रवेश कर सरकार को असफल करने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया गया।

माउण्टबेटन योजना षीघ्रातिषीघ्र सत्ता हस्तान्तरण करने हेतु लॉर्ड वैवल के स्थान पर लॉर्ड माउण्टबेटन को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया और उन्होंने 23 मार्च, 1947 को अपने पद का कार्यभार संभाला। लार्ड माउण्टबेटन भारतीय नेताओं से बातचीत करने के बाद इस निश्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय समस्या का एकमात्र हल पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार कर लेना ही है। कांग्रेस ने भी परिस्थितियों के दबाव से भारतीय समस्या के इस दुःखद हल को स्वीकार कर लिया। लार्ड माउण्टबेटन के द्वारा 3 जून, 1947 को अपनी योजना 'माउण्टबेटन योजना' प्रस्तावित की गयी। इस योजना में प्रमुख रूप से दो बातें थीं— प्रथम, 1947 में ही भारत को सत्ता का हस्तान्तरण और द्वितीय, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान

इस प्रकार के दो राज्यों में भारत का विभाजन । लीग तथा कांग्रेस, दोनों के ही द्वारा इस योजना को स्वीकार कर लिया गया । .

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947

ब्रिटिश पार्लियामेंट में 4 जुलाई, 1947 को 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम' प्रस्तावित किया गया, जो षष्ठ ही 18 जुलाई, 1947 को स्वीकृत हो गया। भारत मंत्री ने अधिनियम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था, "हमारे देश के विधान निर्माण के इतिहास में यह अधिनियम अद्वितीय है। इससे पूर्व कभी भी संसार की आबादी के इतने बड़े भाग ने केवल एक विधान द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं की।" इस अधिनियम में कुल 20 धाराएँ थीं, जिनमें कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं:

(1) दो अधिराज्यों की स्थापना— इस अधिनियम द्वारा भारत का विभाजन कर पाकिस्तान की स्थापना कर दी गयी। यह निश्चय किया गया कि 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो अधिराज्य बना दिये जायेंगे और उनको ब्रिटिश सरकार सत्ता सौंप देगी ।

(2) संविधानसभाओं को सत्ता सौंपना— यह व्यवस्था की गयी कि ब्रिटिश सरकार दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को सत्ता का उत्तरदायित्व सौंप देगी। उनको अपनी इच्छानुसार संविधान का निर्माण करने की स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार संविधानसभाएँ सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होंगी ।

(3) दोनों के लिए अलग अलग गवर्नर जनरल— भारत और पाकिस्तान दोनों अधिराज्यों में एक एक गवर्नर जनरल होगा, जिसकी नियुक्ति उनके मंत्रिमण्डल की सलाह से की जायेगी। गवर्नर जनरल और प्रान्तों के गवर्नर भविष्य में केवल वैधानिक षासक होंगे।

(4) संविधानसभा का विधानमण्डल के रूप में कार्य करना— जिस समय तक संविधानसभाएँ संविधान का निर्माण नहीं कर लेती हैं, उस समय तक वे विधानमण्डल के रूप में भी कार्य करती रहेंगी और उनकी विधायिनी षक्तियों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होगा। 15 अगस्त, 1947 के उपरान्त ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कोई अधि नियम इन अधिराज्यों पर उनके विधानमण्डलों की स्वीकृति के बिना लागू नहीं होगा।

(5) प्रान्तीय विधानमण्डल — जिस समय तक नवीन विधान के अनुसार प्रान्तों में निर्वाचन नहीं होते हैं, उस समय तक प्रान्तों में इस समय के विधानमण्डल ही कार्य करते रहेंगे।

(6) भारत मंत्री के पद का अन्त — भारत मंत्री का पद समाप्त कर दिया जायेगा, क्योंकि 15 अगस्त, 1947 के उपरान्त ब्रिटिश संसद का भारत और पाकिस्तान पर कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा।

(7) 1835 के भारतीय षासन अधिनियम द्वारा षासन जिस समय तक वर्तमान संविधानसभा द्वारा नया संविधान बनाकर तैयार नहीं किया जाता है, उस समय तक 1935 के भारतीय षासन अधिनियम द्वारा ही षासन होगा, पर परिवर्तित परिस्थितियों के कारण उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये। अधिनियम में ऐसे परिवर्तन किये गये. कि अन्तरिम काल में इन दोनों राज्यों का षासन लोकतन्त्रीय पद्धति के आधार पर किया जां सके ।

(8) देशी रियासतों पर 'सर्वोपरिता' का अन्त — जहाँ तक देशी रियासतों का प्रश्न है, उन पर ब्रिटेन की सर्वोपरिता का अन्त कर दिया गया और उनको किसी भी अधि राज्य में सम्मिलित होने व अपने भावी सम्बन्धों का निश्चय करने की स्वतंत्रता प्रदान की गयी।

1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम वास्तव में अंग्रेजों की एक भव्य और गौरवपूर्ण विदाई थी। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, "भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व का काल आज समाप्त होता



भारतीय शासन राजनीति

है और अब ब्रिटेन के साथ हमारा अपना सम्बन्ध समानता, पारस्परिक सद्भावना और पारस्परिक लाभ के आधार पर रहेगा ।”

15 अगस्त, 1947 को 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के अनुसार भारतीय महाद्वीप पर ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ, भारत व पाकिस्तान— दो स्वतंत्र अधिराज्य अस्तित्व में आये। कांग्रेस चाहती थी कि दोनों के गवर्नर जनरल एक ही रहे, ताकि संक्रमण काल (ज्वांतेपजपवदंस चमतपवक) की समाप्ति षान्तिमय ढंग से हो सके लेकिन पाकिस्तान द्वारा इस प्रकार का प्रस्ताव स्वीकार न किये जाने के कारण भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड माउण्टबेटन तथा पाकिस्तान के गवर्नर जनरल जिन्ना बने ।

भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहायक तत्व

15 अगस्त, 1947 को भारतीय सत्ता का हस्तान्तरण भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त गौरवमयी घटना है। यह विदेशी शासन के एक युग का अन्त ही नहीं वरन् लम्बे और कष्टदायक संघर्ष के बाद भारतीय राष्ट्र का पुनर्जन्म था। सत्ता के हस्तान्तरण के सम्बन्ध । ज में अनेक व्यक्तियों का विचार है कि प्रधानमंत्री लार्ड एटली और ब्रिटेन की मजदूर दलीय सरकार की उदारता के कारण 1947 में भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। एक दूसरे पक्ष द्वारा इस बात का भी प्रतिपादन किया जाता है कि भारतीय स्वतंत्रता 1885 में स्थापित राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रयत्नों का ही परिणाम थी, लेकिन इनमें से किसी भी विचार को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । वस्तुतः भारतीय स्वतंत्रता विभिन्न परिस्थितियों के दबाव का परिणाम थी। 1947 तक भारत में परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी थीं कि राजनीतिक दृष्टि से सत्ता हस्तान्तरण में देरी करना सम्भव ही नहीं था। अमरीकन कूटनीतिज्ञ विलियम फिलिप्स इस सत्य को व्यक्त करते हुए ही लिखते हैं कि जुलाई 1945 में जब मजदूर दल की सरकार का निर्माण हुआ, तो उसने उन तथ्यों को देखा जो नितान्त

स्पष्ट थे।” भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहायक तत्वों की विवेचना निम्नलिखित बिन्दुओं रूपों में की जा सकती है :

(1) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति — द्वितीय विष्वयुद्ध के प्रारम्भ में राष्ट्रीय चेतना अपने चरमोत्कर्ष पर थी और 1942 का विद्रोह अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में ब्रिटेन को भारत छोड़ देने की चेतावनी ही था । गांधी जी के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' ने भारतीय जनता को 'करो या मरो का सन्देश दिया था। इस प्रकार सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय जागृति व्याप्त हो गयी थी और आजाद हिन्द सेना के नायकों पर अभियोग और सैनिक विद्रोह की घटनाओं ने इस राजनीतिक जागृति का परिचय दे दिया था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने, जो अपनी व्यवहार कुशलता और राजनीतिक दूरदर्षिता के लिए प्रसिद्ध हैं, ऐसी स्थिति में सम्मानपूर्वक भारत छोड़ देना ही उचित समझा। मौलाना आजाद के अनुसार, 'स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा के सम्बन्ध में अब कोई भी बात गुप्त नहीं रही थी।”

द्वितीय विष्वयुद्ध के पूर्व

(2) युद्ध के बाद इंग्लैण्ड की कमजोर स्थिति इंग्लैण्ड प्रथम श्रेणी का राष्ट्र था, लेकिन द्वितीय विष्वयुद्ध के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की स्थिति बहुत अधिक निर्बल हो गयी। उसकी अर्थव्यवस्था को भीषण आघात पहुंचा था और उसकी सैनिक शक्ति कम हो गयी। ब्रिटिश शक्ति के इस ह्रास के कारण अब ब्रिटेन इस स्थिति में नहीं रहा कि वह भारत पर नियन्त्रण बनाये रखने के आर्थिक और सैनिक भार को सहन कर सके। इंग्लैण्ड की कमजोर स्थिति इंग्लैण्ड को भारत छोड़ने के लिए बाध्य करने वाला बहुत सबल तथ्य था । माइकेल ब्रेचर के अनुसार, "इंग्लैण्ड की कमजोर स्थिति भारत के पक्ष में इतना सरल तथ्य था कि 1945 में यदि अनुदार दल सत्तारूढ़ होता, तो वह भी भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न को टाल नहीं सकता था।”

(3) इंग्लैण्ड का जनमत भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में— 1940 के बाद ब्रिटिश जनमत भारत के पक्ष में हो गया था। ब्रिटेन के युवाओं में मजदूर दल के जीतने का कारण यह भी था

कि मजदूर दल भारतीय हित से सहानुभूति रखता था। ब्रिटेन की प्रजातन्त्रात्मक सरकार अपने देश के जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकती थी और इसीलिए उसे भारत को स्वतंत्रता प्रदान करनी पड़ी।

(4) साम्यवाद का डर – इतिहास बताता है कि किसी देश की जनता पर अधिक अत्याचार करने पर वह साम्यवाद की ओर प्रवृत्त हो सकती है। ब्रिटिश सरकार साम्यवाद के प्रसार के विरुद्ध थी और इसीलिए उसने भारत में साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए भारत को शीघ्र ही स्वतंत्रता प्रदान करना आवश्यक समझा।

(5) इंग्लैण्ड पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव— दूसरे विश्वयुद्ध के समय अमरीका के अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट, चीनी च्यांगकाई शैक और आस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री डॉ० इबाट के द्वारा ब्रिटेन पर भारत को स्वतंत्रता देने के लिए जोर डाला गया था। ब्रिटेन को युद्ध जीतने में अमरीका द्वारा बहुत अधिक सहायता प्रदान की गयी थी और जब युद्ध के बाद अमरीका द्वारा ब्रिटेन पर भारत की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में दबाव डाला गया, तो ब्रिटेन के लिए अमरीका की बात को अस्वीकार करना सम्भव नहीं रहा।

(6) 1945 के चुनाव में मजदूर दल की विजय— मजदूर दल सदैव से ही भारत के प्रति सहानुभूति रखता था और 1940 के बाद उसका विचार था कि अब भारत को शीघ्र ही स्वतंत्रता प्रदान कर दी जानी चाहिए। 1945 के चुनाव में जब मजदूर दल के हाथ में सत्ता आ गयी, तो उन्होंने अपनी घोषणाओं को कार्यरूप प्रदान कर दिया। वी.पी. मेनन

में लिखते हैं, “भारत को सत्ता के शीघ्र हस्तान्तरण का मुख्य कारण 1945 ई. में इंग्लैण्ड में मजदूर दल द्वारा निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करके सत्ता ग्रहण करना था।”

(7) सैनिक विद्रोह— 1857 से लेकर 1945 तक भारतीय सेना ने ब्रिटिश शासन का कभी भी विरोध नहीं किया था, लेकिन 1946 में बम्बई में सेना द्वारा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक विद्रोह किया गया। जब ब्रिटिश सरकार ने देखा कि भारतीय सेना भी उनके विरुद्ध हो रही है तो उन्होंने भारत छोड़ देने में ही अपना कल्याण समझा। वी.पी. मेनन के शब्दों में, “इन घटनाओं ने अंग्रेजों की आँखें खोल दीं और उन्होंने समझ लिया कि भारतीय राष्ट्रवाद को अब सेना में प्रवेश से नहीं रोका जा सकता है। भारतीय सेना अब राष्ट्रवाद की ओर झुकने लगी थी और भारत में इतनी ब्रिटिश सेनाएँ नहीं थीं कि सब जगह भेजी जा सकतीं।”

(8) माउण्टबेटन योजना स्वीकार करना— जब लीग और कांग्रेस दोनों के द्वारा माउण्टबेटन योजना को स्वीकार कर लिया गया तो भारतीय स्वतंत्रता के मार्ग की साम्प्रदायिक बाधा भी नष्ट हो गयी और इसलिए भारत को सरलतापूर्वक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकी।

वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता किसी एक तत्व का परिणाम नहीं, वरन् अनेक तत्वों का सामूहिक परिणाम थी। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ठीक ही लिखते हैं कि “भारतीय स्वतंत्रता समय की गति और परिस्थितियों के दबाव का परिणाम थी।” स्वतंत्रता के बाद डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लार्ड माउण्टबेटन के प्रति धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तावित करते हुए कहा था, “जहाँ स्वतंत्रता की प्राप्ति काफी सीमा तक हमारे अपने त्याग और बलिदानों के फलस्वरूप हुई है वहीं वह विषय – शक्तियों और घटनाओं का भी परिणाम है। इसके साथ ही यह ब्रिटिश जाति के लोकतन्त्रात्मक आदर्शों और ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ही है।” गांधीजी का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी का सर्वाधिक योगदान रहा है। उन्होंने सन् 1919 में कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व संभाला और उसके बाद वे जीवनपर्यन्त राष्ट्रीय आन्दोलन के प्राण बने रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी का योगदान इस बात से

स्पष्ट है कि गांधीजी द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेश किये जाने के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन के काल को ‘गांधी युग’ से नाम से पुकारा जाने लगा। उन्होंने असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन आदि— एक के बाद एक



भारतीय शासन राजनीति

राष्ट्रीय आन्दोलनों का संचालन करते हुए भारत को स्वतंत्रता की ओर अग्रसर किया और भारतीय जनता के द्वारा उन्हें 'राष्ट्रपिता' के नाम से सम्बोधित किया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका योगदान निम्न तथ्यों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप देना— भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी के आगमन के पूर्व उदारवादियों के द्वारा प्रार्थना पत्रों, स्मृति पत्रों और प्रतिनिधि — मण्डलों की नीति और मार्ग अपनाते हुए भारतीय जनता के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था। बाल, लाल और पाल की त्रिमूर्ति से इसे नयी दिशा देने का प्रयत्न किया, लेकिन उनके समय तक भी राजनीति बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग तक ही सीमित रही। महात्मा गांधी के द्वारा पहली बार जन-जन को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ने का कार्य किया गया। अंग्रेज लेखक कूपलैण्ड स्वीकार करते हैं कि "उन्होंने वह काम किया, जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी आन्दोलन और जनता का आन्दोलन बना दिया।"

(2) आन्दोलन को नया रूप प्रदान करना 1919 के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन की दो प्रमुख धाराएँ थीं। उदारवादियों द्वारा राजनीतिक शिक्षावर्षा का मार्ग अपनाया जा रहा था और वे क्रांति अनुवादवादी बल पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील थे। गांधीजी ने इन दोनों ही मांगों की अपूर्णताओं को समझा और आदर्श एवं परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए 'अहिंसात्मक क्रांति' के मार्ग का प्रतिपादन किया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में विष्व के महानतम साम्राज्यवादी राज्य के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन किया गया और इसके बल पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की गयी। महात्मा गांधी का वह कार्य विष्व इतिहास के लिए नयी चीज था।

(3) नवीन कार्यक्रम का प्रतिपादन — महात्माजी के द्वारा भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नवीन कार्यक्रम प्रदान किया गया। अपने असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अन्तर्गत उनके द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया गया कि भारतीय जनता के द्वारा अपने आपको ब्रिटिश शासन की शिक्षण संस्थाओं, नौकरियों, अदालतों, उत्सवों और दरबारों से अलग कर लिया जाना चाहिए, विदेशी माल का बहिष्कार किया जाना चाहिए और ब्रिटिश सरकार को कर नहीं दिये जाने चाहिए। इस प्रकार के कार्यक्रम का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने भारतीय जनता से कहा कि यदि जनता ब्रिटिश शासन को सहयोग देना बन्द कर दें, तो भारत में ब्रिटिश शासन ठप्प हो सकता है।

(4) रचनात्मक कार्यक्रम का प्रतिपादन महात्मा गांधी द्वारा संचालित राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति ही नहीं, बल्कि एक नवीन और सभी दिशाओं में उत्थानकारी भारत का अभ्युदय था। उन्होंने भारतीय जनता की गिरी हुई सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया और इन क्षेत्रों में उसे उन्नत करने का प्रयास किया। इस हेतु उन्होंने कई रचनात्मक कार्यक्रम चलाये जैसे—नारियों का उत्थान, गृह उद्योग का प्रचार, नये चरखे चलाना और मद्य निषेध, आदि। वे अपने इन रचनात्मक कार्यक्रमों के आधार पर एक सर्वोदय समाज की स्थापना करना चाहते थे। (5) राष्ट्रीय आन्दोलन की बाधाएँ — साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता के अन्त का कार्य — गांधीजी के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन की दो सबसे बड़ी बाधाएँ — साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता के अन्त का कार्य किया गया। वे अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का कलंक मानते थे और इस बात को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे कि दलित वर्गों को समाज के अन्य वर्गों से पृथक् रखते हुए उन्हें हीन समझा जाय। वे साम्प्रदायिकता को भारतीय जीवन का विश मानते थे और उनके द्वारा सदैव ही हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया गया। साम्प्रदायिकता के विश को समाप्त करने के प्रयत्नों में ही 30 जनवरी 1948 को उनके द्वारा अपने जीवन की आहुति दे दी गयी।

(6) राजनीति का अध्यात्मिकरण करना राजनीति को महात्मा गांधी की स्थायी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण देन है राजनीति का अध्यात्मिकरण द्वा गांधीजी वास्तव में एक आध्यात्मिक संस्था के निर्माण के द्वारा तत्कालीन भारतीय जीवन की विषेश परिस्थितियों के कारण राजनीति

में प्रवेश कर राजनीति का अध्यात्मीकरण किया गया। राजनीति के सम्बन्ध में वे कहते थे, जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे यह नहीं समझते कि धर्म का अर्थ क्या है, धर्म से पथ्यक कोई राजनीति नहीं हो सकती। धर्म से पथ्यक राजनीति तो मष्यु जाल है क्योंकि यह आत्मा का हनन करती है।”

वास्तव में, गांधीजी एक महामानव थे और भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन बहुत कुछ सीमा तक गांधीजी के कार्यों का लेखा-जोखा है। 30 जनवरी, 1948 को उनकी मष्यु पर डॉ० स्टेनले ने लिखा है, ‘हत्यारे ने गोलियाँ महात्मा गांधी और उनके विचारों का अन्त करने के लिए चलायी थीं, परन्तु उनका फल यह हुआ कि वे विचार स्वच्छन्द हो गये और मानव जाति की थाती बन गये। मष्यु में वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलषाली हो गये।”

सारांष :

वास्तव में, गांधीजी एक महामानव थे और भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन बहुत कुछ सीमा तक गांधीजी के कार्यों का लेखा-जोखा है। 30 जनवरी, 1948 को उनकी मष्यु पर डॉ० स्टेनले ने लिखा है, ‘हत्यारे ने गोलियाँ महात्मा गांधी और उनके विचारों का अन्त करने के लिए चलायी थीं, परन्तु उनका फल यह हुआ कि वे विचार स्वच्छन्द हो गये और मानव जाति की थाती बन गये। मष्यु में वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलषाली हो गये।”

स्व. प्रगति परीक्षणके उत्तर

1. 4. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आधार तैयार करना – यद्यपि उदारवादियों के द्वारा स्वयं गम्भीरतापूर्वक स्वतंत्रता की मांग या इस हेतु कोई आन्दोलन नहीं किया गया, लेकिन उन्होंने एक पष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर ही भविष्य में स्वतंत्रता हेतु विभिन्न

□ आन्दोलन किए जा सके। के. एम. मुन्षी लिखते हैं कि “यदि पिछले 30 वर्षों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था में गांधीजी का कोई महान् आन्दोलन सफल न होता।” प्रारम्भिक कांग्रेसियों की भीरुता और भिक्षावषत्ति को उपहास की दृषिट से देखना अत्यन्त सुगम है, परन्तु जैसा कि डॉ. पट्टाभि सीतारमैया लिखते हैं कि, “जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियां अपनायीं, उनके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव से 6 फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गढ़े हैं, क्या उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो आधार है जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम औपनिवेशिक स्वषासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होम रूल, उसके बाद स्वराज तथा सबके षीर्ष पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें एक के बाद एक ही बन सकी है।”

2. 1905 का बनारस अधिवेषन— भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय से कांग्रेस संगठन का प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था। 1905 के बनारस अधिवेषन में बाल गंगाधर तिलक ने व उग्र राष्ट्रवादियों के एक वर्ग ने उदारवादियों की ‘राजनीतिक भिक्षावषत्ति (चसपजपबंस डमदकपबंदबल) की नीति की तीव्र निन्दा की और इस बात का प्रतिपादन किया कि संगठित निष्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाकर ही भारत के राष्ट्रीय जीवन पर विदेशी नौकरषाही के प्रभुत्व का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश माल और सरकारी षिक्षण संस्थाओं का भी संगठित और निरन्तर बहिष्कार किया जाना चाहिए, लेकिन उदारवादी निष्क्रिय प्रतिरोध को न्यूनाधिक रूप में अव्यावहारिक मानते थे और उनका विचार था कि इससे राष्ट्रीय प्रगति अवरुद्ध ही होगी। उदारवादियों को अब भी ब्रिटिश राष्ट्र की न्याय भावना और संवैधानिक साधनों की प्रभावषीलता में विष्वास था। कांग्रेस के दोनों . वर्गों में स्वराज्य की व्याख्या में भी भेद था।

उदारवादियों तथा उग्रवादियों के उपर्युक्त मतभेद के कारण 1907 के सूरत अधिवेषन में कांग्रेस विधिवत् रूप से दो वर्गों में बंट गयी— उदारवादी कांग्रेस तथा उग्रवादी कांग्रेस



भारतीय शासन राजनीति

किसी भी पराधीन देश द्वारा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति उसी समय की जा सकती हैं जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला वर्ग स्वयं त्याग करने का इच्छुक हो। अधिकांश उदारवादी नेताओं में इस प्रकार की त्याग भावना का अभाव था, लेकिन उग्रवादी नेता प्रत्येक त्याग और कष्ट के लिए तत्पर थे। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल वास्तविक अर्थों में लोकनायक थे। 1908 में तिलक को गिरफ्तार करने और उनके साथ किए गए अन्याय ने जनता को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि कई जगह दंगे हो गये। बम्बई की मिलों के मजदूरों ने सरकार के इस कार्य के विरोध में एक व्यापक हड़ताल की। लेनिन ने इस हड़ताल को भारत के श्रमिक वर्ग की पहली राजनीतिक कार्यवाही बताया था। इस प्रकार उग्रवादियों ने अब तक के वैधानिक आन्दोलन को वास्तविक राष्ट्रीय आन्दोलन और जन आन्दोलन की दिशा प्रदान की।

क्रिप्स मिशन और क्रिप्स योजना

युद्ध के प्रारम्भिक चरण में ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। 1941 में जब जापानी सेनाएं बर्मा में भारत की सीमा तक आ पहुँचीं, तो ब्रिटिश सरकार को चिन्ता हुई। ब्रिटिश सरकार ने सोचा कि जापान के सम्भावित आक्रमण से भारत की रक्षा का कार्य भारत की राजनीतिक शक्तियों के सहयोग से ही सम्भव है। अतः प्रधानमंत्री चर्चिल ने राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए मार्च 1942 में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। मई 1942 में क्रिप्स के द्वारा अपनी योजना पेश की गयी, जिसके दो भाग थे: अन्तरिम योजना और दीर्घकालीन योजना। योजना में युद्ध समाप्ति पर भारत को स्वतंत्रता देने की बात कही गयी थी लेकिन युद्ध होते रहने तक सुरक्षा विभाग ब्रिटिश शासन के अधिकार में रखने के लिए कहा गया। उस समय युद्ध की स्थिति ऐसी थी कि किसी भी दीर्घकालीन योजना की अपेक्षा तत्कालीन योजना में ही अधिक रुचि हो सकती थी और कांग्रेस सुरक्षा विभाग के सम्बन्ध में क्रिप्स योजना के प्रबन्ध को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। गांधी जी ने क्रिप्स योजना को दिवालिया बैंक के नाम भविष्य की तिथि में मुनने वाले चौक (च्चेज-कंजमक बीमुनम वद बतौपदह इंदा) की संज्ञा दी थी। कांग्रेस तथा भारत के अन्य राजनीतिक दलों ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

माउण्टबेटन योजना स्वीकार करना जब लीग और कांग्रेस दोनों के द्वारा माउण्टबेटन योजना को स्वीकार कर लिया गया तो भारतीय स्वतंत्रता के मार्ग की साम्प्रदायिक बाधा भी नष्ट हो गयी और इसलिए भारत को सरलतापूर्वक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकी।

वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता किसी एक तत्व का परिणाम नहीं, वरन् अनेक तत्वों का सामूहिक परिणाम थी। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ठीक ही लिखते हैं कि “भारतीय स्वतंत्रता” समय की गति और परिस्थितियों के दबाव का परिणाम थी।” स्वतंत्रता के बाद डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लार्ड माउण्टबेटन के प्रति ‘धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तावित करते हुए कहा था, “जहाँ स्वतंत्रता की प्राप्ति काफी सीमा तक हमारे अपने त्यागों और बलिदानों के फलस्वरूप हुई है, वहीं वह विषय – शक्तियों और घटनाओं का भी परिणाम है। इसके साथ ही यह ब्रिटिश जाति के लोकतन्त्रात्मक आदर्शों और ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ही है।”

अभ्यास

प्रश्न

1. 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का अंग्रेजी हुकूमत पर क्या प्रभाव पड़ा ?
2. भारत में राष्ट्रवाद के उदय के क्या कारण थे? वर्णन करें?
3. अंग्रेजों द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किये जाने के क्या उद्देश्य थे?
4. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादी पक्ष की व्याख्या करें।

5. उग्र राष्ट्रियता के उदय के कारणों की विस्तृत समीक्षा करें।
6. असहयोग आन्दोलन के कारण एवं परिणामों की विवेचना करें।
7. गोलमेज सम्मेलनों के प्रस्तावों और परिणामों पर टिप्पणी लिखें।
8. भारत छोड़ो आन्दोलन ने भारत में अंग्रेजों के प्रस्थान का बिगुल बजा दिया। इस कथन की समीक्षा करें।
9. भारतीय राष्ट्रिय प्राप्ति में कौन-कौन से तत्व सहायक थे? व्याख्या करें।



भारतीय शासन राजनीति

माड्यूल 2

भारतीय संविधान और उसके स्रोत

इकाई 5

भारतीय संविधान और उसके स्रोत

इस अध्याय के अन्तर्गत : परिचय

कैबिनेट मिशन योजना और भारतीय संविधानसभा के जन्म,

संगठन एवं कठिनाइयाँ .

पूर्ण प्रभुत्व संपन्न संविधानसभा

संविधान का गठन, इसके स्रोत, प्रथाएँ एवं परंपराएँ

संविधान की प्रस्तावना

भारतीय संविधान की विशेषताएँ

भारतीय संविधान का एकात्मकता की ओर झुकाव

एकात्मक तत्व

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे :

: 'कैबिनेट मिशन योजना और भारतीय संविधानसभा के जन्म, संगठन एवं कठिनाइयों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जान सकेंगे कि भारतीय संविधानसभा किस तरह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संविधानसभा बन सका ।

भारतीय संविधान की विशेषताएँ समझ सकेंगे ।

: जान सकेंगे कि भारतीय संविधान का एकात्मकता की ओर झुकाव कैसे है?

: भारतीय संविधान की एकात्मक तत्व को समझ सकेंगे ।

परिचय :

'संविधान' किसी राज्य के अन्तर्गत उन मौलिक सिद्धान्तों का संकलन है जिनके द्वारा सरकार का संगठन होता है। इसके द्वारा सरकार की शक्तियों और शक्तियों के अधिकारों तथा सम्बन्धों की व्यवस्था की जाती है। लॉर्ड ब्राइस के कथनानुसार, "संविधान उन नियमों के संकलन को कहते हैं जो किसी राज्य की सरकार की बनावट तथा राज्य एवं नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य को निश्चित करता हो । सरकार के तीन अंग होते हैं कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका । संविधान का काम होता है कि वह इन तीनों की बनावट, कार्य, अधिकार आदि निश्चित करे।"।

संविधानसभा की मांग 26 जनवरी, 1950 के पूर्व भारत में इस प्रकार का कोई संविधान नहीं था । हमारे देश का शासन ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा निर्मित 1934 के अधिनियम में थोड़े परिवर्तन के बाद एक डोमिनियन संविधान के अनुसार चलता था । लेकिन भारत में संविध

गान निर्माण का काम भी चल रहा था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ भारतीय जनता भारत के संविधान के लिए एक संविधानसभा की माँग बहुत दिनों से कर रही थी। जिस समय यह माँग की जा रही थी उस समय भारत में ब्रिटिश संसद के बनाये हुए संविधान के अनुसार शासन चल रहा था। जब देश के भीतर स्वराज्य की माँग प्रबल हुई तो उसका स्वाभाविक प्रयोजन था कि भारत के लिए संविधान बनाने का अधिकार भारत की जनता के प्रतिनिधियों को होना चाहिए। 1935 के अधिनियम की घोशणा से पहले ही गाँधीजी ने भारत के लिए एक प्रतिनिधिसभा का प्रस्ताव देश और सरकार के समक्ष रखा था जो देश के लिए संविधान बनाने का काम करती। कांग्रेस ने 1934 में संविधानसभा बनाने के बारे में एक माँग और प्रस्ताव पेश किया। 1935 में जब भारत सरकार अधिनियम की घोशणा की गयी तो कांग्रेस उससे बहुत अप्रसन्न हुई और उसने अपने फैजपुर अधिवेशन में 1936 में एक प्रस्ताव पास में किया जिसमें उसने संविधानसभा का उल्लेख किया, “कांग्रेस का लक्ष्य भारत में एक वास्तविक लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना है, जिसमें सत्ता सम्पूर्ण जनता को सौंप दी जाय और सरकार उसके प्रभावशाली नियंत्रण में रहे। ऐसे राज्य की स्थापना केवल एक ऐसी संविधानसभा द्वारा ही हो सकती है जो अन्तिम रूप से देश के संविधान का निर्णय कर सके।”

कांग्रेस ने 1939 में द्वितीय महायुद्ध शुरू होने पर पुनः यह माँग दुहराई और सरकार को कहा कि यदि भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न संविधानसभा बनाने का अधिकार दिया जाय तो भारत युद्ध में अँग्रेजों का साथ दे सकता है। कांग्रेस कार्यसमिति ने अपने एक प्रस्ताव में कहा कि “एक स्वतंत्र देश का संविधान बनाने के लिए संविधानसभा ही एकमात्र लोकतांत्रिक मार्ग है तथा जो लोग लोकतंत्र और स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं वे इससे इन्कार नहीं कर सकते।” इस सम्बन्ध में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि “अगर इसे स्वीकार किया जाय—जैसा कि होना चाहिए—कि राजनीतिक और राष्ट्रीय रूप से भारतीय ही अपने भाग्य के एकमात्र निर्णायक हों और इसलिए अपना विधान तैयार करने की उन्हें पूरी आजादी हो तो इससे यह अर्थ निकलता है कि ऐसा एक राष्ट्रीय पंचायत (संविधानसभा) द्वारा ही हो सकता है।” महात्मा गाँधी ने भी इस विचार का समर्थन किया और उन्होंने ‘हरिजन’ के 25 नवम्बर, 1939 के अंक में लिखा कि “सिर्फ राष्ट्रीय पंचायत ही एक ऐसा संविधान बना सकती है जो देशी हो और जो ठीक-ठीक और पूरी तरह जनमत का प्रतिनिधित्व कर सके।”

कैबिनेट मिशन योजना और भारतीय संविधानसभा का जन्म द्वितीय

विष्वयुद्ध की समाप्ति पर जुलाई, 1945 में ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ। इसमें मजदूर दल विजयी हुआ और उसी की सरकार बनी। इस दल ने चुनाव के पहले ही यह घोशणा की थी कि यदि वह विजयी होगा तो भारत को स्वतंत्र कर देगा। 19 फरवरी, 1946 को मजदूर — सरकार की ओर से एक घोशणा हुई। इसमें कहा गया था कि भारत का राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों का एक षिष्टमंडल भारत जायेगा। मार्च, 1946 में षिष्टमंडल भारत पहुँचा। भारतीय समस्या के समाधान के लिए इसने एक योजना प्रस्तुत की जिसे कैबिनेट मिशन योजना कहते हैं। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं 1. षिष्टमंडल ने भारत के विभाजन को असम्भव बतलाकर उसका विरोध किया। 2. देश के शासन के लिए एक संघ कार्यम हो जिसका वैदेशिक सम्बन्ध, सुरक्षा और यातायात पर नियंत्रण रहे। शेष विशयों में प्रान्त एकदम स्वतंत्र रहें। 3. भारत के लिए संविधान तैयार करने के लिए एक संविधानपरिशद की स्थापना हो। 4. जब तक नया संविधान नहीं बन जाता तब तक शासन चलाने के लिए अस्थायी सरकार बने जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के प्रतिनिधि शामिल

संविधान का जन्म कैबिनेट मिशन योजना में अनेक बातें कहीं गयी थीं। पर इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात भारत के लिए एक संविधानसभा के संगठन से सम्बद्ध थी। कैबिनेट मिशन योजना में सम्पूर्ण भारत के लिए एक संविधान बनाने के लिये एक संविधानसभा के निर्माण की व्यवस्था की गयी थी। समस्त भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए संविधान



भारतीय शासन राजनीति

गानसभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होना उचित होता, लेकिन इसमें अत्यधिक विलम्ब होने का भय था। अतः षिष्ट मंडल ने यह प्रस्ताव रखा कि संविधानसभा का निर्वाचन प्रान्तीय विधानमंडलों द्वारा हो। भारतीय नेताओं ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

संविधानसभा का संगठन कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार, संविधान निर्माण के लिए संविधानसभा के संगठन तथा निर्माण का निष्पत्ति किया गया। संविधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा होना तय किया गया था। सदस्यों के निर्वाचन का आधार जनसंख्या और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण था। ऐसा निश्चित किया गया था कि प्रति दस लाख व्यक्तियों पर एक सदस्य का चुनाव हो। जिस संविधानसभा का निर्माण इस निर्वाचनों के फलस्वरूप होना था वह पूर्णप्रभुत्व सम्पन्न संस्था न थी और उसकी शक्तियाँ सीमित थीं यह संविधानसभा ब्रिटिश संसद के अधीन थी। इसके कार्य के लिए भी एक निर्दिष्ट विधि की व्यवस्था थी। जुलाई में संविधानसभा के सदस्यों का चुनाव हुआ। इसमें सभी राजनीतिक दलों ने भाग लिया। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये निर्वाचन केवल ब्रिटिश भारत के 296 स्थानों के लिए ही थे। इसमें कांग्रेस को 21.1 तथा मुस्लिम लीग को 73 स्थान प्राप्त हुए थे।

संविधानसभा की कठिनाइयाँ संविधानसभा की प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई। आरम्भ में ही इसके समक्ष कई कठिनाइयाँ आयीं। सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सभा के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करेगा। इस सम्बन्ध में वायसराय लॉर्ड वेवेल का कहना था कि चूँकि संविधानसभा का निर्माण ब्रिटिश सरकार ने किया है इसलिए उसका पहला अध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार वायसराय को होना चाहिए। पंडित जवाहरलाल का कहना था कि संविधानसभा एक प्रभुता सम्पन्न संस्था थी, अतः वायसराय को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं है। आखिरकार संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस की परंपरा के अनुसार सभा के सबसे वयोवृद्ध सदस्य डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा को अध्यक्ष बनाया गया। बाद में 19 दिसम्बर को डॉ. राजेंद्र प्रसाद सभा के स्थायी अध्यक्ष नियुक्त हुए। संविधान

स्वप्रगति की जाँच करें :

1. भारतीय संविधान का निर्माण किस तरह हुआ और इसे किस तारीख से सारे देश में लागू कर दिया गया।
2. भारतीय संविधान के अन्तर्गत

कुछ प्रथाएँ भी हैं। क्या आप इन्हें स्पष्ट कर सकते हैं?

संविधानसभा का अधिवेशन नयी दिल्ली में विधानसभा भवन के पुस्तकालय हॉल में हो रहा था जिसके अन्दर की दीवारों पर पुराने गवर्नर-जनरलों के चित्र लटक रहे थे। संविधानसभा के सदस्यों को यह बहुत अटपटा लग रहा था कि इस प्रकार वे उन लोगों के चित्रों के साक्ष्य में भारत के नये संविधान को तैयार करें जो देश में विदेशी शासन के प्रतीक थे। इस समस्या का भी समाधान हो गया, उन चित्रों को वहाँ से उतारकर कहीं अन्यत्र पहुँचा दिया गया। संविधानसभा के समक्ष कुछ और वैधानिक और राजनीतिक कठिनाइयाँ थीं। पहला प्रश्न तो यह था कि क्या संविधानसभा संविधान बनाते समय मिशन-योजना के उन अंशों से बँधी हुई थी कि वह केवल चार विषय ही संघीय सरकार को देंगी और शेष प्रान्तों को। दूसरा प्रश्न यह था कि क्या प्रान्तों का समूहीकरण कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार अनिवार्य था। इस बारे में वायसराय ने कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद को यह आश्वासन दिया था कि समूहीकरण अनिवार्य नहीं है। परन्तु मुस्लिम लीग उसे अनिवार्य मानती थी। बाद में ब्रिटिश सरकार ने भी इस विचार का समर्थन किया। एक और कठिनाई यह थी कि लीग संविधानसभा में नहीं आ रही थी और यह भी ज्ञात नहीं हो पा रहा था कि अन्ततः वह आयेगी या नहीं। इस कारण संविधानसभा अपने काम को किस प्रकार आगे बढ़ा सकेगी, इसके बारे में सबके मन में सन्देह था। परन्तु संविधानसभा अपने काम से जुट गयी और वह 3 जून 1947 को देश के विभाजन से पहले अपने तीन अधिवेशन कर चुकी थी, उसकी विविध

समितियों आदि का निर्माण हो चुका था और पहले अधिवेशन में ही 13 दिसम्बर को पंडित जवाहरलाल ने उसके सामने उद्देश्य सम्बन्धी प्रस्ताव रखा जो स्वीकार कर लिया गया। उस प्रस्ताव में कहा गया था कि संविधानसभा एक प्रभुतासम्पन्न सभा है और उसकी सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता है तथा यदि कोई चुनौती देगा तो हम उसे स्वीकार करते हैं और अपनी स्थिति पर सुदृढ़ हैं। उसमें यह भी कहा गया कि यह प्रस्ताव देश की जनता के प्रति एक पवित्र प्रतिज्ञापत्र है। पहले अधिवेशन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह पारित किया गया कि संविधानसभा को बिना उसके कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत के अन्य किसी प्रकार विघटित नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार सभा ने अपनी प्रभुता स्थापित कर ली।

पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संविधानसभा कैबिनेट मिशन योजना द्वारा जिस संविधान परिशद का उद्भव हुआ था, उसकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि वह पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न परिशद नहीं थी। उस पर कुछ ऐसी पाबन्दियाँ लगी हुई थीं जिनके कारण उसका स्वरूप ब्रिटिश संसद की अधीनस्थ संस्था—सा हो गया था। उदाहरण के लिए, कैबिनेट मिशन योजना में उल्लिखित शासन की किसी महत्वपूर्ण रूपरेखा में वह परिवर्तन नहीं कर सकती थी। सभा का यह स्वरूप तुरंत ही बदल गया और वह पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न संविधानसभा हो गयी। 15 अगस्त, 1947 को दोनों देश स्वतंत्र हो गये। साथ ही, कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार निर्मित संविधानसभा को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। इन संविधानसभाओं को अपने-अपने राज्य के लिए संविधाननिर्माण कार्य के अतिरिक्त उपनिवेशों की संसद के रूप में सभी प्रकार के विधि निर्माण के भी पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गये। भारतीय संविधान

नपरिशद अब एक पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संविधानसभा बन गयी।

संविधान का निर्माण

ऊपर बताया जा चुका है कि संविधानसभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को हुई। सभा ने अपने काम में सुगमता लाने के लिए अनेक समितियों का निर्माण किया। तत्पश्चात् संविधान का प्रारूप (कतंजि) तैयार करने के लिए संविधान परिशद ने 29 अगस्त, 1947 को डॉ. बी. आर. अम्बेदकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति बनायी। इस समिति ने काफी सोच समझकर संविधान का प्रारूप तैयार किया जो फरवरी, 1948 इसे

संविधान परिशद में पेश किया गया। 144 दिनों तक इस प्रारूप पर विचार होता रहा और उसमें 2473 संशोधन पेश किये गये। 26 नवम्बर, 1949 को संविधान अन्तिम रूप में कई संशोधनों के बाद स्वीकार कर लिया गया। स्वीकृत संविधान में 395 धाराएँ तथा 8 परिशिष्ट थीं। 26 जनवरी, 1950 के दिन हमारा यह संविधान सारे देश में लागू कर दिया गया। इस प्रकार, विषय के राजनीतिक रंगमंच पर एक पूर्ण स्वतंत्र और संप्रभुसत्तासम्पन्न गणतंत्र का प्रादुर्भाव हुआ।

संविधान के स्रोत

1935 का अधिनियम

1935 का अधिनियम वर्तमान भारतीय संविधान का एक

मुख्य स्रोत है। इस दोनों में ये समानताएँ हैं।

1. दोनों का रूप संघीय है तथा दोनों में ही केंद्र को अधिक शक्ति प्रदान की गयी है। जिन सूचियों के आधार पर संघ तथा राज्यों में शक्ति-विभाजन किया गया है — उनमें भी समानता है। दोनों में ही संसदीय शासन-प्रणाली की व्यवस्था की गयी है।

2. दोनों ही विस्तृत हैं तथा न केवल केंद्रीय सरकार के मुख्य अंगों तक ही अपने को सीमित रखते हैं, वरन् दोनों में ही प्रान्तीय शासनों के सम्बन्ध में भी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।



भारतीय शासन राजनीति

3. दोनों ही संविधानों में तथा कुछ राज्यों में द्विसदनात्मक विधानमंडल की व्यवस्था —की गयी ।

4. दोनों में ही संकटकाल में राज्य अथवा राज्यों में संविधान को विफल घोषित करके केंद्र उनका शासन प्रबन्ध अपने हाथ ले सकता है।

5. 1935 के अधिनियम में प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। कार्यपालिका के प्रमुख होते हुए भी वे भारत सरकार के नियंत्रण में थे तथा उन्हें स्वविवेकानुसार काम करने का अधिकार दिया गया था। नवीन संविधान में राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है तथा वे उसके प्रसादपर्यन्त अपने पद पर बने रह सकते हैं। वे प्रान्तों में केंद्रीय शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उन्हें भी कुछ स्वविवेक शक्तियाँ दी गयी हैं।

इन समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ विभिन्नताएँ भी हैं। ये निम्नलिखित हैं—

1. 1935 का शासन — अधिनियम एक विदेशी शासन द्वारा भारतीयों पर बलात् लादा गया था तथा उसके निर्माण में भारतीयों का कोई हाथ न था। नवीन संविधान भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया गया।

2. 1935 का अधिनियम भारतीय शासन पर अन्तिम शक्ति ब्रिटिश संसद को प्रदान करता था, परन्तु अब भारतीय संसद सर्वोच्च हुई तथा किसी प्रकार के नियंत्रण के अधीन नहीं रही।

3. 1935 के अधिनियम में अविशिष्ट शक्तियाँ गवर्नर जनरल के हाथ में थीं अर्थात् वही इस बात का निर्णायक था कि कौन सी अविशिष्ट शक्ति केन्द्र को दी जाय तथा कौन—सी प्रान्तों के हाथ में रहे। नवीन संविधान ने अविशिष्ट शक्तियाँ संघीय शासन को प्रदान कीं।

4. 1935 के अधिनियम में नागरिकों को कोई मूल अधिकार नहीं प्रदान किये गये थे। नवीन संविधान में नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये जो न्यायालय द्वारा लागू कराये जा सकें।

5. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत मताधिकार सीमित थाय पर अब प्रत्येक वयस्क को मताधिकार प्राप्त हुआ।

6. नवीन संविधान में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का अन्त कर दिया गया तथा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की घोषणा की गयी।

7. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत जिस संघीय शासन की स्थापना होती, उसकी स्थापना होना अथवा न होना देशी राज्यों की स्वेच्छा पर निर्भर था तथा चूँकि उन्होंने संघीय शासन की स्थापना में कोई रुचि नहीं दिखायी थी, अतः अधिनियम का संघीय भाग कार्यान्वित न किया जा सका। नवीन संविधान में देशी राज्यों का एकीकरण कर उन्हें विभिन्न राज्यों में शामिल कर दिया गया। पुराने अधिनियम के अन्तर्गत देशी रियासतों की जनता को स्वशासन सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं दिया गया था, परन्तु अब देशी राज्यों की जनता भारत की जनता बन गयी तथा उसे भी बिना किसी प्रकार के भेदभाव के समान अधिकार प्रदान किये गये।

8. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित सर्वोच्च न्यायालय देश का उच्चतम न्यायालय नहीं था तथा कुछ मामलों में उसके निर्णय के विरुद्ध प्रिवी काउंसिल में अपील हो सकती थी। अब भारत का सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे बड़ा न्यायालय हुआ।

संसदीय अधिनियम भारत के संविधान ने संसद एवं राज्यों के विधानमंडलों को कई प्रकार के कानून बनाने का अधिकार दिया जो व्यवहार में संवैधानिक कानून ही हैं। इसी अधिकार के अन्तर्गत संसद ने 1956 एवं 1960 में कानून द्वारा राज्यों का पुनर्गठन किया। विधानपरिषद् का निर्माण एवं अन्त विधानसभा के प्रस्ताव पर संसद ही करती है। उदाहरण के लिए, हमारे राज्य की विधानपरिषद् का अन्त भारतीय संसद ने ही किया। तत्पश्चात्

आवश्यकता होने पर संसद ने विधानसभा के प्रस्ताव पर उसे पुनः स्थापित कर दिया। लोकसभा के सदस्यों की संख्या कितनी होगी, इसका निर्णय भी संसद ही करती है। संविधान न भारतीय राष्ट्रपति एवं संसद को नियम बनाने के सिलसिले में कई तरह के अधिकार भी देता है। जैसे संघीय संसद अपने सदन की कार्यप्रणाली के लिए नियम भी बनाती है। राष्ट्रपति को नियम बनाने का भी अधिकार है। वह इसी प्रकार अध्यादेश भी जारी कर सकता है। अतः संवैधानिक कानून के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर जो कानून भारत की संसद या राज्यों के विधानमंडल बनायें या जो अध्यादेश राष्ट्रपति जारी करे और राष्ट्रपति द्वारा इन विषयों के सम्बन्ध में जो भी नियम, विनियम और आदेश निर्धारित किये जाएँ – वे सब भारत के संवैधानिक कानून के अभिन्न अंग हैं।

विगत वर्षों में भारतीय संसद ने कुछ ऐसे अधिनियमों का निर्माण किया है जो संवैधानिक महत्व के हैं। 1950 का जनप्रतिनिधित्व अधिनियम और उसके संशोधन, 1955 का भारतीय नागरिकता अधिनियम और 1946 का राज्य पुनर्गठन अधिनियम को भी भारतीय संविधान के अंग बन चुके हैं।

ब्रिटिश संविधान के कुछ नियम जो भारतीय संविधान के अंग मान लिये गये हैं— हमारे संविधान के बुनियादी सिद्धान्त ब्रिटिश संविधान से लिये गये हैं। यद्यपि उसके नियम हमारे संविधान के अंग नहीं हैं तथापि एक तो हम प्रेरणा और स्पष्टीकरण के लिए उनकी ओर देखते हैं तथा दूसरे, कहीं कहीं हमारे संविधान में यह कहा गया कि ब्रिटिश संविधान के नियम हमारा मार्गदर्शन करेंगे। उदाहरण के लिए, संविधान में अनुच्छेद 105 की धारा 5 में कहा गया है कि जब तक भारतीय संसद कोई नियम निर्धारित न करें तब तक भारतीय संसद के दोनों सदनों, उनके सदस्यों तथा समितियों की शक्तियाँ, विमुक्तियाँ (पउउनदपजपमे) और उनके विशेषाधिकार वही होंगे जो संविधान आरम्भ होने के समय ब्रिटिश संसद के सदनों, उनके सदस्यों व उनकी समितियों को प्राप्त थे। इससे यह संकेत भी मिलता है कि संविधाननिर्माताओं ने यद्यपि इसके बारे में नियम बनाने की शक्ति संसद को दी है, परन्तु उन्होंने ब्रिटिश नियमों के लिए अपनी पसन्द भी प्रकट कर दी है। न्यायालयों द्वारा लेख जारी किये जाने के बारे में भी इसी प्रकार के कुछ नियम स्वीकृत कर लिये गये हैं।

न्यायिक निर्णय भारतीय संविधान से उन न्यायिक निर्णयों का भी बोध हो जाता है जिनका जन्म संविधान की व्याख्या करने के सिलसिले में हुआ। संविधान के शब्दों के अर्थ विभिन्न कालों में विभिन्न हो सकते हैं। फिर भी, सर्वोच्च न्यायालय की व्याख्या सर्वमान्य होती है। इसका कारण यह है कि किसी भी देश के संवैधानिक कानूनों के अर्थ तथा उस देश के संविधान की सभी धाराएँ पूर्णतः स्पष्ट नहीं होती। यदि संविधाननिर्माण के समय इनके अर्थ पूर्णतः स्पष्ट कर दिये जाये तो भी समय के बदलने पर इनके अर्थ में गड़बड़ी हो जाती है तथा सर्वोच्च न्यायालय को उन धाराओं की व्याख्या करनी पड़ती है। ये व्याख्याएँ भी संविधान की अन्तिम अंग हो जाती हैं। भारतीय संविधान भी इससे नहीं बचा है। कई न्यायिक निर्णय एवं संविधान की व्याख्याएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। इस प्रकार, न्यायिक निर्णय भी भारतीय संविधान के अभिन्न अंग हैं।

प्रथाएँ एवं परम्पराएँ

:संविधान लिखित हो अथवा अलिखित, कालान्तर में कुछ

प्रथाओं का विकास हो ही जाता है। संविधान चाहे कितना भी सुस्पष्ट क्यों न हो या कितना भी विषाल क्यों न बनाया जाय, परन्तु उसके अतिरिक्त भी कुछ प्रथाएँ एवं परम्पराएँ चल ही पड़ती हैं। भारत की शासन-प्रणाली भी कुछ महत्वपूर्ण मौलिक प्रथाओं पर आधृत है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अधिक उचित होगा कि यद्यपि शासन-संचालन प्रथा या परम्परा के उन अलिखित नियम के द्वारा तो होता है, परन्तु इसके पीछे कोई भी कानूनी आधार नहीं है। फिर भी, यह राज्य के लिए एक आदत है जिसके अनुसार वह अपने शासन को चलाता है। मुनरों ने ठीक ही कहा है, “व्यक्ति के लिए आदत का जो स्थान है वही राज्य के लिए प्रथाओं



भारतीय शासन राजनीति

का है।" इक्कीस वर्ष के जीवन में भारतीय संविधान में कुछ ऐसी ही परम्पराएँ एक चल पड़ी हैं। ये परम्पराएँ एवं प्रथाएँ भी भारतीय संविधान का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। उदाहरण के लिए, संविधान में कहीं यह बात नहीं कही गई है कि राष्ट्रपति किसी मंत्री को प्रधानमंत्री के कहने पर हटा देगा। संविधान में तो कहा गया है कि कोई भी मंत्री राष्ट्रपति के इच्छाकाल तक ही अपने पद पर रह सकेगा। परन्तु एक परम्परा चल पड़ी है कि कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध (यद्यपि राष्ट्रपति उसे चाहे) रहकर उसके मंत्रिमंडल में नहीं रह सकता। इसलिए प्यामाप्रसाद मुखर्जी, अम्बेडकर या देशमुख को प्रधानमंत्री से असहमत होकर हट जाना पड़ा।

संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक देश के संविधान की एक प्रस्तावना होती है जिसमें उस देश के संविधान के आदर्शों की झाँकी मिलती है। किसी देश के संविधान की प्रस्तावना उसी उद्देश्य को पूरा करती है जो किसी पुस्तक की प्रस्तावना करती है। वस्तुतः किसी देश के संविधान की प्रस्तावना सम्पूर्ण संविधान की कुंजी होती है। पालन्डे के शब्दों में, "प्रस्तावना – जो संविधान का अंग नहीं है— संविधान के स्रोत, आदर्श, लक्ष्य और राजनीतिक ढाँचा आदि की घोषणा करती है।" अन्य देशों के संविधान की ही तरह हमारे भारतीय संविधान की भी एक प्रस्तावना है जिसके सम्बन्ध में पालन्डे ने ठीक ही लिखा है, "भारतीय संविधान की प्रस्तावना उन आदर्शों एवं लक्ष्यों की षानदार घोषणा है जिन्हें भारतीय जनता ने अपने सामने रखा है और जिन्हें वह उस राजनीतिक ढाँचे के द्वारा प्राप्त करना चाहती है जिसे उसने जानबूझकर अपने लिए रचा है।"

हमारे संविधान की प्रस्तावना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह स्वतंत्र भारत के लिए गाँधीजी की विचारधारा पर आधारित है। जब 1931 में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए लंदन—यात्रा कर रहे थे तो जहाज पर ही एक समाचारपत्र के संवाददाता के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने भारत के भावी संविधान से सम्बद्ध अपना विचार इन शब्दों व्यक्त किया था, "मैं एक ऐसे संविधान के लिए प्रयत्न करूँगा जो भारत को सब तरह के दासत्व और आश्रय से मुक्त कर दे और यदि आवश्यकता हो

तो उसे पाप करने का भी अधिकार दे। मैं एक ऐसे भारत के लिए प्रयत्न करूँगा जिसमें गरीब से गरीब व्यक्ति भी महसूस करे कि यह उसका देश है, जिसके निर्माण में उसकी प्रभावशाली आवाज है, जिसमें न तो उच्चवर्ग रहेगा और न निम्नवर्ग, जिसमें सब जातियाँ पूरे मेलजोल से रहेंगी। ऐसे भारत में न तो छुआछूत के अभिषाप के लिए गुंजाइश हो सकती है और न नषीले द्रव्यों एवं औशधियों के लिए। महिलाओं के वे ही अधिकार होंगे जो पुरुषों के हैं। क्योंकि हमें संसार के पेशे देशों के साथ शांतिपूर्वक रहना है— न किसी का शोषण करना है और न भ्रमित होना है। इसलिए हमारी इतनी छोटी सेना होगी जितनी कि कल्पना की जा सकती है। विदेशी हो या देशी, उस प्रत्येक व्यक्ति के हितों की रक्षा की जाएगी जो कोटि—कोटि मूल जनता के हितों से टकराता न हो। व्यक्तिगत रूप से मैं विदेशी और देशी के बीच भेदभाव से घृणा करता हूँ यह है मेरे स्वप्नों का भारत।"

वस्तुतः, हमारे संविधान की प्रस्तावना में गाँधीजी की यही विचारधारा देखने को मिलती है। एम० वी० पायली ने ठीक ही कहा है, "यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सिर्फ प्रस्तावना में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण संविधान में स्वतंत्र भारत के सम्बन्ध में गाँधीजी की विचारधारा गूँजती है।" हमारे संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है—

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विष्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित कराने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढसंकल्प होकर अपनी इस संविधानसभा में आज तारीख 28 नवम्बर,

1949 को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।” हमारे संविधान की प्रस्तावना का महत्व कई दृष्टिकोणों से है जिनमें निम्नलिखित

मुख्य हैं : सार्वजनिक सम्प्रभुता – सर्वप्रथम हमारे संविधान की प्रस्तावना इसकी घोशणा करती है कि समस्त सत्ता और शक्तियों का स्रोत जनता होगी। हमारे संविधान की प्रस्तावना ‘हम भारत के लोग’ से प्रारम्भ होती है। यहाँ अमेरिका और आयरलैंड के संविधान से प्रभावित होकर इस तरह के शब्दों का प्रयोग किया गया है। हमारी प्रस्तावना में कहा गया है कि ‘हम भारत के लोग संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित तथा आत्मार्पित करते हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि संविधान का निर्माण भारत की जनता ने किया है। भारत की जनता समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत है। हमारे संविधान का निर्माण जनता के प्रतिनिधियों द्वारा जनता के नाम से किया गया है। इस तरह हमारी प्रस्तावना से यह प्रकट होता है कि भारत में सार्वजनिक सम्प्रभुता स्थापित की गयी है। डॉ. अम्बेडकर ने संविधानसभा में बोलते हुए ठीक ही कहा था, “मैं कहता हूँ कि यह प्रस्तावना उसी की व्यवस्था करती है जो प्रत्येक सदस्य की इच्छा है और वह यह कि इस संविधान की मूल शक्ति और सम्प्रभुता जनता में रहनी चाहिए।”

संवैधानिक कानून – जो देश का मौलिक कानून होता है के अतिक्रमण का अधि कार न तो किसी सरकार को है और न किसी राजनीतिक दल को ही। संसद और राज्य विधानमंडल द्वारा बने कानून को संविधान के अनुसार ही होना चाहिए। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भारतीय जनता में ही सम्प्रभुता निहित है और सिर्फ जनता ही अपने प्रत्यक्ष प्रतिनिधियों द्वारा संविधान संशोधन कर सकती है।

सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य हमारी प्रस्तावना में कहा गया है कि भारतीय संविधान द्वारा सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गई है। सर्वप्रथम यह समझना है कि सर्वप्रभुत्वसम्पन्न का क्या अर्थ होता है? ‘सर्वप्रभुत्व’ का अर्थ है— वह सर्वोच्च शक्ति जो अपने क्षेत्र में पूर्णरूपेण अनियंत्रित होती है। कूले का कहना है

कि “वह राज्य सर्वप्रभुत्वसम्पन्न कहलाता है जहाँ उसके अपने ही क्षेत्र में उस सर्वोच्च और पूर्ण शक्ति का वास होता है जो अन्य किसी को अपने से बढ़कर नहीं मानती।” इस तरह, भारत के संविधान की इस प्रस्तावना से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भी एक ऐसी राजनीतिक सत्ता की स्थापना की गयी है जिसके ऊपर भारत की सीमा के अन्दर कोई दूसरी सत्ता विराजमान नहीं है। भारत सिर्फ आन्तरिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि बाह्य क्षेत्र में भी पूर्णतः स्वतंत्र और सार्वभौम (वैवमत्तमपहद) है। वह किसी देश या राज्य के कानूनी नियंत्रण से मुक्त है। यह सही है कि भारत अभी भी राष्ट्रमंडल का सदस्य है जिसकी प्रधान ब्रिटेन की रानी हैं, परन्तु उसकी सदस्यता से भारत के सार्वभौम राज्य के अधिकार पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं आता। वर्तमान समय में राष्ट्रमंडल सिर्फ राष्ट्रों के स्वतंत्र संघ के रूप में हैं, और भारत की इच्छा पर निर्भर है कि वह इसका सदस्य रहे या नहीं। पं. नेहरू ने ठीक ही कहा था, “हम लोग राष्ट्रमंडल में इसी कारण सम्मिलित हैं कि हम लोग सोचते हैं कि यह हम लोगों के लिए लाभदायक होगा और बहुत से कारण हैं कि हम संसार में तरक्की करना चाहते हैं।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रमंडल की सदस्यता हमारी इच्छा पर निर्भर है तथा इससे हमारी सार्वभौम सत्ता बची रहती है। किसी लेखक ने ठीक ही लिखा है, “इस प्रकार राष्ट्रमंडल का सदस्य होने के बावजूद भारत सार्वभौम है, क्योंकि राष्ट्रमंडल की सदस्यता बनाये रखने के निष्पक्ष करने का अधिकार ही बताता है कि भारत सार्वभौम राज्य है।” दूसरी बात यह है कि हमारे संविधान की प्रस्तावना द्वारा यह घोशणा की गयी है कि भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य होगा। लोकतंत्र का अर्थ है – ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें उस राज्य की जनता भी भाग ले। यों, लोकतंत्र भी दो तरह का होता है— प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, परन्तु इन दोनों सामान्यतः अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का ही रूप देखने को मिलता है। अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में साधारणतः ये बातें देखने को मिलती हैं, :



1. सभी वयस्कों को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार प्राप्त रहता है।
2. निष्पक्ष निर्वाचन की व्यवस्था रहती है।
3. जनता को विचार, अभिव्यक्ति, संघ-निर्माण आदि की कुछ मौलिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त रहती हैं।
4. राजनीतिक संस्थाओं का निर्वाचन निश्चित अवधि के लिए होता है और इस अवधि में यह संस्थाएँ जनमत के प्रति जिम्मेदार होती हैं

हम लोगों ने भारत में अप्रत्यक्ष लोकतंत्र की ही स्थापना की है और इसमें उपर्युक्त सभी बातें देखने को मिलती हैं। हमारे संविधान की धारा 325 और 326 वयस्क मताधिकार को परिभाषित करती हैं जिसके आधार पर ही हमारी सभी राजनीतिक संस्थाओं का निर्वाचन होता है। संविधान की धारा 324 में स्पष्ट कह दिया गया है कि निर्वाचन का अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण केन्द्र द्वारा होगा ताकि निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था की जा सके। हमारे नागरिकों को मौलिक स्वतंत्रताएँ भी प्रदान की गयी हैं।

विधायिका का निर्वाचन भी प्रत्यक्ष ढंग से जनता द्वारा निश्चित अवधि के लिए होता है। कार्यपालिका जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होती है। बहुत से विधेयकों को जनमत जानने के लिए प्रसारित किया जाता है। इस तरह हमारे संविधान द्वारा राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना की गयी है। परन्तु 'लोकतंत्र' शब्द में आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र भी आ जाते हैं। हमारी प्रस्तावना में इसी अर्थ में 'लोकतंत्र' शब्द का प्रयोग किया गया है।

भारत में इस तरह लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी है। 'गणतंत्र' उस शासन-व्यवस्था को कहते हैं जहाँ राजतंत्र नहीं होता और राज्य का प्रधान निर्वाचित व्यक्ति होता है। हमारे राज्य का प्रधान राष्ट्रपति है (धारा 52) जिसका निर्वाचन जनता के स्वप्रगति की जाँच करें :

3. भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता-धर्मनिरपेक्षता है? क्या आप भारतीय संविधान के परिप्रेक्ष्य में इसे स्पष्ट

करेंगे।

4. क्या आप इस बात से सहमत

हैं कि भारतीय संविधान में कठोरता और लचीलेपन का अपूर्व मिश्रण है?

प्रतिनिधियों द्वारा होता है। संविधान की धारा 55 द्वारा राष्ट्रपति के निर्वाचन के तरीके स्पष्ट कर दिये गये हैं। यहाँ गणतंत्र को स्पष्ट करने के लिए हम अपने संविधान की तुलना ब्रिटेन के संविधान से कर सकते हैं। ब्रिटेन को प्रजातान्त्रिक राज्य कहा जा सकता है, परन्तु गणराज्य नहीं, क्योंकि उस राज्य का प्रधान वंशगत राजा होता है।

इस तरह हमारी प्रस्तावना में घोषित 'सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य' की महत्ता स्पष्ट हो जाता है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य – हमारी प्रस्तावना द्वारा भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' के रूप में घोषित किया गया है हमारी प्रस्तावना के ये शब्द 'दृढ़ निश्चय करके भारत की धर्मनिरपेक्षता की ओर ही संकेत करते हैं। यह बात तब और स्पष्ट हो जाती है जब प्रस्तावना को लेकर हमारी संविधानसभा में हुए वार्तालाप के बारे में हम जानकारी प्राप्त करते हैं। श्री. एच. बी. कामथ ने अपना एक प्रस्ताव संविधानसभा में रखा और कहा कि प्रस्तावना को 'ईश्वर के नाम

पर षड् से पुरु होना चाहिए। इसके विरोधी लोगों ने इसे हमारे संविधान के लिए अनुपयुक्त समझा क्योंकि हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य भारत में एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना था। हमारा राज्य धारा 25 से 28 द्वारा नागरिकों को धर्म का अधिकार देता है। किन्तु सिर्फ धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी तरह का भेदभाव नहीं करता (म रा 15, 16, 29 और 30)। 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' का अर्थ ही होता है कि राज्य धर्म के सम्बन्ध में तटस्थता की नीति अपनायेगा।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना हमारे संविधान द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना की घोषणा की गयी है। हमारे देश में केवल राजनीतिक प्रजातंत्र की ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक न्याय की भी स्थापना की गयी है, जो सच्चे प्रजातंत्र का सहगामी होता है। श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने इसकी महत्ता बतलाते हुए कहा है, "यद्यपि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की अभिव्यक्ति से देश में किसी खास राजनीतिक शासन व्यवस्था का बोध नहीं होता है, लेकिन वर्तमान समय में हर प्रजातांत्रिक राज्य का जो मौलिक लक्ष्य है उसकी ओर यह संकेत करता है।"

यद्यपि 'सामाजिक न्याय की परिभाषा हमारे संविधान में कहीं देखने को नहीं मिलती लेकिन संविधान द्वारा की गयी विभिन्न व्यवस्थाओं से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ सामाजिक न्याय स्थापित करने की कोषिष की गयी है। धारा 14 द्वारा सामाज के हर वर्ग के लोगों को कानून के समक्ष समानता का अधिकार दिया गया है, धारा 15 द्वारा धर्म, जाति, वंश, लिंग और जन्मस्थान आदि का भेदभाव मिटाया गया है। छुआछूत को धारा 17 के द्वारा मिटाया गया है तथा धारा 18 के द्वारा उपाधियों का अन्त कर दिया गया है ताकि समाज में किसी तरह के अन्याय की स्थापना नहीं हो सकें। हमारे संविधान के 16 वें अध्याय में अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों और कुछ अन्य जातियों के लिए विशेष व्यवस्था की गयी है ताकि सामाजिक अन्याय का अन्त हो सके, क्योंकि उपर्युक्त जातियाँ बहुत दिनों से षोषित थीं।

राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों के अन्तर्गत यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक को जीविका के साधन प्राप्त करने का अधिकार होगा। इसी तरह मौलिक सम्पत्तियों के उचित वितरण और नियंत्रण की व्यवस्था, मजदूरों के जीवन स्तर तथा मजदूरी से सम्बद्ध व्यवस्था आदि आर्थिक न्याय की स्थापना का प्रयत्न नीतिनिर्देशक तत्वों में है। धारा 19 द्वारा नागरिकों को दिया गया यह अधिकार कि वे कोई भी पेशा, व्यापार या व्यवसाय कर सकते हैं, तथा धारा 31 द्वारा लोगों को जो सम्पत्ति का अधिकार दिया गया है वह आर्थिक न्याय

की स्थापना के हेतु ही है, आर्थिक न्याय में दो बातें आती हैं – (क) सम्पूर्ण समुदाय के लिए अच्छे जीवनस्तर की स्थापना तथा (ख) असमानता की समाप्ति। हमारे संविधान के नीतिनिर्देशक तत्वों के अन्तर्गत, खासकर धारा 39 और 41 द्वारा इस ओर उचित कदम उठाया गया है। 1

राजनीतिक न्याय और कुछ नहीं, राजनीतिक प्रजातंत्र का ही दूसरा रूप है, जिसकी स्थापना हमारे संविधान द्वारा की गयी है।

नागरिकों की स्वतंत्रता की घोषणा – न्याय के अतिरिक्त हमारे संविधान की प्रस्तावना नागरिकों की कुछ स्वतंत्रता की भी घोषणा करती है, जिसे हमारे संविधान के भाग 3 में स्थान दिया गया है। इस स्वतंत्रता की घोषणा के आधार पर हमारे संविधान को भारत की जनता के लिए 'मैग्नाकार्टा' नाम से पुकारा जाता है। हमारे संविधान में वैसी स्वतंत्रता को स्थान दिया गया है जो सच्चे लोकतंत्र के नागरिकों के लिए अनिवार्य है। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नागरिकों के लिए मौलिक स्वतंत्रता के समान है इसके अतिरिक्त विष्वास, धर्म और पूजा की स्वतंत्रता धार्मिक स्वतंत्रता में आ जाती हैं।

समानता की घोषणा – हमारे संविधान की प्रस्तावना केवल स्वतंत्रता की ही घोषणा नहीं करती बल्कि समानता की भी घोषणा करती हैं समानता और स्वतंत्रता एक दूसरे की सहगामी हैं। बिना समानता के स्वतंत्रता, और बिना स्वतंत्रता के समानता की : कल्पना नहीं



भारतीय शासन राजनीति

की जा सकती। लेकिन समानता का अर्थ प्राकृतिक समानता नहीं होता। समानता का अर्थ होता है— प्रत्येक नागरिक को अवसर की समानता देना ताकि वह अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास कर सके। हमारे संविधान में भी इसी अर्थ में 'समानता' पर जोर दिया गया है। प्रतिष्ठा की समानता का अर्थ होता है— सामाजिक और आर्थिक समानता जिसका प्रबन्ध हमारे संविधान में किया गया है। इसकी चर्चा सामाजिक और आर्थिक न्याय के अन्तर्गत हो चुकी है। धारा 16 द्वारा अवसर की समानता भी नागरिकों को प्रदान की गयी है, यद्यपि यह समानता सिर्फ काम पाने में (मूचसवलउमदज) ही प्रदान की गयी है। सभी तरह के भेदभाव को समानता की प्राप्ति के हेतु ही समाप्त किया गया है।

व्यक्ति की मर्यादा एवं राष्ट्रीय एकता के हेतु बन्धुता की घोशणा हमारा देश विश्वताओं का देश हो हमारे यहाँ भिन्न भिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, संस्कृति और भौगोलिक क्षेत्र के लोग हैं। यदि हम देश को राष्ट्र बनाये रखना चाहते हैं तो इसके लिए आवश्यक है कि सभी यह समझें कि हम एक ही मिट्टी की सन्तान हैं, एक ही माँ के बच्चे हैं। इसी भावना से व्यक्ति की मर्यादा और राष्ट्र की एकता कायम रह सकती है। हमारे संविधान में भी इसी अर्थ में 'बन्धुता' को अपनाया गया है और राष्ट्रीय एकता स्थिर रखने के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ की गयी हैं। हमारे मौलिक अधिकारों पर बहुत सारे प्रतिबन्ध इसी बन्धुता और राष्ट्रीय एकता को कायम रखने के उद्देश्य से लगाये गये हैं।

राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकार का भी यही प्रयोजन है।

संविधान के निर्माण की तिथि की घोशणा — हमारे संविधान की प्रस्तावना की महत्ता इसलिए भी प्रकट होती है कि इसके द्वारा संविधान के निर्माण की तिथि की घोशणा भी कर दी गयी है। 26 नवम्बर, 1949 को हमारा संविधान बनकर तैयार हुआ था जिसे दो महीने बाद 26 जनवरी, 1950 को हमारे देश में लागू किया गया, यही है हमारे संविधान की प्रस्तावना की महत्ता। इसे कानूनी दृष्टिकोण से उतना महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। ए. के. गोपालन के मुकदमे में न्यायाधीश पातंजलि शास्त्री ने इस प्रस्तावना को प्रमुखता नहीं दी, परन्तु न्यायाधीश महाजन ने कहा कि प्रस्तावना में 'दृढ़ निष्चय' शब्द हमारे संविधान को

पवित्र बना देता है। वस्तुतः प्रस्तावना ही हमारे संविधान की आत्मा है और यह आध्यात्मिक तथा नैतिक महत्व से ओतप्रोत है। यह उन सिद्धान्तों की रूपरेखा है जिन पर हमारा संविधान आधारित है। केवल प्रस्तावना पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्र भारत के नागरिकों द्वारा किस तरह के संविधान का निर्माण किया गया है। प्रस्तावना मौलिक स्वतंत्रता तथा अन्य बातें भी बतलाती है अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि प्रस्तावना सम्पूर्ण संविधान को समझने के लिए कुंजी है।

1. भारत की संविधानसभा के कार्य-कलापों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
2. भारत में संविधानसभा के समक्ष कठिनाइयों का विवरण दीजिए।
3. भारतीय संविधान पर विदेशी प्रभावों की चर्चा कीजिए।
4. क्या यह कहना ठीक है कि भारतीय संविधान भारत सरकार अधिनियम 1935 की नकल है?
5. भारतीय संविधान के मुख्य स्रोतों का वर्णन कीजिए।
6. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के संवैधानिक महत्व की समीक्षा कीजिए।
7. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में निहित मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

उनका क्या महत्व है?

नए संविधान का निर्माण हमने पहले बताया है कि मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के अनुसार 9 दिसम्बर, 1946 ई. को संविधानसभा भारत के लिए नया संविधान बनाने के लिए बैठी। इसकी शक्तियों पर अनेक रुकावटें थीं। इसे मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के अनुसार ही सारा कार्य करना था। इसके पास उस समय राजसत्ता (वामतमपहदजल) भी नहीं थी। यह ब्रिटिश पार्लियामेंट के पास थी। यह पूर्ण रूप से प्रतिनिध्यात्मक संस्था (त्मचतमेमदजंजपअम इवकल) भी नहीं थी क्योंकि यह वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं चुनी गयी थी। 1935 के एक्ट के अनुसार 14 प्रतिष्ठत लोगों को मताधिकार दिया गया था और उसी आधार पर चुनी गयी प्रान्तीय विधानसभाओं ने संविधानसभा को चुना था। इसलिए संविधानसभा का प्रत्यक्ष और सीमित मताधिकार के आधार पर चुनाव हुआ था। मुस्लिम लीग ने 1946 के चुनावों में मुसलमानों की अधिकांश सीटें प्राप्त की ली थीं परन्तु इसने संविधानसभा में भाग लेने से इनकार कर दिया था और प्रथक् संविधानसभा की मांग की गयी थी जो पाकिस्तान के बनने के बाद स्वीकार कर ली गई थी। मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने सर्वोच्चता (त्तंउवनजमल) स्वतन्त्रता के बाद अपने पांस नहीं रखनी थी परन्तु यह केंद्रीय सरकार को भी नहीं दी जानी थी और देशी रियासतों को वापस लौट जानी थी, इसलिए बहुत-सी देशी रियासतें अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का स्वप्न देखने लगीं और वे संविधानसभा में अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए आनाकानी करने लगीं। बाद में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने इस अत्यन्त जटिल समस्या को बड़ी कठिनता से सुलझाया और रियासतों ने अपने प्रतिनिधि भेजने स्वीकार कर लिए और इस संविधानसभा को भी स्वीकार कर लिया।

9 दिसम्बर, 1946 ई. को संविधानसभा ने अपने सबसे बयोवृद्ध सदस्य सच्चिदानन्द सिन्हा के अस्थाई सभापतित्व में मिली। 11 दिसम्बर, 1946 ई. को डा० राजेन्द्र प्रसाद इस संविधानसभा के स्थायी अध्यक्ष चुने गए। संविधान के निर्माण के लिए अनेक उप-समितियाँ (नइ ब्वउउपजजमम) बनाई गई और एक प्रारूप समिति (क्तजिपदह ब्वउउपजजमम) नियुक्त की गई जिसके अध्यक्ष डा० अम्बेडकर थे। इन सब कमेटियों की रिपोर्ट के बाद प्रारूप समिति

ने संविधान को तैयार किया और संविधान सभा के सामने पेश किया। इसके सदस्यों ने फिर प्रत्येक धारा पर विचार करना शुरू किया और जहाँ-जहाँ आवश्यकता समझी, इसमें संशोधन पेश किए। नया संविधान 26 नवम्बर, 1949 ई. तक बनकर तैयार हो गया और इसे 26 जनवरी, 1950 ई० को लागू किया गया। चूँकि 26 जनवरी 1930 ई. को देशवासियों ने कॉंग्रेस के नेतृत्व में भारत को पूर्ण स्वतन्त्र कराने की प्रतिज्ञा की थी, इसलिए 26 जनवरी, 1950 को संविधान को लागू किया गया ताकि यह दिवस सदा उस प्रतिज्ञा की पूर्ति का प्रतीक बना

रहे। इसके बाद हम इस संविधान की विशेषताओं का वर्णन करते हैं।

भारतीय संविधान की विशेषताएँ (सपमदज थमंजनतमे वप्दिकपंद ब्वदेजपजनजपवद)

प्रस्तावना हमारे संविधान के आरम्भ में एक प्रस्तावना दी गई है, जिसमें संविधान के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। यह निम्नलिखित है— हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य (वामतमपहद कमउवबतंजपब त्मचनइसपब) बनाने तथा इसके सब नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार रखने तथा प्रकट करने, विष्वास, धर्म और पूजा की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा व अवसर की समता, प्राप्त कराने और उन सबमें व्यक्ति का मान और राष्ट्र की एकता निश्चित करने वाली बन्धुता को बढ़ाने के लिए दृढ़ — संकल्प होकर अपनी इस संविधानसभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. को इस संविधान को अपनाते हैं।

हमारे संविधान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

हमारे 1. सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट घोषित है कि भारत में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की



भारतीय शासन राजनीति

स्थापना हो गई है। इसका यह अर्थ है कि अब भारत पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गया है और किसी भी बाहरी सत्ता के अधीन नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त भारत में पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना हो गई है। सरकार प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद चुनाव करवाती है। इस चुनाव में 18 वर्ष या अधिक आयु वाले प्रत्येक नर-नारी को वोट का अधिकार है, चाहे वह सम्पत्तिवान हो अथवा निर्धन, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित। भारत में कई आम चुनाव हो चुके हैं। जिस पार्टी को बहुमत प्राप्त हो जाता है, उसी की सरकार बनती है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जनता शक्ति की वास्तविक स्रोत है सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी भी रहती है। सब भेद-भाव को समाप्त कर दिया गया है। जनता को मौलिक अधिकार दिये गए हैं और उनकी रक्षा के लिए स्वतन्त्र न्यायापालिका की स्थापना की गई है, इससे सिद्ध होता है कि हमारे देश में पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना हो गई है साथ ही, हमारे देश में गणराज्य (त्मचनइसपब) की स्थापना हो गई है। इसका अर्थ यह है कि हमारे देश के मुखिया का पद पैतृक नहीं होगा, बल्कि वह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चुना जाएगा। हमारा राष्ट्रपति संसद तथा विधानसभाओं द्वारा चुना जाता है और हमारे देश में राजतन्त्र (डवदंतबील) समाप्त हो गया है।

2. लिखित तथा निर्मित संविधान – हमारे संविधान की यह दूसरी विशेषता है कि यह लिखित है, इसलिए हमारा संविधान ब्रिटिश संविधान से भिन्न है जो कि अलिखित है। ब्रिटिश संविधान विकसित (म्भवसअमक) है और हमारा संविधान निर्मित है क्योंकि इसको संविधानसभा ने बड़े परिश्रम से बनाया है ब्रिटिश संविधान (थ्सम•पइसम) है परन्तु हमारा संविधान न कठोर (तपहपक) है। हमारा संविधान अमेरिकन संविधान से कम कठोर है क्योंकि हमारे देश में संविधान के संशोधन का तरीका इतना कठिन नहीं है जितना कि अमेरिकन संविधान में है। हमारे देश में संविधान की बहुत सी धाराओं को संसद में उपस्थित और मतदान देने वाले

सदस्यों के 2/3 बहुमत से और कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत से संशोधित किया जा सकता है, कुछ धाराएँ ऐसी भी हैं जो राज्यों को प्रभावित करती हैं, उनमें संशोधन हेतु कम से कम आधे राज्यों की विधानसभाओं की स्वीकृति भी लेनी पड़ती है।

3. विषाल एवं विस्तृत संविधान है भारत के संविधान की आलोचना करते हुए सर आइवर जैनिंग्स ने कहा कि “यह विषय का सबसे विषाल संविधान है।” किन्तु यदि हम उस समय की राजनैतिक परिस्थितियों तथा संविधान निर्माताओं की अन्य कठिनाइयों को देखें, तो मालूम होगा कि संविधान की अधिक लम्बाई और विस्तार के अनेक कारण थे और सर आइवर जैनिंग्स की आलोचना ठीक नहीं है। हमारे संविधान की लम्बाई का मुख्य कारण यह था कि इसमें न केवल केन्द्रीय बल्कि प्रान्तीय सरकार के ढाँचे और शक्तियों का भी वर्णन है अन्य देशों में या तो केन्द्रीय सरकार की शक्तियों का वर्णन कर दिया जाता है और शेष शक्तियाँ प्रान्तों को दे दी जाती हैं या प्रान्तीय सरकारों की शक्तियों का वर्णन कर दिया जाता है और शेष शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को दे दी जाती हैं।

संविधान की अधिक विषालता का दूसरा कारण यह है कि इसमें हरिजनों, पिछड़ी हुई जातियों और कबीलों के लिए विशेष व्यवस्था है संविधान की लम्बाई का तीसरा कारण यह है कि इसमें न केवल मौलिक अधिकारों बल्कि राज्य के नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का भी वर्णन है। आयरलैंड को छोड़कर अन्य देशों के संविधानों में राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों (कपतमबजपअम त्तपदबपचसमे वॉजंजम च्वसपबल) का वर्णन नहीं है। आयरलैंड को छोड़कर अन्य देशों के संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं है। संविधान की विषालता का चौथा कारण यह है कि इसमें केंद्र तथा राज्यों में सम्बन्धों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का पाँचवा कारण यह है कि इसमें राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का छठा कारण यह है कि इसमें कई शासन सम्बन्धी व्यवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का सातवाँ कारण यह है कि इसमें न केवल उच्चतम न्यायालय (नचतमउम ब्यनतज), बल्कि उच्च न्यायालयों (भ्यही ब्यनतजे) की शक्तियों और ढाँचे का

5. अनेक स्रोतों से तैयार महान् लेख है : हमारे संविधान-निर्माता संसार के सब संविधानों के अच्छे सिद्धान्तों और अनुभवों से सीखने के लिए उत्सुक थे, इस प्रवृत्ति को वे राष्ट्रीय

भारतीय शासन राजनीति

मान के विरुद्ध नहीं समझते थे। एम. पी. शर्मा ने ठीक ही कहा है कि “हमारे संविधान के निर्माताओं ने कभी यह दावा नहीं किया था कि वे कोई मौलिक अद्भुत संविधान खोज निकालेंगे। वे तो एक अच्छा और कामचलाऊ संविधान बनाना चाहते थे।” हमारे संविधान निर्माताओं ने संसदीय शासन पद्धति इंग्लैंड से ली हैं। मौलिक अधिकार और सुप्रीम कोर्ट की कार्य पद्धति पर अमेरिका का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त आयरलैण्ड के संविधान से लिये गए हैं। भारतीय संघ को अधिकतर कैंनेडा के ढंग पर ढाला गया है क्योंकि पेश पक्तियाँ दोनों में केंद्र को दी गई हैं। कैंनेडा के अतिरिक्त दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के संविधानों का भी हमारे संविधान पर काफी प्रभाव है। उदाहरणस्वरूप, संविधानों में संघोद्धन की पद्धति और राज्यसभा की निर्वाचन पद्धति पर दक्षिणी अफ्रीका के संविधान का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारत के राष्ट्रपति को संकटकालीन अवस्था में संविधान के स्थगित करने की जो पक्तियाँ दी गई हैं, वे जर्मनी के संविधान से मिलती जुलती हैं।

5. आप किस आधार पर विचार व्यक्त कर सकते हैं कि भारतीय संविधान में एकात्मक तत्त्व है? केवल उन प्रमुख तत्त्वों के नाम लिखें, जो इस विचार को आधार देते हैं?

ऊपर लिखे विदेशी प्रभावों के अतिरिक्त भारतीय संविधान पर सबसे अधिक प्रभाव 1935 के ऐक्ट का पड़ा। जैनिंग के मतानुसार, “भारतीय संविधान 1935 के अधिनियम (ऐक्ट) से बहुत प्रभावित है। यहाँ तक कि इस संविधान के अनेक उपबन्ध (क्लॉज) ज्यों के त्यों 1935 के अधिनियम की नकल मात्र हैं।” उदाहरणस्वरूप, हमारे नए संविधान के अनुच्छेद (अनुच्छेद) 352 तथा 353 जिनके अनुसार राष्ट्रपति को संकटकालीन पक्तियाँ दी गई हैं, भारत सरकार के 1935 के अधिनियम के सैक्शन 102 से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। हमारे नए संविधान का अनुच्छेद 356 जिसके अनुसार राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा की जा सकती है, 1935 ऐक्ट के सैक्शन 93 से मिलता-जुलता है। भारतीय संविधान में केन्द्र तथा राज्यों में पक्तियों के बँटवारे के लिए जो तीन सूचियाँ बनाई गई हैं, उन पर भी 1935 के ऐक्ट की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। श्रीनिवासन महोदय ने तो यहाँ तक कहा है कि “हमारे नये संविधान की भाषा और सारांश, दोनों की दृष्टि से 1935 के ऐक्ट की नकल कहना भी उचित होगा।” डाक्टर पंजाबराव देशमुख ने भी कहा है कि हमारा नया संविधान निस्सन्देह 1935 का अधिनियम ही है, केवल उसमें पूर्ण वयस्क मताधिकार और बढ़ा दिया गया है।” देशमुख के कथन में काफी अत्युक्ति है।

हमारा संविधान वास्तव में 1935 के ऐक्ट की नकल नहीं है। इसमें अनेक नई बातें दी गई हैं, इसलिए इनको केवल 1935 के ऐक्ट की कापी कहना अनुचित होगा। 1935 के ऐक्ट में राज्य की नीति-निर्देशक सिद्धान्त, मौलिक अधिकार तथा कई अन्य बातें नहीं थीं। हमारे नये संविधान में साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का कोई स्थान नहीं है, हालाँकि 1935 के ऐक्ट में इसको विशेष स्थान प्राप्त था।

6. मौलिक अधिकार

व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए मौलिक अधिकारों की परम आवश्यकता होती है, इसलिए रूस, अमेरिका, चीन, फ्रांस तथा कई अन्य देशों के संविधानों में लोगों को मौलिक अधिकार दिए गए हैं। भारत के संविधान के अनुसार भी लोगों को मौलिक अधिकार दिए गए हैं। हमारे संविधान के अनुसार लोगों को समानता, स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार और सम्पत्ति के अधिकार दिए गए हैं। हमारे देश में 21 वर्ष के प्रत्येक नर नारी को वोट का अधिकार दिया गया है और साम्प्रदायिक चुनाव-प्रणाली को समाप्त कर दिया गया है। श्रीनिवासन ने लिखा है कि पूर्ण वयस्क मताधिकार की स्थापना और साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति के कारण नए संविधान को प्रगतिशील कहा गया है। सत्य यह है कि ऊपर लिखी हुई दोनों बातें ही नए संविधान की महान् और क्रांतिकारी विशेषताएँ हैं।” छुआछूत को कानूनी तौर पर बिल्कुल खत्म कर दिया गया है और बेगार (व्यवसायिक संयोजन) की मनाही कर दी गई है। चौदह वर्ष से कम आयु के बच्चों को फ़ैक्टोरियों में नौकर नहीं रखा जा सकता। अल्पसंख्यक वर्गों

(डपदवतपजपमे) को अपनी अलग शिक्षा संस्थाओं को चलाने का भी अधिकार दिया गया है।

7. नीति-निर्देशक सिद्धान्त राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त सरकार लिए एक प्रकार के आदर्श या हिदायतें हैं जिन पर चल इसलिए आवश्यक है ताकि भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सके। नीति-निर्देशक सिद्धान्त लोगों के अधिकार नहीं हैं और इनको कोर्ट द्वारा लागू नहीं करवाया जा सकता। ये तो केवल प्रत्येक दल की सरकार द्वारा लोकमत के भय से माने जाते हैं। हमारे संविधान के इन सिद्धान्तों में लिखा है कि राज्य अपनी आर्थिक व्यवस्था इस तरह से चलाएगा कि थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में धन केन्द्रित (इकट्ठा) न हो ताकि जन कल्याण में कोई बाधा उपस्थित न हो। राज्य समान दीवानी और फौजदारी कानून बनायेगा। राज्य स्त्री और पुरुष मजदूरों को समान कार्य के लिए समान वेतन दिलवायेगा।

हमारे राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्तों में यह भी लिखा है कि राज्य ग्राम पंचायतों की संगठन करेगा और लोगों को काम-धन्धा दिलवाने का यत्न करेगा। राज्य ऐसा प्रबन्ध करेगा कि मजदूर पुरुषों और स्त्रियों तथा बच्चों को आर्थिक संकट से विवश होकर ऐसे कार्य न करने पड़ें, जो उनकी आयु और स्वास्थ्य के अनुकूल न हों। राज्य न्यायपालिका और कार्यपालिका को अलग-थलग करने की कोषिष करेगा। राज्य लोगों के आर्थिक स्तर को ऊँचा करेगा तथा कृषि और पशुपालन को आधुनिक ढंग से संगठित करेगा। राज्य हरिजनों, पिछड़ी हुई जातियों और कबीलों की भलाई के लिए कानून बनाएगा। राज्य बुढ़ापे, बीमारी और शरीर के अंगों के बेकार हो जाने पर नागरिकों की उचित सहायता करेगा।

8. धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना — वेंकटरमन के शब्दों में, “भारतीय राज्य न तो धार्मिक है न अधार्मिक और न ही धर्मविरोधी, किन्तु यह धार्मिक संकीर्णताओं तथा वृत्तियों से बिल्कुल दूर है और धार्मिक मामलों में तटस्थ है।” अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं कि राज्य धर्म विरोधी गतिविधियों (दजप तमसपहपवने बजपअपजपमे) को प्रोत्साहित करेगा जैसा कि सोवियत संघ में होता है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि राज्य नास्तिक है। इसका केवल यही अर्थ है कि भारत में कोई राजधर्म (जंजम.तमसपहपवद) नहीं होगा। चूँकि भारत में अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर हैं, इसलिए भारत में राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को मान्यता देना अच्छा नहीं समझा गया। इस सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर लास्सकी का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि यदि राज्य किसी विशेष धर्म को मान्यता दे देता है, तो उसके अनुयायियों को किसी न किसी रूप में कोई विशेष अधिकार अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। अतः भारत में धार्मिक मामलों में राज्य तटस्थ रहेगा और किसी भी धर्म का पक्षपात नहीं करेगा और न ही धार्मिक आधार पर सरकारी नौकरियों तथा किसी अन्य क्षेत्र में कोई भेद भाव दिखायेगा।

9. एकता को दृढ़ करने वाला संविधान (पज'जतमदहजीमदे वनत दंजपवदंस नदपजल) हमारे संविधान में एकता को दृढ़ करने के लिए बहुत से उपाय अपनाए गए हैं। उदाहरणस्वरूप, राष्ट्रपति को संकटकालीन घोशणा करने का अधिकार दिया गया है। इस अवस्था में केंद्रीय सरकार को राज्यों पर इतना नियन्त्रण (ब्दजतवस) स्थापित हो जाएगा कि भारत में एक प्रकार से संघात्मक सरकार की बजाय एकात्मक सरकार स्थापित हो जाएगी। एकता को सुदृढ़ करने के लिए भारत में दोहरी नागरिकता की बजाय एकहरी नागरिकता स्थापित की गई है। भारत की एकता कसे सुदृढ़ करने के लिए केन्द्रीय सरकार को बलवान बनाना बहुत आवश्यक था। प्राचीन और मध्यकाल में जिस समय केन्द्र निर्वल हो जाता था, तो उस समय प्रान्त अपनी स्वतंत्रता घोशित कर देते थे, ऐसी दुर्घटना से भारत को बचाने के लिए संविधान में कई उपायों का प्रयोग किया गया। प्रान्तों (राज्यों) को भारतीय संघ से अलग होने की आज्ञा नहीं दी गई और केंद्र को उनकी अपेक्षा अधिक कानूनी, शासन- सम्बन्ध और आर्थिक शक्तियाँ दी गई। एकता को सुदृढ़ करने के लिए हिन्दी

भारतीय शासन राजनीति

सारे भारतवर्ष की राजभाषा घोषित की गई और एक सुप्रीम कोर्ट तथा अखिल भारतीय प्रशासनीय सेवा (IAS पदकंप) कउपदपेजतजपअमेमतअपबमे) की स्थापना की गई।

10. स्वतन्त्र न्यायपालिका तथा अन्य स्वतन्त्र अभिकरणों की स्थापना हमारे नए संविधान में न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाने के लिए बड़ा यत्न किया गया है। इस हेतु उसकी योग्यताएँ नियुक्ति का ढंग तथा वेतन संविधान में निश्चित किए गए हैं ताकि सरकार या पार्लियामेंट के सदस्य उनके वेतन में कटौती की धमकी देकर उन पर अनुचित दबाव न डाल सकें। न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने की कोषिष की गई है। सारे देश में एक जैसे दीवानी और फौजदारी कानून स्थापित किए गए हैं।

लोकतन्त्र को सुदृढ़ करने के लिए समय समय पर निष्पक्ष चुनाव कराने बहुत ही आवश्यक हैं, इसलिए भारत में स्वतन्त्र चुनाव आयोग की स्थापना की गई है। नियन्त्रक और महालेखापरीक्षक को सरकार के अधीन नहीं रखा गया और उसको केवल पार्लियामेंट ही विषेश बहुमत से हटा सकती है। इसके अतिरिक्त संविधान में लोकसेवा आयोग की व्यवस्था की गई है, ताकि भारत में सरकारी नौकरियों के लिए निष्पक्ष रूप से योग्य व्यक्ति चुने जा सकें। लोक सेवा आयोग की सिफारिशों के पर ही सरकार नियुक्तियाँ करती है। लोक सेवा आयोग के सदस्यों की सेवा को सुरक्षा प्रदान की गई है ताकि वे निर्भीक होकर निष्पक्ष रूप से अपना कार्य कर सकें।

11. कठोरता और लचीलेपन का अपूर्व मिश्रण ब्राइस और डायसी ने संविधान पनों का वर्गीकरण किया है। वे उन संविधानों को लचीला (थ्सम•पइसम) मानते हैं जिनको संसद (पार्लियामेंट) साधारण कानूनों की भाँति सादा बहुमत से बदल सकती है। उनके मतरनुसार वे संविधान कठोर हैं जिनको बदलने के लिये एक विषेश प्रक्रिया होती है। भारत का संविधान आन न तो इतना लचीला है जितना कि ग्रेट ब्रिटेन का और न ही इतना कठोर है जितना संयुक्त राज्य अमेरिका का। भारतीय संविधान के निर्माता यह चाहते थे कि संविधान इतना कठोर न बन जाए कि उसको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार संशोधित न किया जा सके और न ही यह इतना लचीला बन जाए कि सत्तारूढ़ दल इसको एक खिलौना समझ और अपने हितों की सिद्धि के लिए इसको बार बार संशोधित कर ले। अतः उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया।

हमारे संविधान की बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनको पार्लियामेंट केवल सादा बहुमत से भी बदल सकती है। उदाहरणस्वरूप, राष्ट्रपति की सिफारिशों पर पार्लियामेंट दो या दो से अधिक राज्यों की सीमाओं में तब्दीली करके नया राज्य बना सकती है या किसी भी राज्य को खत्म कर सकती है अथवा उसके नाम को बदल सकती है। किसी भी राज्य के क्षेत्रफल को घटाने, बढ़ाने और उसमें किसी प्रकार की भी तब्दीली करने का अधिकार हमारी पार्लियामेंट को है। इसके अतिरिक्त पार्लियामेंट राज्यों और केंद्र के लिए किसी भी साझी अखिल भारतीय सेवा की उत्पत्ति कर सकती है। इसी तरह पार्लियामेंट ने 1965 के बाद भी अंग्रेजी का केन्द्रीय शासन में प्रयोग जारी रखा है। यहाँ पर हमारा संविधान ग्रेट ब्रिटेन के संविधान की तरह ही लचीला है।

संविधान में बहुत—सी ऐसी धाराएँ और भी हैं। उदाहरणार्थ, यदि विधानसभा कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत से और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से विधान परिषद् की उत्पत्ति या समाप्ति के लिए प्रस्ताव पास कर दे तो पार्लियामेंट विधान परिषद् को विधानसभा के प्रस्ताव के अनुसार उत्पन्न या समाप्त कर देगी। हमारे संविधान की अनेक धाराएँ ऐसी हैं जिनको तब्दील करने के लिए उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो—तिहाई बहुमत और कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत की आवश्यकता हैं, परन्तु जहाँ पर संविधान की धाराएँ राज्यों से सम्बन्धित हैं या उनको प्रभावित करती हैं, उनको पार्लियामेंट द्वारा संविधान के संशोधन हेतु कम से कम आधे राज्यों का समर्थन भी प्राप्त करना पड़ता है उदाहरणस्वरूप, उपराष्ट्रपति के चुनाव में राज्य भाग नहीं लेते हैं, अतः

.उसकी चुनाव पद्धति में पार्लियामेंट कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से तब्दीली कर सकती है परन्तु राष्ट्रपति के चुनाव में चूँकि राज्य भी भाग लेते हैं, इसलिए वहाँ पर राष्ट्रपति की चुनाव पद्धति में पार्लियामेंट को ऊपर लिखे हुए तरीके से तब्दीली करने के बाद कम से कम आधे राज्यों का समर्थन भी प्राप्त करना पड़ेगा। इसी प्रकार, यदि पार्लियामेंट केंद्र और राज्यों में शक्तियों के बंटवारे में या राज्यों के पार्लियामेंट में प्रतिनिधित्व में कोई परिवर्तन करना चाहे, तो उसे कम से कम आध

राज्यों की मंजूरी लेनी पड़ेगी।

राष्ट्रपति की संकटकालीन घोषणा के समय हमारा संविधान व्यवहार में संघात्मक की बजाय बहुत आसानी से एकात्मक बन सकता है। यह संविधान का सबसे बड़ा लचीलापन है। इसके अतिरिक्त यदि राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि कोई विषय जो पहले राज्य सूची में था, अब वह राष्ट्रीय महत्व का बन गया है, तो पार्लियामेंट उस विषय पर भी एक वर्ष तक कानून बना सकती है। इन बातों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि कुछ धाराओं को छोड़कर जिनमें कम से कम आधे राज्यों के समर्थन की आवश्यकता है, पार्लियामेंट प्रायः सादा बहुमत से या कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से संविधान में संशोधित कर सकती है। इसलिए हम हवीयर के इस मत से सहमत हैं कि भारत के संविधान-निर्माताओं ने आसानी से तब्दील होने वाले संविधानों तथा बहुमत कठिनाई से तब्दील होने वाले संविधानों के बीच का मार्ग अपनाया है।

“12. यह संघात्मक शासन की स्थापना संविधान में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है। भारत में एकात्मक सरकार की बजाय संघात्मक सरकार स्थापित की गई है। भारत में इस हेतु शक्तियों का बँटवारा केंद्र और राज्यों में किया गया है। शक्तियों के बँटवारे के लिये तीन सूचियाँ बनाई गई हैं। संघ-सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ-सूची पर केवल पार्लियामेंट कानून बना सकती है, राज्य सूची पर राज्यों के विध नमण्डल और समवर्ती सूची पर केन्द्र तथा राज्य दोनों कानून बना सकते हैं।

भारतीय संघ का एकात्मकता की तरफ झुकाव

प्रोफेसर डी. एन. बनर्जी का विचार है कि भारतीय संविधान का रूप एकात्मकता की व्यवस्था सहित संघीय है। इसी प्रकार दुर्गादास वसु का विचार है कि भारत का संविधान. न तो पूर्णरूप से एकात्मक है और न ही पूर्णरूप से संघात्मक हैं बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है। के. सी. हवीयर का विचार है कि “भारत मुख्यतः एकात्मक राज्य है जिसमें संघीय विशेषताएँ नाम मात्र की हैं।” उनके विचार में भारत का संविधान संघीय कम है और एकात्मक अधिक। डाक्टर के. सी. हवीयर का विचार ठीक नहीं है। वास्तविकता यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि भारत में संघात्मक सरकार की व्यवस्था की गई है, परन्तु इसमें कुछ एकात्मक तत्व भी हैं। इसमें निम्नलिखित संघात्मक तत्व (मिकमतंस मसमउमदजे) मौजूद हैं :

1. शक्तियों का बँटवारा – संघात्मक सरकार की यह विशेषता होती है कि इसमें शक्तियों का बँटवारा होता है। संघात्मक सरकार केवल वहीं बनती है जहाँ राज्य स्वतंत्र हों और वे अपनी सारी शक्तियाँ केंद्रीय सरकार को न देना चाहें और कुछ शक्तियाँ अपने पास रखना चाहें। यदि ये राज्य अपनी सारी शक्तियाँ केंद्रीय सरकार को देना चाहते, तो वहाँ फिर संघात्मक की बजाय एकात्मक सरकार स्थापित हो जाती हैं। जिस समय भारत स्वतंत्र हुआ, तो अंग्रेजों ने देशी रियासतों को स्वतंत्र कर दिया और उनकी सर्वोच्चता को केंद्रीय सरकार को नहीं दिया। इसलिए बहुत सी रियासतें भारतीय संघ में मिलने के लिए भी तैयार नहीं थीं। सरदार बल्लभभाई पटेल ने जो उस समय रियासती मामलों के मंत्री थे, बड़ी कठिनाई से देशी रियासतों को केवल तीन विषय प्रतिरक्षा, विदेशों से सम्बन्ध – और यातायात देने के लिए सहमत किया, इसके बाद धीरे-धीरे उन्होंने देशी रियासतों को आधुनिक संविधान को मानने के लिए राजी कर लिया और जिस समय हमारा संविधान बना,

भारतीय शासन राजनीति

उस समय देश में ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि एकात्मक सरकार स्थापित की जा सकती, इसलिए भारत में संघात्मक सरकार की स्थापना की गई। कार्यों का बँटवारा करने के लिये तीन सूचियाँ बनाई गई: संघ-सूची, समवर्ती सूची और राज्य-सूची। संघ-सूची पर केवल पार्लियामेंट कानून बना सकती है, समवर्ती सूची पर दोनों कानून बना सकते हैं और

राज्य – सूची पर प्रायः राज्य का विधानमण्डल कानून बना सकता है।

2. लिखित तथा कठोर संविधान और इसका सर्वोच्च माना जाना संघात्मक सरकारी की दूसरी विशेषता यह होती है कि उसमें संविधान लिखित तथा कठोर होता है ताकि भविष्य में केन्द्रीय सरकार और राज्यों की सरकारों में झगड़े की गुंजाइश न रहे। केन्द्र और राज्य दोनों ही संविधान को सर्वोच्च कानून (नचतमउम सूँ) मानते हैं और उसे ही अपनी शक्तियों का स्रोत तथा आधार मानते हैं। भारत में लिखित तथा कठोर संविध

न है और इसे ही सर्वोच्च कानून माना जाता है।

3. सुप्रीम कोर्ट की विशेष स्थिति – संघात्मक सरकार की तीसरी विशेषता यह होती है कि उसमें सुप्रीम कोर्ट होती है जो केन्द्र तथा राज्यों के झगड़े का निर्णय करती है। सुप्रीम कोर्ट संविधान की रक्षक मानी जाती है और उसकी व्याख्या करती है। भारत में.

सुप्रीम कोर्ट की ऐसी स्थिति है। यहाँ पर सुप्रीम कोर्ट केन्द्र और राज्यों के बीच में संवैधानिक झगड़ों के निर्णय करती है और संविधान की रक्षा करती है। यह देखती है कि केन्द्र तथा राज्य कोई भी कार्य संविधान के विरुद्ध न करें। यदि केन्द्र अथवा राज्य कोई कानून संविध 1 न के विरुद्ध बना दें, तो सुप्रीम कोर्ट उसको रद्द कर देती है। हमारी सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे कई कानून रद्द किए हैं।

अतः ऊपर लिखी हुई बातों से सिद्ध होता है कि भारत में संघात्मक सरकार की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं, परन्तु संघात्मक सरकार एकात्मक सरकार की अपेक्षा निर्बल होती है। अतः भारत में संघात्मक सरकार के दोषों को दूर करने की पूरी कोषि की गई है और केन्द्र को बलशाली बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है, क्योंकि प्राचीन और मध्य काल में जिस समय भारत में बलशाली केन्द्र नहीं रहा, उसी समय सारे देश में अव्यवस्था फैल गई. छोटे-छोटे राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोशणा कर दी, भारत की राजनैतिक एकता नष्ट हो गई, इस पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गए और हमारी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई। भारत के इतिहास में दासता का जो लम्बा युग दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण यही था। इसलिए हमारे संविधान – निर्माताओं ने केन्द्र को बलशाली बनाने के लिए अनेक उपाय किये। उन्हीं उपायों के आधार पर कई लेखकों ने लिखा है कि भारत में संघात्मक सरकार होते हुए भी इसका झुकाव एकात्मकता की तरफ है। भारत में केन्द्र को बलशाली बनाने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए गए हैं:

भारतीय संविधान में एकात्मक तत्व (न्दपजंतल म्समउमदजे पद जीम प्दकपंद ब्ददेजपजनजपवद)

1. इकहरी नागरिकता जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी नागरिक है और संयुक्त राज्य प्रायः संघात्मक सरकारों में दोहरी नागरिकता पाई ऐसा ही है। वहाँ पर प्रत्येक अमेरिकन अपने राज्य का अमेरिका का भी। इसका परिणाम यह निकलता है कि

जब एक अमेरिकन अपने राज्य से दूसरे राज्य में जाता है, तो वहाँ का नागरिक नहीं माना जाता बल्कि केवल संघ का नागरिक माना जाता है। जो सुविधाएँ एक नागरिक को अपने राज्य में प्राप्त होती हैं, वे दूसरे में नहीं होती हैं इसलिए भारत में इकहरी नागरिकता रखी गई है। हम पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार या मध्य प्रदेश के नागरिक नहीं हैं बल्कि केवल भारत के ही नागरिक हैं। इसलिए किसी भी प्रान्त या राज्य के व्यक्ति को दूसरे राज्य

में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती है। इससे प्रान्तीय भावनाएँ कम होती हैं और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है।

2. शक्तियों का बँटवारा केन्द्र के पक्ष में— हमारे संविधान में शक्तियों का बँटवारा इस प्रकार किया गया है कि केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ दी गई हैं। उदाहरणस्वरूप, हमारे देश में अधिकतर महत्वपूर्ण विषय संघ सूची में रखे गए हैं। संघ सूची में 97 विषय रखे गए हैं और इन पर केवल पार्लियामेंट कानून बना सकती है, राज्यों के विधानमण्डलों को इन विषयों पर कानून बनाने का अधिकार नहीं है। समवर्ती सूची में 47 विषय रखे गए हैं। इन पर केन्द्रीय पार्लियामेंट तथा राज्यों के विधानमंडल दोनों ही कानून बना सकते हैं, परन्तु यदि दोनों के बनाये हुए कानूनों में कोई विरोध उत्पन्न हो जाय, तो केन्द्रीय कानून ही माना जायेगा, और राज्यों का कानून नहीं माना जायेगा। अतः समवर्ती सूची पर भी केन्द्रीय पार्लियामेंट को बिना रोक टोक कानून बनाने की आज्ञा है और प्रान्तीय विधानमंडल केंद्र की इच्छा के विरुद्ध इन विषयों के बारे में कुछ भी नहीं कर सकते। जहाँ तक राज्य सूची का सम्बन्ध है, इस पर यद्यपि विधानमंडल को कानून बनाने की पूर्ण स्वतंत्रता है परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में पार्लियामेंट भी इस पर कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को दे दी गई हैं न कि राज्यों को यहाँ पर हमने कैनेडा का आदर्श अपनाया है जहाँ अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को दी गई हैं। (अवशिष्ट शक्तियाँ वे होती हैं जो तीनों सूचियों में से भी किसी में शामिल नहीं हैं।)

3. संकटकालीन घोशणा में केन्द्र का राज्यों पर अत्यधिक नियन्त्रण— हमारे संविधान में राष्ट्रपति को तीन प्रकार की संकटकालीन घोशणाएँ करने का अधिकार दिया गया है। यदि भारत पर कोई बाहरी आक्रमण हो जाय या कोई बहुत बड़ी अन्दरूनी गड़बड़ अथवा क्रांति हो जाये या भारत किसी युद्ध में फँस जाये, तो उस समय राष्ट्रपति संकटकालीन घोशणा कर सकता है। संकटकालीन घोशणा के समय राष्ट्रपति राज्यों को किसी भी प्रकार के निर्देश (क्वतमबजपवदे) दे सकता है और पार्लियामेंट राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। इस अवस्था में एक प्रकार से राज्यों की स्वायत्तता (नजवदवउल) खत्म की जा सकती है। इस अवस्था में राष्ट्रपति को मौलिक अधिकारों को भी स्थगित करने का अधिकार होता है।

दूसरी प्रकार की संकटकालीन घोशणा उस समय की जा सकती है जब राष्ट्रपति को गवर्नर की रिपोर्ट से अथवा किसी अन्य तरीके से यह विश्वास हो जाए कि किसी राज्य में सरकार संविधान के अनुसार नहीं चलाई जा सकती है। उस समय राष्ट्रपति उस राज्य में वैधानिक संकट (ब्वदेजपजनजपवदंस मउमतहमदबल) की घोशणा कर देते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि उस राज्य में राष्ट्रपति का शासन घोषित कर दिया जाता है, मन्त्रिमंडल तथा विधानसभा को भंग कर दिया जाता है और वहाँ गवर्नर राष्ट्रपति का एजेण्ट बन जाता है और उसे राष्ट्रपति के सब आदेशों का पालन करना पड़ता है। पार्लियामेंट को उस समय उस राज्य के लिए कानून बनाने का अधिकार होता है।

तीसरी प्रकार की संकटकालीन घोशणा वित्तीय संकट के समय होती है। यदि भारत

सरकार की साख (ब्लमकपज) हिल जाय, तो उस समय राष्ट्रपति वित्तीय संकट (थपदंदबपंस मउमतहमदबल) की घोशणा कर सकते हैं। इस घोशणा का यह परिणाम होगा कि राष्ट्रपति को सरकारी कर्मचारी, सुप्रीम कोर्ट के जज, लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष, राज्यसभा के सभापति तथा उप-सभापति के वेतन में कटौती करने का अधिकार होगा। राष्ट्रपति को केन्द्र और राज्यों के बीच धन के बँटवारे में भी परिवर्तन करने का अधिकार होगा। राष्ट्रपति उस समय राज्यों के वित्त विधेयकों को भी अपनी मंजूरी के लिए मँगवा सकेगा। संक्षेप में, सारे भारतवर्ष में आर्थिक ढाँचे पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण (ब्वदजतवस) स्थापित हो जाएगा और संघात्मक होते हुए भी हमारी केन्द्रीय सरकार संविधान में बिना किसी संशोधन के एकात्मक सरकार की तरह कार्य कर सकेगी।

भारतीय शासन राजनीति

4. शान्ति के समय भी राज्य सूची पर की शक्तियाँ बढ़ाई जा सकती हैं। यदि राज्यसभा बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि कोई भी विषय जो पहले राज्य सूची में था, अब राष्ट्रीय महत्व का बन गया है, तो संसद को एक वर्ष तक उस विषय पर कानून बनाने का अधिकार मिल जाएगा।

5. राज्यों को अपना अलग संविधान बनाने तथा संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है – सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्जरलैंड के संविधानों में राज्यों को अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार दिया गया है। परन्तु भारत के संविधान में राज्यों को ऐसा कोई भी अधिकार नहीं दिया गया है। राज्यों को भारतीय संविधान को ही मानना पड़ता है। सोवियत संघ में राज्यों को आत्म निर्णय का अधिकार दिया गया है और यदि वे चाहें तो संघ से अलग हो सकते हैं, भारतीय संविधान में राज्यों को कोई ऐसा अधिकार नहीं दिया गया है। अतः भारतीय संघ के भंग होने का भय नहीं है।

6. संसद को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने या किसी पुराने राज्य को खत्म करके नए राज्य का गठन करने का अधिकार भारत में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन कर सके। संसद दो या अधिक राज्यों को मिलाकर या उनमें से कोई प्रदेश निकालकर नए राज्य को बना सकती है। वह किसी राज्य का क्षेत्रफल घटा या बढ़ा सकती है। वह किसी राज्य का नाम भी बदल सकती है। ये सारे परिवर्तन तभी किए जा सकते हैं जबकि राष्ट्रपति इस विषय में उन राज्यों के विधानमण्डलों के विचार भली भाँति पता लगा ले और संसद में राष्ट्रपति की सिफारिशों के अनुसार एक बिल पास कर दिया जाए। हमारे संविधान में केवल राष्ट्रपति के लिए सलाह करना आवश्यक है परन्तु उसके लिए राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने के लिए राज्यों के विधानमंडल की मंजूरी लेना आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि पार्लियामेंट ने इस अधिकार का प्रयोग करते हुए देश का राजनीतिक नक्शा ही बिल्कुल बदल दिया और हैदराबाद जैसी बड़ी रियासत को बिल्कुल खत्म कर दिया जब उसने 1956 ई. में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पास किया। यहाँ पर हमारा संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका से भिन्न है, क्योंकि वहाँ पर केंद्रीय सरकार राज्य की स्वीकृति के बिना उसकी सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है।

7. राज्यों को राज्यसभा में बराबर का प्रतिनिधित्व दिया जाना राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड, आस्ट्रेलिया तथा संसार के अन्य संघों (थमकमतंजपवदे) में प्रायः उच्च सदन (न्यचमत भवनेम) में छोटे-बड़े सभी राज्यों को बराबर का प्रतिनिधित्व दिया गया है। वहाँ पर उनके आकार तथा आबादी का ध्यान नहीं रखा जाता परन्तु भारत में राज्यों को

राज्यसभा में आबादी के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया है।

8. राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति – संविधान में राज्यों के राज्यपालों के चुनाव की कोई व्यवस्था नहीं है, बल्कि राष्ट्रपति द्वारा उनकी नियुक्ति की व्यवस्था है। राज्यपाल राष्ट्रपति की कृपा तक अपने पद पर रहते हैं। राष्ट्रपति जब चाहे उनको हटा सकता है। राज्यपालों से यह आशा की जाती है कि वे राज्यों की सब परिस्थितियों के बारे में राष्ट्रपति को सूचित रखेंगे। राज्यपालों द्वारा केन्द्र का राज्यों पर प्रभावी नियन्त्रण रहता है। संकटकालीन घोरणा के समय राज्यपालों को अपने मंत्रियों की सलाह की उपेक्षा करने और राष्ट्रपति के आदेशों का पूर्ण रूपसे पालन करने का अधिकार है। शान्तिकालीन अवस्था में राज्यपाल प्रायः अपने मंत्रियों की सलाह से कार्य करते हैं। यदि अचानक कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जाए, तो भी राष्ट्रपति गवर्नरों से अपने आदेशों का पालन करवाने के लिए भी व्यवस्था कर सकता है। इस तरह से केंद्रीय सरकार का राज्यों पर प्रत्येक स्थिति में पूर्ण नियन्त्रण रहता है। आलोचकों का विचार है कि ये बातें संघवाद के विरुद्ध हैं, यहाँ पर हमने संयुक्त राज्य अमेरिका की बजाय कैंनेडा का मॉडल अपनाया है !

9. संविधान बुनियादी बातों में एकरूपता स्थापित करता है

प्रायः संघों में दोहरी राजनीतिक व्यवस्थाओं के कारण कानून, शासन और न्याय पद्धति में काफी विभिन्नता पाई जाती है जैसे कि हम संयुक्त राज्य अमेरिका में इन विभिन्नताओं को

देखते हैं। डाक्टर अम्बेडकर का कथन है कि “किसी सीमा तक यदि देश में विभिन्नता भी रहे, तो भी कोई बात नहीं है। यदि स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कानून और शासन के नियमों में कुछ विभिन्नता रहे तो भी उसे सहन किया जा सकता है। किन्तु जब विभिन्नता हद से अधिक बढ़ जाती है, तो इससे संघात्मक राज्यों में पूर्ण अव्यवस्था छा जाती है। “भारत की ऐसी भयानक परिस्थिति से रक्षा करने के लिए संविधान में अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा, एक समान दीवानी और फौजदारी कानून तथा एक ही प्रकार की न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। सारे देश में वित्तीय मामलों में एकरूपता कायम रखने के लिए एक नियंत्रक महालेखा परीक्षक की व्यवस्था की गई है। वह केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों के वित्तीय मामलों पर पूरी निगरानी रखता है। इसके अतिरिक्त भारत में चुनाव आयोग की व्यवस्था की गई है। मुख्य चुनाव आयुक्त राज्यों की विधानसभाओं और विधान परिशदों, संसद राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनावों पर नियन्त्रण रखता है। वह इन चुनावों को करवाता है तथा राज्यों के चुनाव आयुक्तों की इस हेतु किसी भी प्रकार का निर्देश तथा अनुदेश दे सकता है। इस तरह से संघवाद (मिकमतंसपेउ) के दोषों को दूर करके भारत में एकरूपता स्थापित करने का यत्न किया गया है।

. क्या भारत सच्चा संघ है? अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या भारत को सच्चे अर्थों में संघ कहा जा सकता है? यद्यपि भारत में संघवाद के देशों को दूर करके केन्द्र को बलशाली बनाने के लिए यत्न किया गया है ताकि भारत की एकता अखण्ड रहे परन्तु फिर भी यह कहना बिलकुल अनुचित होगा कि भारत में एकात्मक सरकार की स्थापना की गई है। भारत में संघात्मक सरकार की तीनों विशेषताएँ, अर्थात् शक्तियों का विभाजन, संविधान की सर्वोच्चता तथा सुप्रीम कोर्ट की सर्वोच्चता इत्यादि पाई जाती है, अतः हमारे देश में संघात्मक सरकार ही स्थापित की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया के संविधान यद्यपि इकाइयों को बहुत हद तक स्वायत्तता प्रदान करते हैं, परन्तु उन देशों में भी प्रथम महायुद्ध के बाद ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वहाँ पर भी केन्द्रीय सरकार बलवान होती जा रही हैं। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि अमेरिकन संविधान में राष्ट्रपति को संकट कालीन घोशणा करने का कोई अधिकार नहीं है

तथापि जिस समय भी किसी राज्य में बहुत अधिक अन्दरूनी गड़बड़ हो गई है, तो केन्द्रीय सरकार ने कई बार राज्य की सरकार की इच्छा के विरुद्ध भी वहाँ पर शान्ति स्थापित करने : के लिए सेनाएँ भेज दी हैं और इस कार्रवाई को यह कहकर ठीक सिद्ध करने की कोशिश की है कि अन्तर्राज्यीय वाणिज्य तथा व्यापार और यातायात पर केन्द्रीय नियन्त्रण है और यदि किसी राज्य में अन्दरूनी शान्ति नहीं रहती है, तो इन सब बातों में रुकावट उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि चाहे कैनेडा की तरह भारत में केन्द्र को बलवान बनाने की कोशिश की गई है परन्तु वहाँ की तरह इकाइयों को व्यवहार में काफी स्वायत्तता दे दी गई है। भारत में संकटकालीन घोशणाओं का अभी तक दुरुपयोग करके एकात्मक सरकार स्थापित नहीं की गई है बल्कि किसी खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही इसका थोड़े समय के लिए प्रयोग किया गया है पंजाब, आन्ध्र, पेप्सू तथा केरल में खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही संकटकालीन घोशणा की गई और ज्यों ही वह परिस्थिति दूर हुई, त्यों ही वहाँ पर चुनाव कराके उत्तरदायी सरकार दुबारा स्थापित कर दी गई है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि भारत में संघात्मक सरकार ही है परन्तु देश में एकता कायम करने के लिए ही केन्द्र को संघवाद की सीमाओं में रहते हुए अधिक से अधिक बलशाली बनाने का यत्न किया गया है।

सारांश

भारत में संघवाद के देशों को दूर करके केन्द्र को बलशाली बनाने के लिए यत्न किया गया है ताकि भारत की एकता अखण्ड रहे परन्तु फिर भी यह कहना बिलकुल अनुचित होगा कि भारत में एकात्मक सरकार की स्थापना की गई है। भारत में संघात्मक सरकार की तीनों विशेषताएँ, अर्थात् शक्तियों का विभाजन, संविधान की सर्वोच्चता तथा सुप्रीम कोर्ट की सर्वोच्चता इत्यादि पाई जाती है, अतः हमारे देश में संघात्मक सरकार ही स्थापित की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया के संविधान यद्यपि इकाइयों को

भारतीय शासन राजनीति

बहुत हद तक स्वायत्तता प्रदान करते हैं, परन्तु उन देशों में भी प्रथम महायुद्ध के बाद ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वहाँ पर भी केन्द्रीय सरकार बलवान होती जा रही हैं। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि अमेरिकन संविधान में राष्ट्रपति को संकट कालीन घोशणा करने का कोई अधिकार नहीं है तथापि जिस समय भी किसी राज्य में बहुत अधिक अन्दरूनी गड़बड़ हो गई है, तो केन्द्रीय सरकार ने कई बार राज्य की सरकार की इच्छा के विरुद्ध भी वहाँ पर शान्ति स्थापित करने के लिए सेनाएँ भेज दी हैं और इस कार्यवाई को यह कहकर ठीक सिद्ध करने की कोशिश की है कि अन्तर्राज्यीय वाणिज्य तथा व्यापार और यातायात पर केन्द्रीय नियन्त्रण है और यदि किसी राज्य में अन्दरूनी शान्ति नहीं रहती है, तो इन सब बातों में रुकावट उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि चाहे कैनेडा की तरह भारत में केन्द्र को बलवान बनाने की कोशिश की गई है परन्तु वहाँ की तरह इकाइयों को व्यवहार में काफी स्वायत्तता दे दी गई है। भारत में संकटकालीन घोशणाओं का अभी तक दुरुपयोग करके एकात्मक सरकार स्थापित नहीं की गई है बल्कि किसी खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही इसका थोड़े समय के लिए प्रयोग किया गया है पंजाब, आन्ध्र . पेप्सू तथा केरल में खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही संकटकालीन घोशणा की गई और ज्यों ही वह परिस्थिति दूर हुई, त्यों ही वहाँ पर चुनाव कराके उत्तरदायी सरकार दुबारा स्थापित कर दी गई है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि भारत में संघात्मक सरकार ही है परन्तु देश में एकता कामय करने के लिए ही केन्द्र को संघवाद की सीमाओं में रहते हुए अधिक से अधिक बलशाली बनाने का यत्न किया गया है।

ऊपर बताया जा चुका है कि संविधानसभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को हुई। सभा ने अपने काम में सुगमता लाने के लिए अनेक समितियों का निर्माण किया। तत्पश्चात् संविधान का प्रारूप (कतंजि) तैयार करने के लिए संविधान परिशद ने 29 अगस्त, 1947 को डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति बनायी। इस समिति ने काफी सोच समझकर संविधान का प्रारूप तैयार किया जो फरवरी, 1948 इसे संविधान परिशद में पेश किया गया। 144 दिनों तक इस प्रारूप पर विचार होता रहा और उसमें 2473 संशोधन पेश किये गये। 26 नवम्बर, 1949 को संविधान अन्तिम रूप में कई संशोधनों के बाद स्वीकार कर लिया गया। स्वीकृत संविधान में 395 धाराएँ तथा 8 परिशिष्ट थीं। 26 जनवरी, 1950 के दिन हमारा यह संविधान सारे देश में लागू कर दिया गया। इस प्रकार, विषय के राजनीतिक रंगमंच पर एक पूर्ण स्वतंत्र और संप्रभुसत्तासम्पन्न गणतंत्र का प्रादुर्भाव हुआ।

प्रथाएँ एवं परम्पराएँ – संविधान लिखित हो अथवा अलिखित, कालान्तर में कुछ प्रथाओं का विकास हो ही जाता है। संविधान चाहे कितना भी सुस्पष्ट क्यों न हो या कितना भी विषाल क्यों न बनाया जाय, परन्तु उसके अतिरिक्त भी कुछ प्रथाएँ एवं परम्पराएँ चल ही पड़ती हैं। भारत की शासन-प्रणाली भी कुछ महत्वपूर्ण मौलिक प्रथाओं पर आधारित है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अधिक उचित होगा कि यद्यपि शासन – संचालन प्रथा या परम्परा के उन अलिखित नियम के द्वारा तो होता है, परन्तु इसके पीछे कोई भी कानूनी आधार नहीं है। फिर भी यह राज्य के लिए एक आदत है जिसके अनुसार वह अपने शासन को चलाता है। मुनरों ने ठीक ही कहा है, “व्यक्ति के लिए आदत का जो स्थान है वही राज्य के लिए प्रथाओं का है।” इक्कीस वर्ष के जीवन में भारतीय संविधान में कुछ ऐसी ही परम्पराएँ एक चल पड़ी हैं। ये परम्पराएँ एवं प्रथाएँ भी भारतीय संविधान का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। उदाहरण के लिए, संविधान में कहीं यह बात नहीं कही गई है कि राष्ट्रपति किसी मंत्री को प्रधानमंत्री के कहने पर हटा देगा। संविधान में तो कहा गया है कि कोई भी मंत्री राष्ट्रपति के इच्छाकाल तक ही अपने पद पर रह सकेगा। परन्तु एक परम्परा चल पड़ी है कि कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध (यद्यपि राष्ट्रपति उसे चाहे रहकर उसके मंत्रिमंडल में नहीं रह सकता। इसलिए प्यामाप्रसाद मुखर्जी, अम्बेडकर या देशमुख को प्रधानमंत्री से असहमत होकर हट जाना पड़ा।

हमारी प्रस्तावना द्वारा भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' के रूप में घोषित किया गया है हमारी प्रस्तावना के ये शब्द 'दृढ़ निष्पक्ष करके' भारत की धर्मनिरपेक्षता की ओर ही संकेत करते हैं। यह बात तब और स्पष्ट हो जाती है जब प्रस्तावना को लेकर हमारी संविधानसभा में हुए वार्तालाप के बारे में हम जानकारी प्राप्त करते हैं। श्री. एच. बी. कामथ ने अपना एक प्रस्ताव संविधानसभा में रखा और कहा कि प्रस्तावना को 'ईश्वर' के नाम पर शब्द से शुरू होना चाहिए। इसके विरोधी लोगों ने इसे हमारे संविधान के लिए अनुपयुक्त समझा क्योंकि हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य भारत में एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना था। हमारा राज्य धारा 25 से 28 द्वारा नागरिकों को धर्म का अधिकार देता है। किन्तु सिर्फ धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी तरह का भेदभाव नहीं करता कठोरता और लचीलेपन का अपूर्व मिश्रण ब्राइस और डायसी ने संविधानों का वर्गीकरण किया है। वे उन संविधानों को लचीला मानते हैं जिनको संसद

(पार्लियामेंट) साधारण कानूनों की भाँति सादा बहुमत से बदल सकती है। उनके मतरनुसार वे संविधान कठोर हैं जिनको बदलने के लिये एक विशेष प्रक्रिया होती है। भारत का संविधान आन न तो इतना लचीला है जितना कि ग्रेट ब्रिटेन का और न ही इतना कठोर है जितना

संयुक्त राज्य अमेरिका का। भारतीय संविधान के निर्माता यह चाहते थे कि संविधान इतना : कठोर न बन जाए कि उसको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार संशोधित न किया जा सके और न ही यह इतना लचीला बन जाए कि सत्तारूढ़ दल इसको एक खिलौना समझ ले और अपने हितों की सिद्धि के लिए इसको बार बार संशोधित कर ले। अतः उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया।

भारतीय संविधान में एकात्मक तत्व :

1. इकहरी नागरिकता
2. शक्तियों का बँटवारा केन्द्र के पक्ष में
3. संकटकालीन घोशणा में केन्द्र का राज्यों पर अत्यधिक नियन्त्रण
4. शान्ति के समय भी राज्य सूची पर की शक्तियाँ बढ़ाई जा सकती हैं
5. राज्यों को अपना अलग संविधान बनाने तथा संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है
6. संसद को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने या किसी पुराने राज्य को खत्म करके नए राज्य का गठन करने का अधिकार
7. राज्यों को राज्यसभा में बराबर का प्रतिनिधित्व दिया जाना

मसिद्धेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

8. राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति
9. संविधान बुनियादी बातों में एकरूपता स्थापित करता है।

अभ्यास – प्रश्न

1. भारतीय संविधान की महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. भारत के संविधान का रूप संघात्मक है परन्तु उसकी आत्मा एकात्मक विवेचन कीजिए।



Notes

भारतीय शासन राजनीति

3. भारत का संविधान संघीय कम और एकात्मक अधिक हैं समालोचना कीजिए ।
4. भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों से आप क्या समझते हैं ?
5. भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य के नीति-निर्देशक तत्व और मूलाधिकार में क्या अन्तर है?

इकाई 6

मूलअधिकार

मूल अधिकार का अर्थ, उत्पत्ति और विकास, इसके उद्देश्य, इसकी विशेषताएँ

मूल अधिकारों की विशेषताएँ

मूल अधिकारों का वर्गीकरण

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे :

जान सकेंगे कि मूलाधिकार का अर्थ क्या है?

आप जान सकेंगे कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसका विकास कैसे हुआ, इसके उद्देश्य और विशेषताएँ क्या हैं?

भारतीय गणराज्य के मूल अधिकारों की समीक्षा कर सकेंगे

: हमारे मूल अधिकारों की सीमाएँ समझ सकेंगे। की एकात्मक तत्व

को समझ सकेंगे।

परिचय :

प्रजातंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता का अत्यधिक महत्व है। इसी स्वतन्त्रता की के लिए हम भारतीयों को वशों तक कठोर संघर्ष करना पड़ा था। व्यक्ति को जब तक स्वतन्त्रता समानता आदि के अधिकार नहीं मिल जाते तब तक उसका जीवन पशुतुल्य ही होता है। प्रोफेसर लास्की का कथन है कि “अधिकार किसी भी प्रजातांत्रिक राज्य की आध रषिला है। यह वह गुण है जिसके कारण राज्य की शक्ति के प्रयोग में नैतिकता का समावेश होता है और यह नागरिकों के आदर्श एवं सुखमय जीवन के लिए नितान्त आवश्यक होता है।” नागरिक अधिकार प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता माने जाते हैं। भारत एक प्रजातांत्रिक देश है और इसलिए भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को अनेक आवश्यक अधिकार प्रदान किये गये हैं। जिन्हें मूल या मौलिक अधिकार कहते हैं। प्रत्येक नागरिक के जीवन में ये अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

मूल अधिकार क्या हैं ? आधुनिक युग में यह मान लिया गया है कि राज्य का अस्तित्व नागरिकों के कल्याण हेतु है। अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में पूरा-पूरा सहयोग दे। नागरिकों को कुछ मूल अधिकार प्रदान करके राज्य अपने इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। ऐसा विष्वास किया जाता है कि व्यक्ति के नैतिक, भौतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए मूल अधिकार उतने ही आवश्यक हैं जितना जिन्दगी के लिए जल। इसलिए प्रत्येक प्रजातांत्रिक संविधान द्वारा नागरिकों को कुछ ऐसे अधिकार दे दिये जाते हैं। इन अधिकारों के बिना नागरिक के व्यक्तित्व का विकास असम्भव है। इनकी अनुपस्थिति में मनुष्य की सर्वतोमुखी उन्नति रुक सकती है। इसलिए आज के युग के प्रत्येक कल्याणकारी राज्य के नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त होते हैं।

भारतीय शासन राजनीति

संविधान में मूल अधिकारों की उत्पत्ति और विकास — संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में हुआ। इसके बाद फ्रांस ने अपने संविधान में कतिपय मूल अधिकारों का उल्लेख किया। इसका प्रभाव अन्य देशों पर पड़ा। सोवियत संघ के संविधान में मूल अधिकारों का विस्तृत वर्णन हुआ है। आयरलैंड और स्विट्जरलैंड के संविधान में भी इन्हें उपयुक्त स्थान मिला है। सामान्यतः सभी लिखित आधुनिक संविधानों में मूल अधिकारों का उल्लेख किया जाता है तथा कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका से उनकी रक्षा की व्यवस्था भी की जाती है। फिर भी, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि कुछ ऐसे देश हैं जिनके संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि वहाँ के नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

1 मूल अधिकार के उद्देश्य — संविधान में मूल अधिकार एक-दूसरे उद्देश्य से भी रखे जाते हैं। कार्यपालिका या व्यवस्थापिका में प्रायः ऐसी प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे नागरिकों के अधिकार पर अनावश्यक अतिक्रमण कर निरंकुश बनने की चेष्टा करती रहती हैं। मौका मिलते ही वे व्यक्ति की स्वतंत्रता हड़पने की कोशिश करने लगती हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख नितान्त आवश्यक है। इनके द्वारा नागरिकों को कुछ ऐसे अधिकार दिये जाते हैं जिनका अपहरण नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह है कि राज्य इस प्रकार का कोई भी कानून नहीं बना सकता जिससे इन अधिकारों का उल्लंघन हो। यदि राज्य ऐसा करने का प्रयास करे तो नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त रहता है कि वे राज्य के विरुद्ध न्यायालय की शरण लें। न्यायालय यदि उस कार्यवाही या कानून को मूल अधिकारों के विपरीत मान ले तो उसे अवैध घोषित कर सकता है। इस दृष्टि में राज्य उक्त कानून का प्रयोग नहीं कर सकता है।

मूल अधिकारों की विशेषताएँ मूल अधिकारों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं— सर्वप्रथम, मूल अधिकारों का उपभोग सबके द्वारा समान रूप से होना चाहिए। प्रजातंत्र में प्रायः हमेशा बहुमत प्राप्त दल का शासन होता है। इस स्थिति में इस बात की सम्भावना हो जाती है कि कहीं बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्यकों के हितों को ध्यान न रखें तथा उन्हें विकास का अवसर न दें। इसलिए भी संविधान में मूल अधिकार का समावेश कर दिया जाता है जिससे अल्पसंख्यक भी उसका उपभोग कर सकें। मूल अधिकारों को संविधान का अंग बना देने का एक परिणाम यह है कि सरकार नागरिकों की उन सुविधाओं का अपहरण आसानी से नहीं कर सकती है। ये अधिकार चाहे कोई भी राजनीतिक दल शासनारूढ़ हो—बने रहते हैं। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान में रखने योग्य है जहाँ कुछ राजनीतिक अधिकार नागरिकों को प्राप्त होते हैं वहाँ मूल अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त रहते हैं, चाहे वह देश का नागरिक हो या नहीं। उदाहरण के लिए, भारत में वोट देने का अधिकार केवल भारतीय नागरिकों को प्राप्त है, परन्तु जीवन की रक्षा तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता से सम्बद्ध अधिकार सबको प्राप्त हैं, चाहे वे भारतीय नागरिक हों या विदेशी।

इस सम्बन्ध में एक बात और है। मूल अधिकार असीमित (नदसपउपजमक) नहीं हो सकते। कुछ परिस्थितियों में वे सीमित हैं और स्थागित भी किये जा सकते हैं। अधिकार की निश्चित सीमा होती है। यदि किसी व्यक्ति को किसी भी सम्बन्ध में असीम अधिकार दे दिये जायँ तो इसका अर्थ यह होगा कि उससे अन्य लोगों की स्वतंत्रता सीमित हो जायेगी। इस कारण संविधान में ही मूल अधिकारों पर परिस्थिति के अनुकूल अंकुश लगा दिये जाते हैं।

क्या संविधान में मूल अधिकारों का वर्णन आवश्यक है? — कुछ लोगों का मत है कि संविधान में मूल अधिकारों का वर्णन नहीं करना चाहिए क्योंकि व्यक्ति के अधिकार समय और परिस्थिति पर निर्भर करते हैं। इसलिए उन्हें राज्य के साधारण कानूनों द्वारा दिया जाना चाहिए जिससे वे समयानुकूल बदले जा सकें। अधिकारों को संविधान में लिख

देने से जनता के हृदय में व्यर्थ की आशा बँधी रहती है जो कभी कभी पूरी नहीं होती। —

लेकिन एक मत इसके विपरीत भी है जो अधिक उचित जान पड़ता है। इस मत के लोगों का कहना है कि संविधान देश का मूल कानून होता है और जब मूल अधिकारों का वर्णन संविधान में कर दिया जाता है तो संसद या कार्यपालिका उन्हें आसानी से नहीं बदल सकती। इस हालत में व्यक्ति के अधिकार अधिक सुरक्षित रहते हैं। देश में आने वाली कोई भी सरकार नागरिकों को मूल अधिकारों से वंचित नहीं कर सकती क्योंकि उनका संविधान में बखूब उल्लेख रहता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यद्यपि यह विचार अधिक उचित मालूम पड़ता है, पर व्यावहारिक दृष्टि से इसमें कोई तथ्य नहीं है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान में ही संशोधन करके मूल अधिकारों को सीमित कर दिया गया है। भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के उल्लिखित करने के सम्बन्ध में डॉ अम्बेडकर ने दो उद्देश्य बतलाये थे। प्रथम यह कि प्रत्येक व्यक्ति को इन अधिकारों के उपभोग का अधिकार हो और द्वितीय, प्रत्येक व्यक्ति इन्हें मानने के लिए बाध्य हो !

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में

भारतीय संविधान में मूल अधिकार हमारे नेता बराबर भारतीयों के लिए मूल अधिकारों की माँग करते रहे थे। 1928 की नेहरू रिपोर्ट में इनका विस्तृत वर्णन किया गया था। 1931 में कांग्रेस ने कराँची – अधिवेशन में इनके सम्बन्ध में एक विस्तृत प्रस्ताव स्वीकार किया था। जब 1935 का अधिनियम बन रहा था।

भारतीय जनता ने जोरदार षब्दों में यह माँग की थी कि उसमें कुछ मूल अधिकारों की चर्चा भी हो। पर ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की इस माँग को कभी स्वीकार नहीं किया। अतएव जब हमारे संविधान का निर्माण का कार्य शुरू हुआ तो संविधान के निर्माताओं ने इस पहलू पर काफी जोर दिया। फलतः हमारे संविधान में मूल अधिकारों का विषय रूप से वर्णन किया गया है। विशेषता यह है कि हमारे संविधान में मूल अधिकारों का वर्णन जितने विस्तार के साथ हुआ है उतना संसार के किसी भी संविधान में नहीं हुआ। मूल अधिकारों का उल्लेख संविधान में तीसरे भाग के 12वें अनुच्छेद से 35वें अनुच्छेद तक पाया जाता है। इन अधिकारों को राज्य के अतिक्रमण से बचाने के लिए संविधान में ही पूरा-पूरा प्रबन्ध कर दिया गया। साथ ही कुछ विशेष परिस्थितियों में इन पर कतिपय प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं। सब मिलाकर ये भारतीय नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा उनके सर्वतोमुखी विकास के जमानतदार हैं। यदि हम इन्हें अपने संविधान का प्राण कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारतीय मूल अधिकारों की विशेषताएँ – वैसे तो संसार के अनेक संविधानों में मूल अधिकारों का उल्लेख है पर भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। ये निम्नलिखित हैं

1. वषट् व्याख्या भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों संसार के किसी भी संविधान में वर्णित मूल अधिकारों से अधिक विस्तृत हैं। इसकी जितनी व्यापक और बखूब व्याख्या भारत के संविधान की गयी है, उतनी संसार के किसी भी संविधान में नहीं है। भारतीय संविधान के सम्पूर्ण तीसरे अध्याय में अनुच्छेद 12 से लेकर 35 तक इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। विभिन्न अधिकारों पर लगी सीमाओं (सपउपजंजपवदे) की भी स्पष्ट व्याख्या कर दी गयी है।

2. नकारात्मक एवं सकारात्मक अधिकार भारतीय संविधान के निर्माताओं ने नकारात्मक एवं सकारात्मक, दोनों प्रकार के अधिकारों की व्यवस्था संविधान में की है। ऐसे अधिकारों को नकारात्मक कहा गया है जो राज्यशक्ति को मर्यादित करते हैं। संविधान में ऐसे अधिकारों के उदाहरण की कमी नहीं है। अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि राज्य किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं कर सकता है। अनुच्छेद 17 में छुआछूत के आचरण को गलत कहा गया है। इस प्रकार अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। अनुच्छेद 18 में कहा गया है कि राज्य सेना या शिक्षा से सम्बद्ध

उपाधि के सिवाय अन्य कोई उपाधि नहीं दे सकता। इसके विपरीत, सकारात्मक अधिकार वे हैं जो नागरिकों को विषिष्ट अधिकार देते हैं। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार, आदि सकारात्मक अधिकार की श्रेणी में आते हैं। दोनों प्रकार के अधिकारों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि नकारात्मक अधिकार अमर्यादित हैं, जबकि सकारात्मक अधिकार सीमित एवं मर्यादित हैं।

3. मूल अधिकारों द्वारा विभिन्न संस्थाओं पर प्रतिबन्ध

मूल अधिकारों द्वारा न सिर्फ केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार पर ही प्रतिबन्ध लगाया गया है, बल्कि अन्य संस्थाओं पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। जिन संस्थाओं को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त है उन पर मूल अधिकारों द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। ऐसी संस्थाओं में जिला बोर्ड, नगरपालिकाएँ, जिला परिषद, पंचायत समिति, ग्राम पंचायत आदि के नाम आते हैं। मूल अधिकारों का क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण भारत है। किसी संस्था के द्वारा ऐसे कानूनों का निर्माण नहीं किया जा सकता है जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हों। इस प्रकार मूल अधिकारों द्वारा विभिन्न संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाया गया है।

4. मूल अधिकारों पर कतिपय प्रतिबन्ध मूल अधिकारों पर संविधान द्वारा कतिपय प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं होता। अतः भारतीय संविधान में भी विभिन्न मौलिक अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं और अनेक स्थानों पर 'उचित प्रतिबन्ध' (तमेंवदंइसम तमेजतपबजपवद) की चर्चा मिलती है। डॉ. अम्बेदकर ने कहा था कि "हमने यह नहीं किया कि संविधान 'मैं अमर्यादित मूल अधिकार प्रदान करके हम, सर्वोच्च न्यायालय से यह आशा करते कि वह पुलिस-शक्ति के सिद्धान्त का आश्रय लेकर संसद की सहायता करता, बल्कि इसके विपरीत हमने संविधान में राज्य को प्रत्यक्ष ढंग से आज्ञा प्रदान की है कि वह मूल अधिकारों पर सीधे प्रतिबन्ध लगा सके।"

5. नागरिकों और गैरनागरिकों में भेद — मूल अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध में नागरिकों और गैर नागरिकों में भेद बरता गया है। कुछ मूल अधिकारों के उपभोग का अधिकार नागरिक और गैर नागरिक दोनों को दिया गया है। परन्तु कुछ मूल अधिकारों के उपभोग का अधिकार सिर्फ देश के नागरिकों को ही है। उदाहरण के लिए, कानून के समक्ष समानता तथा धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार नागरिक और गैर नागरिक, दोनों को समान रूप से प्राप्त हैं। परन्तु विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार, सभा बुलाने की स्वतंत्रता का अधिकार आदि सिर्फ देश के नागरिकों तक ही सीमित हैं।

इकाई 7

मूल कर्तव्य राज्य के नीति निर्देशक तत्व

अधिकारों के प्रवर्तन की समुचित व्यवस्था अधिकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संविधान में मूल अधिकारों के वर्णन के साथ-साथ उनके प्रवर्तन की भी उचित व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद 32 के अनुसार नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार दिया गया है जिसका अर्थ यह है कि नागरिकों को अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय को मूल अधिकारों का संरक्षण बनाया गया है। वह मूल अधिकारों के लिए समुचित आदेश या लेख — जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिशोध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण के लेख आते हैं — जारी कर सकता है। अनुच्छेद 226 अनुसार उच्च न्यायालयों को भी आदेश या लेख जारी कर मूल अधिकारों के प्रवर्तन का अधिकार दिया गया है।

भारतीय संविधान में प्राकृतिक अधिकारों का पूर्ण अभाव है। भारतीय संविधान में नागरिकों को संविधान में वर्णित अधिकारों के संरक्षण के लिए ही न्यायालयों की शरण में जाने का अधिकार है। उसके बाहर के अधिकारों के संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। उसी

तरह ऐसे ही कानूनों को असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हों। इसके विपरीत, अमेरिका के संविधान के नौवें संशोधन में कहा गया है कि संविधान में वर्णित अधिकारों के अतिरिक्त भी नागरिक अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को भारतीय सर्वोच्च न्यायालय से भिन्न "प्राकृतिक अधिकार के नाम पर संविधान की व्याख्या का असीमित अधिकार प्राप्त है।

8. मूल अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था – भारतीय संविधान के निर्माताओं मूल अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था भी कर डाली है। संविधान में उन स्थितियों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है जिनमें मूल अधिकार निलम्बित किये जा सकते हैं। आपातकालीन स्थिति का प्रभाव कई मूल अधिकारों पर पड़ता है। आपातकालीन स्थिति में राष्ट्रपति को आवश्यकता पड़ने पर संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी निलम्बित करने की शक्ति दी गयी है।

9. मूल अधिकारों को सीमित करने की व्यवस्था भारतीय संविधान में कुछ परिस्थितियों में मूल अधिकारों को सीमित करने की भी व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के

लिए, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 33 में यह व्यवस्था की गयी है कि सशस्त्र सेना में अनुशासन बनाये रखने के लिए तथा सैनिक कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन कराने के लिए भारत के सशस्त्र बल से सम्बन्ध मौलिक अधिकारों में संसद द्वारा आवश्यक संशोधन किया जा सकता है। यह उपबन्ध सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने वाले अन्य बलों पर भी लागू होता है। उसी तरह अनुच्छेद 34 के अनुसार किसी स्थान पर सेवानिधि पर मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। सेवा निधि लागू होने की स्थिति में किसी व्यक्ति को भी निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार मूल अधिकारों को सीमित करने की भी व्यवस्था की गयी है।

10. मूल अधिकारों में संशोधन की व्यवस्था मूल अधिकारों को भी संसद के दोनों सदनों में प्रत्येक की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत और प्रत्येक सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से संशोधित किया जाता था। लेकिन 27 फरवरी 1967 ई. को 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अनुसार संसद मूल अधिकारों को छीनने या सीमित करने के उद्देश्य से संविधान में संशोधन नहीं कर सकती थी। परन्तु अब (24वाँ संविधान संशोधन) विधेयक लोकसभा में पारित हो चुका है, जिसके अनुसार संसद को संविधान के किसी भाग में – जिनमें मूल अधिकार भी शामिल हैं – संशोधन करने का अधिकार दिया गया है। मूल अधिकारों का वर्गीकरण (बसेपपिबंजपवद वत्थिनदकउमदजंस त्पहीजे)

भारतीय संविधान के तीसरे भाग में अनुच्छेद 12 से लेकर 35 तक नागरिकों के विभिन्न मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिये इन्हें आठ शीर्षकों में बाँटा जा सकता है –

1. सामान्य उपबंध (ळमदमतंस त्तवअपेपवदे)
2. समता का अधिकार (त्पहीज जव मुंसपजल)
3. स्वतंत्रता का अधिकार (त्पहीज जव त्थममकवउ)
4. शोषण के विरुद्ध अधिकार (त्पहीज हंपदेज म्चसवपजंजपवद)
5. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (त्पहीज जव त्थममकवउ वत्थिसपहपवद)
6. सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (बनसजनतंस दक म्कनबंजपवदंस त्पहीज)
7. सम्पत्ति का अधिकार (त्पहीज जव त्तवचमतजल).
8. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (त्पहीज जव ब्बदपजपजंजपवदस त्मउमकपमे)

भारतीय शासन राजनीति

1. सामान्य उपबन्ध (ळमदमतंस च्त्वअपेपवदे).

संविधान में कुछ सामान्य उपबन्धों की चर्चा की गयी है। संविधान के 12वें और 13वें अनुच्छेदों में इनकी चर्चा की गयी, जिसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

क्षेत्र सामान्य उपबन्धों के उल्लेख का उद्देश्य सात मूल अधिकारों की रक्षा करना है। आरम्भ में 'राज्य' शब्द की बहुत ही व्यापक परिभाषा दी गयी है। इसके अनुसार संघ – सरकार और संसद, राज्य सरकारें और उनके विधानमंडल, स्थानीय सरकार एवं भारत सरकार के आधीन अन्य संस्थाएँ भारत राज्य के अन्तर्गत आती हैं। जिन क्षेत्रों पर उपर्युक्त संस्थाओं का अधिकार है, मूल अधिकार उन सभी क्षेत्रों में लागू रहेंगे। इस प्रकार मूल अधिकारों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक बनाया गया है।

इस उपबन्ध में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संविधान में वर्णित मूल अधिकारों का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही नहीं अपितु भूत तथा भविष्य से भी है। अतएव कहा गया है कि संविधान के लागू होने से पूर्व बने हुए उन सभी कानूनों और अधिनियमों को अवैध माना जाएगा जो मूल अधिकारों के प्रतिकूल हों या उनका इनसे मेल नहीं खाता हो फिर

साथ ही इस बात की घोषणा कर दी गयी है कि भविष्य में राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता है जो संविधान के तत्पीय अध्याय में वर्णित मूल अधिकारों के विरुद्ध हो ।

न्यायपालिका – इसके बाद अधिकारों की रक्षा का भार देश की न्यायपालिका को सौंपा गया है। न्यायपालिका राज्य द्वारा बनाये गये किसी कानून को मूल अधिकारों के विरुद्ध घोषित कर सकती है और भारत के न्यायालयों ने बहुत से ऐसे कानून का अवैध घोषित भी किया है। उदाहरणार्थ, सर्वोच्च न्यायालय ने 1950 के नजरबन्दी कानून (त्तमअमदजपअम कमजमदजपवद ।बज) की चौदहवीं धारा को संविधान की बाईसवीं और बत्तीसवीं

राओं के विरुद्ध ठहराया । इस प्रकार के अन्य कितने ही अधिनियम न्यायपालिका द्वारा मूल अधिकारों के विपरीत प्रमाणित कर अवैध घोषित किये जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने एक बहुत बड़ा कदम उठाया है। 27 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संविधान में जिन मौलिक अधिकारों की गारंटी है, संसद को उन्हें छीन लेने का कोई अधिकार नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री. सुब्बाराव ने बताया कि भारत में संविधान ही सर्वोच्च है और संविधान द्वारा जो अधिकार बताये गये हैं उन्हें बुनियादी कानून की व्यवस्था के अनुसार काम करना है। अन्य न्यायाधीशों ने कहा कि संविधान ने जो मौलिक अधिकार दिये हैं उनमें संसद को दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। संविधान के तेरहवें अनुच्छेद में यह बताया गया है कि राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बनायेगा जिसमें संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों पर आघात हो या वे रद्द हो जायें । सर्वोच्च न्यायालय ने इसी पर ध्यान रखकर अपना उक्त ऐतिहासिक फैसला किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अब संसद को संविधान के तीसरे भाग में संशोधन करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के इस फैसले के मुताबिक नहीं रहेगा। परन्तु संसद इस अधिकार को फिर से प्राप्त करने के दृष्टिकोण से संविधान का 24वाँ संशोधन – विधेयक लोकसभा द्वारा पारित किया जा चुका है। सामान्य उपबन्धों के बाद संविधान में वास्तविक मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है । आगे की पंक्तियों में हम इन्हीं अधिकारों का विस्तृत विप्लेशन करेंगे।

2. समता का अधिकार (त्पहीज जव. मुंसपजल)

समता प्रजातंत्र का आधारभूत सिद्धान्त है। हमारे संविधान निर्माताओं ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझा था। अतः मूल अधिकारों की सूची में इसे प्राथमिकता प्रदान की गयी है। संविधान के 14 वें से 18 वें अनुच्छेदों में समता के अधिकार का वर्णन किया गया है। फिर इसे पाँच अलग अलग वर्गों में बाँटा गया है। इनका विवरण इस प्रकार है :

(क) कानून के समक्ष समता— संविधान इस बात की घोशणा करता है कि राज्य की दृष्टि में भारत का प्रत्येक नागरिक समान है। सबके लिए कानून बराबर है। संविधान के चौदहवें अनुच्छेद में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्य कोई भी ऐसा कानून नहीं बना सकता जो व्यक्ति को कानून की समता के अधिकार अथवा भारत – राज्य के अन्तर्गत नागरिकों को कानूनों के समान संरक्षण से वंचित करे। दूसरे शब्दों में, कानून द्वारा नागरिकों में कोई विभेद नहीं किया जा सकता इस प्रकार, कोई भी नागरिक – चाहे वह धनी हो या निर्धन, शिक्षित हो या अशिक्षित, उच्च हो या नीच – कानून से परे नहीं है और इस दृष्टि से किसी भी नागरिक को विशेषाधिकार अथवा विशेष सुविधा प्राप्त नहीं है।

समता का अधिकार हमारे संविधान का बहुत ही बड़ा महत्वपूर्ण अंग है। सबसे पहले इसके द्वारा ब्रिटेन की तरह हमारे देश में विधि के शासन की स्थापना हुई है जिसके अनुसार सरकारी तथा गैर सरकारी व्यक्तियों में कानून के आचरण की दृष्टि से कोई विभेद नहीं किया जाता। सभी व्यक्ति एक तरह के कानून एवं एक तरह के साधारण आदेशों के मातहत हैं।

राज्य का कानून सबके लिए बराबर है। हमारी न्यायपालिका ने अपने न्यायिक निर्णयों द्वारा इसे और भी स्पष्ट कर दिया है।

इस सम्बन्ध में एक और बात स्पष्ट करने योग्य है। कानूनी समता का तात्पर्य यह नहीं है कि नागरिकों के बीच न्यायोचित भेदभाव नहीं किया जाय। जैसा कि न्यायधीष

! दीक्षित ने कहा था “कानून के सामने समता का अर्थ व्यक्तियों की पूर्ण समानता नहीं है कृ समान संरक्षण का अर्थ यह है कि स्वयं कानूनों के क्रियान्वयन में मनमाना भेदभाव नहीं होना चाहिए। व्यवस्थापिका नागरिकों में उचित वर्गीकरण कर सकती है। पर इस प्रकार का वर्गीकरण मनमाना न हो और किसी व्यक्ति के हित पर इसका विपरीत प्रभाव नहीं पड़े।

‘इस सम्बन्ध में कुछ मुकदमों का उल्लेख किया जा सकता है। चिरंजीव लाला चौधरी बनाम भारत संघ नामक मुकदमे में संघीय सरकार पर यह आरोप लगाया गया कि भोलापुर कताई एवं बुनाई अधिनियम 1950 द्वारा सिर्फ एक कम्पनी को सरकार ने अपने हाथ लेकर अनुच्छेद 14 के विरुद्ध भेदभाव का बरताव किया है। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने तथ्यों के अभाव में चिरंजीव लाला चौधरी के विरुद्ध निर्णय दिया। केदारनाथ बनाम पश्चिम बंगाल सरकार’ नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने अपना निर्णय दिया कि यह पूर्णतः निश्चित हो गया है कि संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा प्रदत्त कानून के समक्ष समान संरक्षण का अर्थ यह है कि सभी कानून सामान्य प्रकृति के हों तथा उनका प्रभाव सर्वव्यापी हो तथा विधि निर्माण के लिए राज्य को शक्तियों या वस्तुओं में भेदभाव तथा वर्गीकरण करने का अधिकार नहीं है।

इन निर्णयों के बाद यह स्पष्ट है कि किसी प्रकार का भेदभाव अथवा वर्गीकरण मनमाना तथा अयुक्तिसंगत नहीं होना चाहिए। साथ ही उस भेदभाव अथवा वर्गीकरण का विपरीत प्रभाव किसी व्यक्ति के ऊपर नहीं पड़ना चाहिए। अनुच्छेद 14 द्वारा केवल राज्य पर ही भेदभाव की नीति के लिए रोक लगायी गयी है, व्यक्तियों के भेदभाव के व्यवहार पर नहीं क्योंकि उस पर रोक लगाने का अर्थ है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण।

(ख) सामाजिक समता अनुच्छेद 15 के अनुसार संविधान सामाजिक समता का अधिकार देता है। इसके अनुसार नागरिकों को आषासन दिया गया है कि

1. राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान

. अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।

2. केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार

पर किसी भी नागरिक को

भारतीय शासन राजनीति

(प) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, मनोरंजनो के स्थान में प्रवेश करने से नहीं रोका जायगा।

(पप) पूर्ण अथवा आंशिक रूप से राज्यविधि द्वारा पोषित अथवा जनसाधारण के लिए बनाये गये कुओं, स्नान घाटों, पार्कों तथा सार्वजनिक उपभोग के स्थानों का उपभोग करने से वंचित नहीं किया जा सकता है।

इस अधिकार पर गाँधीजी के विचारों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक समता की स्थापना प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्त है। भारत के षिषु प्रजातंत्र को इससे बहुत शक्ति प्राप्त हुई है। इस अधिकार के द्वारा धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान के आधार पर किये जानें वाले भेदभाव को निशिद्ध ठहराकर बहुत दिनों से प्रचलित सामाजिक असमानता की बुराई दूर करने की कोषिष की गयी है। इस प्रकार भारतीय प्रजातंत्र में इस अधिकार की महत्ता बहुत अधिक है।

कुछ कारणवश संविधान ने इस अधिकार पर भी कुछ प्रतिबंध लगा दिये हैं। सामाजिक समता उसी स्थिति में सम्भव है जब सभी नागरिकों की सामाजिक स्थिति समान हो। हमारे देश में ऐसी बात नहीं है और कुछ वर्गों की सामाजिक स्थिति काफी पिछड़ी हुई है। अतएव राज्य को स्त्रियों और बच्चों के लिए विषेश व्यवस्था करने का अधिकार है। संविध न में किये गये प्रथम संषोधन (1951) द्वारा सार्वजनिक षिक्षासंस्थाओं में पिछड़े एवं अनुसूचित वर्गों तथा आदिम जातियों के लिए विषेश सुविधा के प्रबन्ध का अधिकार राज्य को दिया गया है। इसके अतिरिक्त राज्य पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी सेवाओं में कुछ स्थान सुरक्षित रख सकता है।

(ग) अवसर की समता गणतन्त्र पद्धति की सबसे बड़ी विषेशता यह है कि बिना किसी भेदभाव के कोई भी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार राज्य के किसी भी पंद पर पहुँच जाय। यह तभी सम्भव है जब नगरिकों को सार्वजनिक पद की प्राप्ति में अवसर की समता का अधिकार दिया जाय। अतएव संविधान के 16वें अनुच्छेद द्वारा राज्याधीन सभी सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में अवसर की समानता दी गयी है। संविधान इस बात का आष्वासन देता है कि जाति, धर्म, वर्ण, लिंग आदि के आधार पर नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं किया जायगा। परन्तु इस सम्बन्ध में भी दो अपवाद हैं। संसद को यह अधिकार दिया गया है। कि सरकारी नौकरियों में वह निवास स्थान की आवश्यक योग्यता लगा दे। दूसरे षब्दों में, संसद कानून बनाकर यह निष्चित कर दे कि अमुक सेवाएं किसी राज्य के या स्थानीय पद वहीं के निवासियों के लिए सुरक्षित हैं। स्थानीय हितों की रक्षा के लिए यह आवश्यक था। दूसरे राज्य को यह अधिकार है कि वह पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में कुछ स्थान सुरक्षित रखे। परन्तु पिछड़ी जातियों की नियुक्ति करते समय षासन की कुषलता को भी ध्यान में रखना आवश्यक समझा जायगा। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 355 में इस बात को स्पष्ट लिख दिया गया है कि सरकारी पदों पर पिछड़े वर्गों की नियुक्ति का दावा वहीं तक उचित होगा जहाँ तक षासन की कुषलता को उससे ठेस नहीं पहुँचे। तीसरे यह व्यवस्था धार्मिक स्वतंत्रता पर व्याघात नहीं कर सकती। इसका किसी ऐसे कानून के प्रवर्तन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जिसके अनुसार किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बन्ध कोई पदाधिकारी या उसके षासी निकाय का सदस्य किसी विषिष्ट धर्म का अनुयायी या किसी सम्प्रदाय का होना चाहिए। :

(घ) अस्पष्ण्यता का अन्त सामाजिक समता और अस्पष्ण्यता का व्यवहार परस्पर विरोधी बातें हैं। जब संविधान ने सामाजिक एकता के सिद्धान्त को गले लगाया है तो आवश्यक था कि अस्पष्ण्यता का अन्त भी कर दिया जाय। छुआ छूत हमारे समाज का एक ऐसा कलंक है जो सदियों से चला आ रहा है। संविधान ने सदा के लिए इस व्यवहार का अन्त कर दिया है। संविधान के अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि अस्पष्ण्यता का अन्त किया जाता है और किसी भी रूप में अस्पष्ण्यता का आचरण निशिद्ध तथा दण्डनीय है। अस्पष्ण्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता को लागू करना अपराध है जो कानून के अनुसार दण्डनीय है।

इस अनुच्छेद पर भी महात्मा गाँधी के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। गाँधीजी ने ही 'अछूतों' द्वारा आन्दोलन चलाकर एक महान् सामाजिक क्रान्ति लाने की चेष्टा की। संविधान निर्माताओं ने भी छुआछूत को एक सामाजिक बुराई रूप में स्वीकार किया और इसका अन्त कर दिया। इसी व्यवस्था के आधार पर 1955 में संसद ने अस्पृश्यता अपराध अधिनियम पारित किया। उसी अवसर पर गृहमंत्री ने संसद में कहा था कि छूआं छूतरूपी कैंसर हमारे समाज की रगों में घुस चुका है। यह न केवल हिन्दू समाज पर एक दाग है, वरन् यह समाज में असहिष्णुता और साम्प्रदायिकता जैसी अनेक बुराइयों की जड़ है। छुआ-छूत का विचार हमारे संविधान के स्वरूप, भावना तथा उपबन्धों के पूर्णतः प्रतिकूल है।

:अस्पृश्यता अपराध अधिनियम का उद्देश्य अनुसूचित जातियों के साथ किये जाने वाले भेदभाव को अवैध ठहराना है। इसके द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि अस्पृश्यता के आधार पर किसी व्यक्ति को सार्वजनिक पूजास्थान में प्रवेश करने या प्रार्थना करने या धार्मिक कार्य करने से रोकना अपराध है। अस्पृश्यता के आधार पर किसी व्यक्ति को किसी दुकान, सार्वजनिक जलपानगृह, होटल, धर्मशाला, सराय में वस्तुओं के प्रयोग करने या कोई धन्य काम, व्यापार वाणिज्य करने या किसी नदी, कुआँ, तालाब, स्नानघाट, श्मशानघाट सड़क, रास्ता आदि के प्रयोग से रोकना भी अपराध है। इसी आधार पर किसी व्यक्ति को किसी अस्पताल, औषधालय, शिक्षणसंस्था या सार्वजनिक जलपानगृह आदि में भी प्रवेश से नहीं रोका जा सकता है। अधिनियम में स्पष्ट व्यवस्था कर दी गयी है कि अस्पृश्यता का आचरण करने वाले को छह महीने तक का कारावास या पाँच रुपये तक जुर्माना या दोनों सजाएँ दी जा सकती हैं।

(ङ) उपाधियों का अन्त – अनावश्यक उपाधियाँ समाज में कृत्रिम असमानता उत्पन्न करती हैं। अंग्रेजी शासनकाल में इस तरह की कई उपाधियाँ दी जाती थीं, जैसे—

रायबहादुर, रायसाहब सर आदि। लेकिन यह प्रथा प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों का उल्लंघन करती है। यह व्यर्थ ही सामाजिक असमानता स्थापित करती है। अतएव संविधान के 18वें अनुच्छेद द्वारा सेना तथा शिक्षा से सम्बद्ध उपाधियों को छोड़कर अन्य सभी उपाधियों का अन्त कर दिया गया है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि कोई भारतीय नागरिक किसी विदेशी राज्य की कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता। भारत सरकार का कोई विदेशी 'सेवक' भी राष्ट्रपति की अनुमति के बिना कोई विदेशी उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता है। फिर भी विभिन्न क्षेत्रों में की गयी विषिष्ट सेवाओं के लिए राज्य नागरिकों कुछ उपाधि प्रदान कर सकता है। भारत-रत्न, पद्मविभूषण आदि उपाधियाँ इसी कोटि में आती हैं।

समता के अधिकार की आलोचना – समता के अधिकार की आलोचनाएँ भी की गयी हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नागरिकों को राजनीतिक और न्यायिक समता नहीं दी गयी है। अस्पृश्यता का अन्त अवश्य किया गया है परन्तु भारतीय समाज में यह अब भी विद्यमान है। बिना मनोवैज्ञानिक क्रान्ति के इस रोग को दूर नहीं किया जा सकता है। सर आइवर जेनिंग्स ने संविधान के अनुच्छेद 18 पर सबसे अधिक प्रहार किया है। उन्हीं के शब्दों में, ऐसा प्रतीत होता है यदि सर जॉन ब्राउन डॉ० जॉन ब्राउन या जनरल ब्राउन बन जाते हैं या वे स्वर्णजणित मोटर पर घूमते हैं या वे अपनी स्त्री को जवाहरात और सिल्क की साड़ियों से लाद देते हैं तो समता के अधिकार का खण्डन नहीं होता, परन्तु यदि उनके जैसा (सर आइवर जेनिंग्स जैसा) कोई प्राध्यापक नाइट की निःशुल्क उपाधि प्राप्त कर लेता है तो समता के अधिकार का खण्डन हो जाता है।”

3. स्वतंत्रता का अधिकार (स्पष्टीकृत जव श्वतममकवउ)

‘नागरिकों के विभिन्न मौलिक अधिकारों में स्वतंत्रता का अधिकार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्रजातांत्रिक शासनव्यवस्था के लिए जितना अधिक महत्व समानता का है इससे किसी भी दशा में कम महत्व स्वतंत्रता का नहीं है। वस्तुतः स्वतंत्रता प्रजातंत्र का एक प्रमुख आधार है। स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति का जीवन बेकार है। अतएव नागरिकों को अपने व्यक्तित्व

भारतीय शासन राजनीति

के विकास के लिए भारतीय संविधान द्वारा स्वतंत्रता के अधिकार भी दिये गये हैं। इस अधिकार का उल्लेख 19वें से 22वें अनुच्छेदों में किया गया है। इसमें अनुच्छेद 19 सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा नागरिकों को सात प्रकार की स्वतंत्रताएँ दी गयी हैं जिन्हें 'सप्त स्वतंत्रताएँ' कहते हैं। इनके द्वारा नागरिकों को वैयक्तिक स्वतंत्रता की गारंटी ही न दी गयी है, बल्कि उन सभी दशाओं को भी प्रस्तुत किया गया है जिनसे उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। उस पर कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध लगाना भी आवश्यक हो जाता है। इन अधिकारों के दुरुपयोग से बचाने के लिए संविधान द्वारा कुछ आवश्यक नियंत्रण भी लगा दिया गया है।

अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत नागरिकों की सात स्वतंत्रताओं का वर्णन किया गया है पायली ने इसी कारण इस अनुच्छेद को सम्पूर्ण संविधान की कुंजी कहा है। इस अनुच्छेद द्वारा जिन सात स्वतंत्रताओं की चर्चा की गयी है, वे इस प्रकार हैं :

- (क) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता
- (ख) शान्तिपूर्ण एवं निःशस्त्र होकार सम्मेलन की स्वतंत्रता
- (ग) संस्था या संघ बनाने की स्वतंत्रता
- (घ) भारत में अबाध संचरण विचरण की स्वतंत्रता.
- (ङ) भारत के किसी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता
- (च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण एवं व्यय की स्वतंत्रता –
- (छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता

(क) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता – किसी भी जनतांत्रिक पद्धति में भाषण देने और अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार नितान्त आवश्यक है। इसके बिना न तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हो सकता है और न स्वस्थ जनमत का निर्माण ही। अतएव संविधान द्वारा भारतीय नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है। प्रेस की स्वतंत्रता भी इसी में सम्मिलित है। भारत के प्रत्येक नागरिक को भाषण देने, लिखने और किसी भी माध्यम से अपने विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता दी गयी है।

इस स्वतंत्रता पर कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं क्योंकि यह अधिकार किसी भी हालत में असीमित नहीं हो सकता। राज्य की सुरक्षा और सार्वजनिक हित के लिए इस पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। संविधान में कहा गया है कि राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक सुव्यवस्था, शिष्टता एवं नैतिकता के हित में तथा न्यायालय के अपमान, मानहानि की स्थिति और अपराधों के प्रोत्साहन को रोकने के लिए नागरिकों की इस स्वतंत्रता पर राज्य प्रतिबन्ध लगा सकता है।

मूल संविधान में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर बहुत कम प्रतिबन्ध लगाये गये थे। बाद में अनुभव किया गया कि स्वतंत्रता के दुरुपयोग को रोकने के लिए संविधान में जो व्यवस्था की गयी है, वह पर्याप्त नहीं हैं। कुछ मुकदमों के निर्णयों ने तो इस बात की आवश्यकता और बढ़ा दी कि भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिक प्रतिबन्ध लगाना— आवश्यक है। 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय देते हुए कहा कि "यदि भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से सार्वजनिक सुरक्षा खतरे में हो लेकर राज्य की सुरक्षा कमजोर नहीं पड़ी हो तो राज्य इस स्वतंत्रता को सीमाबद्ध नहीं कर सकता है।" इसी तरह 1951 में भारती प्रेस से सम्बद्ध मुकदमे में पटना के उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "यदि भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से राज्य की सुरक्षा कमजोर नहीं पड़े, भले ही उससे अपराध या हत्या को प्रोत्साहन मिले, तो राज्य

उसमें सीमाबद्ध नहीं कर सकता है।” इन निर्णयों के बाद भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर और भी प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो गया। अतः संविधान में संघोषधन की आवश्यकता जान पड़ी और 1951 में संविधान का प्रथम संघोषधन हुआ। इस संघोषधन द्वारा प्रतिबन्ध वाले उपबन्ध में ‘युक्तिसंगत’, ‘सार्वजनिक सुव्यवस्था’ और ‘विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध’

1. क्या भारतीय संविधान में मूल—

अधिकारों को सीमित करने की व्यवस्था भी की गई है? 2. क्या भारतीय संविधान में मूल अधिकारों को संघोषधित करने की व्यवस्था भी है?

जोड़ दिये गये हैं। इस प्रकार कतिपय अन्य प्रयोजन बढ़ा दिये गये हैं, जिन्हें दृष्टि में रखकर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर संघ और राज्य की सरकारें प्रतिबन्ध लगा सकती हैं। इस प्रकार, वर्तमान समय में निम्नलिखित प्रयोजनों से नागरिकों के भाषण और अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता पर युक्तिसंगत प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं— (क) राज्य की सुरक्षा, (ख) विदेशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, (ग) सार्वजनिक व्यवस्था, (घ) अपराध को उकसाने से रोकना, (ङ) नैतिकता व पविष्टता, (च) न्यायालय के अपमान को रोकना, (छ) अपमान — लेख, अपमान — वचन और मानहानि रोकना ।

इस प्रकार भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को काफी सीमित कर दिया गया है। कुछ विचारकों का कहना है कि प्रयोजन काफी व्यापक हैं। उन्हें आशंका है कि सार्वजनिक व्यवस्था और राज्य की सुरक्षा की आड़ में सरकार ऐसे कानूनों का निर्माण कर सकती है जिनसे भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार नाममात्र का रह जाये। विचारकों का तर्क है कि प्रजातांत्रिक राज्य में बहुमत दल वाले अल्पमत दल के विचारों का प्रचार रोकने के लिए भी ऐसे कानूनों का निर्माण करवा सकते हैं। परन्तु विचारक यह भूल जाते हैं कि भारत के संघोषधित संविधान में ‘युक्तिसंगत प्रतिबन्ध’ शब्द का प्रयोग किया गया है। सरकार ऐसे ही कानूनों का निर्माण कर सकती है जिनसे भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर जो प्रतिबन्ध लगें वे युक्तिसंगत हों। इसके निर्णय का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को है कि कानून द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे युक्तिसंगत हैं अथवा नहीं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर होते हैं। अतः आशा की जाती है कि वे इसका निर्णय सही देंगे कि भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाये गये प्रतिबन्ध संगत हैं अथवा नहीं। ‘चिन्तामणि राव बनाम मध्यप्रदेश राज्य’ नामक मुकदमे में न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विधानमंडल द्वारा युक्तिसंगत प्रतिबन्ध का निर्धारण अन्तिम नहीं माना जायेगा। यह अधिकार न्यायालय को प्राप्त है। ‘द्वारका प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य’ नामक मुकदमे में युक्तिसंगत प्रतिबन्ध’ शब्द की व्याख्या करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि “युक्तिसंगत प्रतिबन्ध पद का अर्थ है कि किसी व्यक्ति के अधिकार उपभोग पर स्वेच्छापूर्ण एवं सार्वजनिक हित की आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्ध न लगाया जाय। यदि कोई विधि स्वेच्छापूर्ण अथवा अत्यधिक मात्रा में एक अधिकार का अतिक्रमण करे तो उसे युक्तिसंगत कदापि नहीं कहा जा सकता और जब तक वह प्रत्याभूत स्वतंत्रता तथा 19वें अनुच्छेद के अन्तर्गत निर्धारित सामाजिक नियंत्रण में उचित सन्तुलन स्थापित नहीं करता, तब तक उसे युक्तिसंगत संज्ञा नहीं दी जा सकती।”

भाषण और विचार — अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा दोष देखने को यह मिलता है कि इसमें को स्वतंत्रता का अलग से उल्लेख नहीं किया गया है। भारतीय संविधान के आलोचकों ने लोगों का इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तुतः संविध

— निर्माता प्रेस की स्वतंत्रता का अलग से उल्लेख करने के पक्ष में नहीं थे। उनका तर्क यह था कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता अन्तर्निहित है, क्योंकि प्रेस किसी व्यक्ति द्वारा विचार — अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। प्रेस की स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध की व्यवस्था की गयी है।



1 ख) षान्तिपूर्ण एवं निःषस्त्र सम्मेलन की स्वतंत्रता – संविधान द्वारा नागरिकों को किसी भी प्रकार की सभा या सम्मेलन करने की पूरी आजादी है । कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार के सभा-सम्मेलन का आयोजन कर सकता है। जनतंत्र की सफलता के लिए यह स्वतंत्रता आवश्यक है क्योंकि इससे जनमत का निर्माण होता है, पर यह स्वतंत्रता भी असीमित नहीं है। इस पर भी कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। जैसे

1. सम्मेलन षान्तिपूर्ण होना चाहिए।”

2. उसमें किसी के पास अस्त्र-षस्त्र नहीं होने चाहिए और 3. सम्मेलन के कारण कोई सार्वजनिक अव्यवस्था नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। परन्तु विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की तरह इस स्वतंत्रता के सम्बन्ध में भी प्रतिबन्धों की व्यवस्था की गयी है, किन्तु प्रतिबन्ध युक्तिसंगत होना चाहिए। प्रतिबन्ध युक्तिसंगत है या नहीं, इसके निर्णय का भी अधिकार न्यायालय को है। अतः सरकार इसका दुरुपयोग नहीं कर सकती है। पटना के उच्च न्यायालय ने इस सम्बन्ध में “इन्द्रदेवसिंह बनाम बिहार राज्य” नामक मुकदमे के फैसले के सिलसिले में कहा कि “यह निश्चित करना न्यायालय का कार्य है कि लगाये गये प्रतिबन्ध उचित हैं अथवा नहीं।”

(ग) संस्था या संघ बनाने की स्वतंत्रता – संविधान द्वारा प्रत्येक नागरिक को संस्था और संघ बनाने का अधिकार है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह स्वतंत्रता आवश्यक है। राजनीतिक दलों का निर्माण इसी के आधार पर होता है। किन्तु इस स्वतंत्रता पर भी कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। सार्वजनिक सुरक्षा तथा नैतिकता के हित में राज्य इस स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। जैसे, इस प्रकार का कोई संघ या संगठन नहीं बनाया जा सकता है जिसका उद्देश्य शङ्खचक्रकारी हो अथवा जो अनैतिकता को प्रोत्साहित करता हो। सर्वोच्च न्यायालय ने “बी. जी. बनाम मद्रास राज्य” नामक मुकदमे के फैसले के सिलसिले में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि “संस्था या संघ बनाने की स्वतंत्रता अत्यधिक व्यापक है जिसे मर्यादित करने से धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों पर बड़ी प्रतिक्रिया हो सकती है।”

इस स्वतंत्रता के अधिकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके सम्बन्ध में साधारण नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों में विभेद किया गया है। साधारण नागरिकों को संघ बनाने का अधिकार प्राप्त है, परन्तु सरकारी कर्मचारियों को उनकी सेवा की शर्तों के अन्तर्गत ही इस अधिकार के उपभोग का अधिकार प्राप्त है। यदि उनकी सेवा की शर्तों के अनुसार संघ का निर्माण गलत है तो वे संघ नहीं बना सकते हैं।

संविधान द्वारा

(घ) भारत में अबाध संचरण – विचरण की स्वतंत्रता भारतीय नागरिकों को सम्पूर्ण भारत में बेरोक-टोक घूमने और आने-जाने की स्वतंत्रता दी गयी है। देश की सार्वभौम एकता एवं भावात्मक एकीकरण की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए यह अधिकार आवश्यक है। लेकिन यह स्वतंत्रता भी असीमित नहीं है। राज्य को इस स्वतंत्रता के उपयोग पर दो बातों में प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार है। जनसाधारण तथा अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा के लिए राज्य प्रतिबन्ध लगा सकता है। उदाहरण के लिए, कलकत्ता उच्च न्यायालय ने 1950 में पश्चिम बंगाल सुरक्षा कानून की धारा 38 को इस कारण अवैध घोषित कर दिया कि उसके द्वारा नागरिकों के अबाध संचरण – विचरण की स्वतंत्रता पर अनुचित लगाया गया था।

(ड.) भारत के किसी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता भारत के नागरिकों को यह अधिकार है कि वे भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास कर सकें या बस सकें। किन्तु राज्य सार्वजनिक हित में अथवा अनुसूचित आदिम जातियों के हितों में इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध ही लगाया जा सकता है। यदि प्रतिबन्ध न्यायालय की सख में युक्तिसंगत नहीं है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित

कर सकता है। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने “ इब्राहिम वजीर बनाम बम्बई राज्य” नामक मुकदमे में 1954 में पाकिस्तानी शरणार्थी आगमन

(नियंत्रण) कानून 1949 की धारा 7 को इस कारण अवैध घोषित कर दिया था कि उसके द्वारा भारत के किसी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाया गया था ।

(च) सम्पत्ति के अर्जन धारण एवं खर्च की स्वतंत्रता इसके अन्तर्गत नागरिकों को सम्पत्ति के अर्जन, धारण एवं खर्च करने का पूर्ण अधिकार है। साधारण स्थिति में राज्य नागरिकों के इस अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, परन्तु राज्य इस स्वतंत्रता पर भी सार्वजनिक हित में और अनुसूचित जातियों के हित में प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस स्वतंत्रता को सीमित करने के उद्देश्य से संविधान का 25 वाँ संशोधन विधेयक लोकसभा में पेश किया जा चुका है।

(छ) कोई व्यक्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता भारत का प्रत्येक नागरिक कोई भी जायज पेशा, व्यापार और कारोबार करने हेतु स्वच्छन्द है। संविधान नागरिकों को अपनी इच्छा और योग्यता के अनुसार किसी भी पेशे को ग्रहण करने का अधिकार देता है। किन्तु संविधान यहाँ भी दो प्रकार का प्रतिबन्ध लगाता है। राज्य सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए इस अधिकार के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। फिर, राज्य को अधिकार है कि वह किसी व्यवसाय या पेशे के लिए कुछ आवश्यक योग्यता निर्धारित कर सके। 1951 के प्रथम संवैधानिक संशोधन ने राज्यों को अधिकार दे दिया है कि या तो वे स्वयं या राज्य के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में किसी निगम द्वारा कोई पेशा या व्यापार चला सकते हैं और इस पेशे या व्यापार से निजी व्यक्ति पूर्णरूप से अथवा आंशिक रूप से वंचित किये जा सकते हैं।

परन्तु इस स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध ही लगाये जा सकते हैं। यदि न्यायालय की राय में युक्तिसंगत प्रतिबन्ध युक्तिसंगत नहीं है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने रशीद अहमद बनाम भारत संघ नामक मुकदमे में उत्तर प्रदेश कैराना नामक नगरपालिका के उपनियमों को क्योंकि उन उपनियमों द्वारा नागरिकों के व्यवसाय के अधिकार पर आघात पहुँचाया गया था। इसी प्रकार 1950 में सर्वोच्च न्यायालय ने ‘मध्यप्रदेश बीड़ी कानून की उन धाराओं को अवैध घोषित कर दिया जिनके द्वारा मध्यप्रदेश की सरकार ने कुछ ग्रामों में बीड़ी बनाने पर प्रतिबन्ध लगाकर लोगों के जीविकोपार्जन पर अनुचित प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की थी।

इस अधिकार को डॉ एम. बी. पायली ने बहुत अधिक महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने के शब्दों में, “अपने मन के अनुसार व्यवसाय, वृत्ति, उपजीविका अथवा कारोबार करने से सम्बद्ध अधिकार को प्रत्याभूत करने से एक गतिशील प्रजातन्त्रात्मक समाज की स्थापना में पर्याप्त सहायता मिलती है। इन अधिकारों को प्रत्याभूत कर संविधान—निर्माताओं ने एक वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना का कार्य किया है।”

व्यक्तिगत स्वतंत्रता – संविधान के अनुच्छेद 20, 21 और 22 द्वारा नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि किसी भी नागरिक को मनमाने ढंग से दंड नहीं दिया जा सकता है। कोई व्यक्ति दंड का भागी तभी हो सकता है जब वह किसी प्रचलित कानून को तोड़े। साथ ही अभियुक्त को अपराध उ करने पर कानून के मुताबिक ही दंड दिया जा सकता है। राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता है जो किसी भी घटना पर लागू हो। इसके अतिरिक्त किसी अपराध में किसी अभियुक्त को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दंडित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अनुच्छेद 20 द्वारा नागरिकों को अपराध के लिए

भारतीय शासन राजनीति

दोष-सिद्धि एवं दंडित होने से संरक्षण प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 21 द्वारा नागरिकों को जीवन तथा दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 21 में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन सम्बन्धी या दैहिक स्वतंत्रता से कूटान द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित किया नहीं जा सकता है।

इस प्रकार, इस अधिकार द्वारा नागरिकों को शारीरिक कष्ट पहुँचाने। नजरबन्दी तथा कैद से सुरक्षा प्रदान की गयी है। संविधान में स्पष्ट कह दिया गया है कि कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर किसी भी भारतीय नागरिक को अपने दैहिक तथा जीवन की स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता है। नागरिकों के इस अधिकार को ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य नामक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्पष्ट किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने कहा कि "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा विधान-मंडलों को कानून बनाने का अन्तिम अधिकार दे दिया गया है।" न्यायालय का काम सिर्फ यह देखना है कि किसी भी नागरिक के जीवन या दैहिक स्वतंत्रता पर किसी कानून द्वारा अथवा बिना किसी कानून के ही आघात तो इस प्रकार न्यायालय को कानून की वैधता पर विचार करने का ही अधिकार नहीं है, बल्कि बन्दीकरण की कानूनी प्रक्रिया पर भी विचार करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 22 द्वारा भारत नागरिकों को बन्दीकरण तथा नजरबन्दी से संरक्षण प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 22 में स्पष्ट कहा गया है कि बन्दी बनाये गये किसी भी व्यक्ति को पीघ ही गिरफ्तारी का कारण बताया जायेगा। बिना कारण बताये किसी को हवालात में बन्द नहीं रखा जा सकता। गिरफ्तारी के चौबीस घण्टे के भीतर उस व्यक्ति को निकटतम मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जायेगा और उस मजिस्ट्रेट की आज्ञा के बिना किसी व्यक्ति को चौबीस घण्टे से अधिक समय के लिए हवालात में बन्द नहीं रखा जा सकता। बन्दी को अपनी रुचि के अनुसार वकील से परामर्श लेने का अधिकार है। उसे अपने बचावों का प्रबन्ध करने से भी वंचित नहीं किया जा सकता।

इस अधिकार के दो अपवाद हैं— उपर्युक्त सुविधाएँ षत्रु देश के नागरिकों तथा नजरबन्दी निवारक या आन्तरिक सुरक्षा कानून 1971 के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर लागू नहीं होंगी। नजरबन्दी कानून के द्वारा राज्य को मनमाना करने का पूरा अधिकार मिल गया है। इसके सम्बन्ध में न्यायपालिका भी कुछ नहीं कर सकती है। इस क्षेत्र में संसद का निर्णय ही अन्तिम है। अतएव इस अधिकार के दुरुपयोग की पूर्ण सम्भावना है और राज्य की तरफ से ऐसा बार बार होता रहता है। संकटकाल में इन अधिकारों की आवश्यकता राज्य को हो सकती है, लेकिन साधारण स्थिति में इनका अस्तित्व मात्र ही वैयक्तिक स्वतंत्रता पर घोर अतिक्रमण है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 22 में ही निवारक निरोध की चर्चा की गयी है। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों निवारक निरोध अधिनियम बनाने का अधिकार दिया गया है। इस व्यवस्था के अनुसार किसी भी व्यक्ति को तीन महीने के लिए बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द किया जा सकता है। परामर्शदात्री समिति की सलाह से तीन महीने से अधिक भी किसी व्यक्ति को नजरबन्द किया जा सकता है। संविधान की इसी व्यवस्था के अनुसार 1950 ई. में निवारक निरोध अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि यदि उन्हें सन्तोश और विष्वास हो जाय कि किसी व्यक्ति के कार्य भारत या भारत के किसी भाग अथवा किसी राज्य की शान्ति एवं सुरक्षा के विरुद्ध हैं तो उसे नजरबन्द कर रखा जा सकता है।

संविधान में निवारक निरोध की व्यवस्था की आलोचना बड़े पैमाने पर हुई है। संविधान नसभा में बोलते हुए ठाकुरदास भार्गव ने कहा कि "यह हमारी असफलताओं का राजमुकुट है।" बक्षी टेकचन्द्र ने कहा कि "यह दमन तथा स्वतंत्रता हनन का पत्र है।" डॉ. दुर्गादास वसु का कहना है कि इन उपबन्धों को न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है और ये प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के विपरीत हैं। विभिन्न न्यायाधीशों ने भी इसकी आलोचना बड़े पैमाने पर की है।

न्यायाधीश महाजन ने कहा था, “निवारक निरोध कानून प्रजातांत्रिक प्राविधानों के प्रतिकूल है एवं विषय के अन्य किसी प्रजातांत्रिक राज्य में यह नहीं पाया जाता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि इसे भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के अध्याय में स्थान दिया गया है।” मुख्य न्यायाधीश पतंजलि शास्त्री ने भी इस व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा था कि “निवारक निरोध व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर घोर आघात है। इसे रोकने के लिए जो भी थोड़े से संरक्षण के साधनों की व्यवस्था की गयी है उन्हें लागू करने में न्यायालय अवश्य ही तत्पर रहे !” विषय के अन्य देशों की तुलना में भारत में निवारक निरोध की व्यवस्था बड़े पैमाने पर की गयी है। अन्य देशों में संकटकाल के समय ही इसका प्रयोग किया जाता है, परन्तु भारत में षान्तिकाल और संकटकाल, दोनों समय इसका प्रयोग देखने में मिलता है। जी. एन. जोषी के अनुसार, “भारत में निवारक निरोध एक संकटकालीन उपबन्ध हैं, लेकिन यह संकटकाल तक ही सीमित नहीं है।” न्यायाधीश कानियां ने भी इस सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि “अमेरिका और जापान के संविधानों में निवारक निरोध की व्यवस्था नहीं है, खासकर षान्ति के समय, परन्तु भारत में इसे साधारण विधेयक के विषय के रूप में स्वीकार किया गया है जो उचित नहीं कहा जाता सकता।

परन्तु संविधान की इस व्यवस्था के पक्ष में भी बहुत-कुछ कहा जा सकता है। देश की तात्कालिक परिस्थिति तथा कुछ हिंसात्मक प्रवृत्तियों के कारण ही संविधान के निर्माताओं ने इस उपबन्ध को संविधान में स्थान देना आवश्यक समझा। फिर भी इसकी बुराइयों को कम करने के दृष्टिकोण से इस पर निम्नलिखित प्रतिबन्धों की भी व्यवस्था की गयी है:

1. निरोध की अवधि पर तीन महीने का प्रतिबन्ध,
2. बन्दी को नजरबन्दी के कारणों से अवगत कराना,
3. बन्दी को इसके विरुद्ध प्रार्थना करने की सुविधा प्रदान करना,
4. तीन महीने से अधिक की अवधि के लिए नजरबन्दी के कारणों पर विचार करने की लिए एक परामर्षदात्री समिति की व्यवस्था करना।

इकाई 8 भारतीय संविधान की fo'k'rk,।

विभिन्न विरोधी दलों द्वारा इस अधिनियम की कड़ी आलोचनाएँ हुई थी। जिस दिन लोकसभा ने इस कानून को पारित किया था उस दिन विरोधी पक्ष ‘काला कानून मुर्दाबाद’, ‘हिटलरशाही मुर्दाबाद’ के नारे लगाता हुआ सदन से बाहर चला गया। श्री कृष्ण मेनन ने इस विधेयक को देश में फासिस्टवाद का अगुआ बताया। फ्रैंक एंथोनी ने इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए एक कलंक बताया। प्यामनन्दन मिश्र ने भी षंका प्रकट की इस कानून

भारतीय शासन राजनीति

का प्रयोग राजनीतिक विरोधियों को कुचलने के लिए किया जाएगा। परन्तु देश की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसा करना जरूरी समझा गया ।

स्वतंत्रता के अधिकार की आलोचना – भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता के अधिकार की आलोचना भी बड़े पैमाने पर की गयी है। आलोचकों ने स्वतंत्रता के अधिकार के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये हैं

1. स्वतंत्रता के अधिकार पर लगे प्रतिबन्ध अत्यन्त संन्देहपूर्ण, अनिश्चित और लचीले । इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को 'राज्य की सुरक्षा' और 'सार्वजनिक सुरक्षा' के हित में सीमित किया जा सकता है । परन्तु 'राज्य की सुरक्षा' और 'सार्वजनिक सुरक्षा' दोनों शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ निश्चित नहीं है । इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि स्वतंत्रता का अधिकार ही समाप्त हो सकता है। सार्वजनिक सुरक्षा के नाम पर नागरिकों को उनकी स्वतंत्रता के अधिकारों से ही वंचित कर दिया जा सकता है।—

2. यह बात सही है कि नागरिकों को जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार प्रदान किये गये हैं। संविधान में स्पष्ट कहा गया है कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार नागरिकों को उनकी दैहिक और जीवन से सम्बद्ध स्वतंत्रता के अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता है । परन्तु इसके संरक्षण की व्यवस्था सही अर्थ में नहीं की गयी है। न्यायालय का काम प्रक्रिया के औचित्य पर विचार करना नहीं है, उसका काम सिर्फ यह देखना है कि जीवन और दैहिक स्वतंत्रता के अपहरण में कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है अथवा नहीं। इससे नागरिकों का यह अधिकार खतरे में पड़ गया है।

3. आलोचकों ने सबसे अधिक आलोचना संविधान के अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत निवारक निरोध की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था को प्रजातांत्रिक व्यवस्था के ठीक प्रतिकूल कहा जा सकता है। श्री कामथ ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "इस व्यवस्था द्वारा हम तानाशाही राज्य या पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे हैं और यह व्यवस्था कांग्रेस के उन समस्त सिद्धान्तों के विपरीत है जिनका वह डंका बजा बजाकर इतने दिनों से प्रचार करती आ रही है । यदि हम ऐसे राज्य में शान्ति पा भी गये तो वह शान्ति कब्र और रेगिस्तान की नीरव शान्ति होगी । जब तूफान चलेगा तो इस दुर्व्यवस्था का बोझ इतना अधिक हो जायेगा कि . स्वतंत्रतारूपी इमारत भरभराकर गिर पड़ेगी।" विरोध के बावजूद जब यह उपबन्ध संविधान में जुड़ गया तो कामथ ने बड़े दुःख के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा, "यह दिन लज्जा और दुःख का है। ईश्वर ही भारतीय जनता की रक्षा करे।"

परन्तु इन आलोचनाओं के बाद भी इतना तो मानना ही होगा कि स्वतंत्रता स्वच्छन्दता नहीं है। नागरिकों को स्वतंत्रता अवश्य मिलनी चाहिए, परन्तु उससे भी अधिक राष्ट्र की सुरक्षा पर ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए स्वतंत्रताओं पर कतिपय सीमाएँ रखना आवश्यक प्रतीत हुआ । यही कारण है कि संविधान निर्माताओं ने नागरिकों की

क्या भारतीय संविधान भारतीय नागरिक को कोई भी वषति, आजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता देता है? 4. क्या भारतीय संविधान भारतीय नागरिक की संस्थाओं को चलाने का अधिकार होता है?

विभिन्न स्वतंत्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाकर राष्ट्रविरोधी और हिंसात्मक तत्वों को दबाने का प्रयास किया है। हाल ही में पारित आन्तरिक सुरक्षा विधेयक, जिसकी कटु आलोचना की गयी है, के सम्बन्ध में स्पष्ट कर दिया गया है कि इसकी चपेट में केवल अराजक और हिंसक तत्व ही लिये जायेंगे ।

पोशण के विरुद्ध अधिकार

सामाजिक शोषण प्रजातंत्र की स्थापना के मार्ग में बहुत बड़ी बाधक है। हमारा देश इसका प्रत्यक्ष उदाहरण रहा है। वस्तुतः मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण मानव-सभ्यता के लिए सबसे बड़ा अभिषाप है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भी हमारे देश में कुछ ऐसी कुरीतियाँ और प्रथाएँ प्रचलित थीं जिनसे एक मनुष्य का दूसरे द्वारा शोषण होता था। अनैतिक कार्यों के लिए स्त्रियों का दुरुपयोग कहीं कहीं साधारण बात थी। मद्रास की देवदासी प्रथा तथा राजस्थान की बाँदी प्रथा इस शोषण के कुछ उदाहरण हैं। हमारे संविधान निर्माताओं के लिए यह बिलकुल ही स्वाभाविक था कि वे इन कुप्रथाओं का अन्त कर दें, ताकि संविधान द्वारा सामाजिक प्रजातंत्र की स्थापना हो सकें। अतएव संविधान के 23 वें और 24 वें अनुच्छेद के अनुसार इस प्रकार के शोषण का अंत कर दिया गया है। नागरिकों को शोषण के विरुद्ध कुछ अधिकार मिले हैं, जिनके फलस्वरूप भारत का कोई भी नागरिक किसी दूसरे व्यक्ति का शोषण नहीं कर सकता है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

(क) बेगार और मनुष्य के क्रय-विक्रय का अन्त – अँगरेजी शासनकाल में जमींदार तथा सरकारी अफसर मजदूरों से प्रायः बिना मजदूरी दिये जबरदस्ती काम करवाया करते थे। यह बेगारी कही जाती थी। इसी प्रकार कहीं कहीं मनुष्यों का क्रय विक्रय भी होता था। संविधान द्वारा ये कुकार्य अपराध घोषित कर दिये गये हैं। अब कोई किसी की इच्छा के विरुद्ध काम नहीं करवा सकता। यदि कोई इस कार्य को करते हुए पकड़ा गया तो वह दंड का भागी होगा।

इस तरह संविधान द्वारा सामाजिक शोषण का अन्त कर दिया गया है, किन्तु राज्य के हित में एक अपवाद रखा गया है। यदि राज्य आवश्यक समझे तो सार्वजनिक हित के लिए नागरिकों से अनिवार्य रूप से कुछ सेवाएँ ले सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य देश की रक्षा के लिए सभी योग्य व्यक्तियों को सेना में अनिवार्य रूप से भरती कर सकता है। परन्तु ऐसा करने में राज्य धर्म, मूल, जाति, वर्ग आदि के आधार पर नागरिकों के बीच भेदभाव नहीं कर सकता।

(ख) बच्चों की रक्षा

कम उम्र वाले बच्चों से खतरनाक काम लेना भी एक प्रकार का शोषण है और भारत में इस प्रकार का शोषण होता था। इसलिए संविधान में कहा गया है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक या बालिका से किसी कारखाने या खान में काम नहीं लिया जायेगा और न उन्हें किसी दूसरे संकटमय कार्यों में लगाया जा सकता है।

इस प्रकार भारतीय संविधान हर प्रकार के शोषण का अंत करने का उद्देश्य रखता है। लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए यह आवश्यक शर्त भी है। किन्तु इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि हमारे देश के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन हो। समाजवादी व्यवस्था में ही शोषण के विरुद्ध अधिकार का पूर्ण उपयोग हो सकता है। फिर भी, अब खुलेआम कोई आदमी ऐसा करने की हिम्मत नहीं कर सकता।

शोषण के विरुद्ध अधिकार की आलोचना – शोषण के विरुद्ध अधिकार के भी कुछ विद्वानों ने अपने तर्क दिये हैं। आलोचकों के अनुसार, व्यवहार में भारत में को समाप्त नहीं किया जा सका है। सामाजिक कुरीतियों को मिटाने के लिए सिर्फ न में उपबन्ध कर देने से ही काम नहीं चल सकता। आवश्यकता इस बात की है कि रीतियों के पीछे जो कारण हैं उन्हें दूर करें। इस बात में दो मत नहीं हैं कि सभी के पीछे एक ही कारण है और वह है देश की गरीबी। अतः शोषण को मिटाने के ज्य द्वारा एक प्रबल स्वस्थ नीति के अनुसरण की आवश्यकता है। परन्तु इसका अर्थ ही कि संविधान में वर्णित शोषण के विरुद्ध अधिकार बेकार है। इसकी अपनी महत्ता की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए श्री एस. सी. दास ने ठीक ही लिखा है कि “भारत छोड़े देश जहाँ गरीब और पिछड़े वर्ग शोषण के लिए आसानी से उपलब्ध हैं में इस र का बहुत अधिक महत्व है।”

भारतीय शासन राजनीति

मार्क स्वतंत्रता का अधिकार (तपहीज जव थतममकवउ वत्तिसपहपवद)

धर्मनिरपेक्ष राज्य – धार्मिक सहिष्णुता हमारे देश की परम्परा रही है। हमारा देश धर्मों का देश है। इसमें संसार के प्रायः सभी धर्मों के अनुयायी निवास करते हैं। उनके भावना कायम रखना हमारा सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में गाँधी ने इस सिद्धान्त पर बहुत बल दिया था। अतएव हमारे संविधान निर्माताओं के जो गाँधीजी के अनुयायी थे— यह बिलकुल स्वाभाविक था कि संविधान द्वारा वे एक ज्य का निर्माण करें जिससे सभी धर्मों को फलने फूलने का मौका मिले। इसलिए भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य का स्वरूप दिया। इस राज्य में सभी व्यक्तियों को स्वतंत्रता दी गयी। सबको अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म में विश्वास करने के लिए दिया गया। राज्य इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। चूँकि उस समय भारत रदायिकता की भावना काफी प्रबल थी, इसलिए संविधान द्वारा नागरिकों इस अधिकार रंटी दी गयी है। संविधान के चार अनुच्छेद (25 से 28) नागरिकों की धार्मिक स्वतंत्रता

(क) कोई भी धर्म मानने, उसका आचरण और प्रचार करने का अधिकार धान के 25वें अनुच्छेद के अनुसार सभी व्यक्तियों को किसी भी धर्म को अबाध रूप ने, उसके अनुसार आचरण करने और बिना रोक टोक के उसका प्रचार करने रण की स्वतंत्रता है। राज्य इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इस स्वतंत्रता को सार्वजनिक सुव्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक तथा अन्य प्रकार की लौकिक ओं को नियमित कर सके। राज्य को हिन्दुओं की सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं को के सभी वर्गों के लिए खोलने का अधिकार है। सिक्खों को कृपाण धारण करने तथा कर चलने का अधिकार है।

(ख) धार्मिक संस्थाओं को चलाने का अधिकार संविधान के 26वें अनुच्छेद सार सभी धार्मिक समुदायों को धार्मिक तथा परोपकारी संस्थाएँ स्थापित करने और पोषण करने का अधिकार होगा। उन्हें इनसे सम्बद्ध विषयों का प्रबन्ध करने इनके. म्पत्ति का अर्जन और कानून के अनुसार इनके प्रशासन का पूर्ण अधिकार होगा। इस म को केवल सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ही सीमित जा सकता है।

(ग) धार्मिक कर से मुक्ति – अनुच्छेद 27 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को धर्म विशेष के प्रचार के लिए कर नहीं देना पड़ेगा। धार्मिक प्रयोजन के लिए कर वसूलना असंवैधानिक होगा।

(घ) धार्मिक शिक्षा से सम्बद्ध अधिकार – अनुच्छेद 28 द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्यकोश से संचालित शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती. है। परन्तु यह धारा उन शिक्षा संस्थाओं पर लागू न होगी जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा तो होती हो, पर जो किसी ऐसे धार्मिक दान या न्यास (ज्तनेज) द्वारा स्थापित हुई हों जिनकी षर्तों के अनुसार उनमें धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य हो। संविधान में यह भी उल्लिखित है किं गर्मिक शिक्षा में भाग लेने या धार्मिक उपासना में सम्मिलित होने के लिए किसी को विवष नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त अधिकारों के विप्लेशन से यह साफ हो जाता है कि संविधान द्वारा सभी लोगों को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता दी गयी है। वस्तुतः धर्मस्वातंत्र्य के ये मूल अधिकार ही भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बना देते हैं।

6. सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (बनसजनतंस दक म्कनबंजपवदंस तपहीजे)

विविधता हमारे देश की एक मुख्य विशेषता है। इस देश में लोगों के तरह तरह के समूह हैं और सबकी अपनी अपनी संस्कृति और भाषा है। यह आवश्यक था कि इन विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओं का उचित संरक्षण हो। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस तथ्य को अनुभव किया और संविधान द्वारा धर्म तथा भाषा पर आधत्त विभिन्न अल्पसंख्यक समूहों

की अपनी संस्कृति तथा भाषा के उत्थान और विकास के लिए समुचित प्रबन्ध किया। संविधान आन के दो अनुच्छेद (29 तथा 30) इन्हीं अधिकारों से सम्बद्ध हैं।

(क) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा 29वें अनुच्छेद के अनुसार भारत के नागरिकों के किसी वर्ग को अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति को बनाये रखने का अधिकार है। इस अधिकार की प्राप्ति से अल्पसंख्यक जातियों को अपनी संस्कृति की राज्य से सहायता पाने वाली संस्थाओं में धर्म, जाति, मूल वंश, भाषादि के आधार पर किसी तरह की भेदभाव की नीति का अवलम्बन नहीं किया जायेगा।

(ख) शिक्षा सम्बन्धी अधिकार – अनुच्छेद 30 के अनुसार भाषाई अल्पसंख्यक समुदायों को अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रबन्ध करने का अधिकार है।

सम्पत्ति का अधिकार

सम्पत्ति के अधिकार का सैद्धान्तिक पहलू – सम्पत्ति के सम्बन्ध में राजनीति के विचारकों के दो मत हैं। एक पक्ष जिसे हम पूँजीवादी विचारधारा कह सकते हैं, सम्पत्ति के स्वाभाविक अधिकार के सिद्धान्त को मानता है और कहता है कि किसी की सम्पत्ति बिना उसकी अनुमति प्राप्त किये नहीं ली जानी चाहिए। ठीक इसके विपरीत एक समाजवादी विचारधारा है, जो सम्पत्ति को समाज की चीज बतलाती है। उसका कहना है कि सम्पत्ति को समाज के कल्याण के लिए लिया जा सकता है। भारतीय संविधान के निर्माता इन दोनों विचारधाराओं से प्रभावित थे। फिर भी भारतीय संविधान के निर्माण के समय पहली विचारधारा का ही बोलबाला रहा है। सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकार का वर्णन करते समय यह तय कर दिया गया कि राज्य बिना मुआवजा दिये किसी की सम्पत्ति हस्तगत नहीं कर सकता

है। आगे चलकर जब यह देखा गया कि इस निर्णय से भारतीय आर्थिक जीवन में आवश्यक सुधार असम्भव है तो संविधान में संशोधन करना जरूरी हो गया। इन संशोधनों के अनुसार अब राज्य बिना मुआवजा दिये भी कुछ प्रकार की सम्पत्ति ले सकता है। इस प्रकार हमारे संविधान में अब उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं का समन्वय हो गया है।

अधिकार संविधान का 31वाँ अनुच्छेद नागरिकों की सम्पत्ति के अधिकार सम्बद्ध है। इसके अनुसार, भारत के नागरिकों को निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार है। राज्य किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति तब तक नहीं छीन सकता है जब तक उसे ऐसा करने के लिए कानून द्वारा अधिकार न मिल जाये। लेकिन, सार्वजनिक कार्यों के लिए व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य कब्जा कर सकता है। इस स्थिति में राज्य को उचित मुआवजा देना पड़ेगा। मुआवजे की रकम निश्चित करने का अधिकार व्यवस्थापिका (कार्यपालिका को नहीं) को ही दिया गया है। पर इस क्षेत्र में उसके अधिकार भी असीमित नहीं हैं। अनुच्छेद 31 (2) में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि सम्पत्ति अपहरण के लिए बनाये गये कानूनों में मुआवजे की रकम तो निश्चित होनी ही चाहिए, साथ साथ उन सिद्धान्तों का भी निरूपण होना चाहिए जिनके आधार पर मुआवजा दिया जायेगा। संविधान निर्माता इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। अतः इसमें एक उपबन्ध और जोड़ दिया गया कि राज्य द्वारा व्यक्ति की सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए राज्य के विधानमंडलों द्वारा बनाये कानूनों को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए।

इस प्रकार हम पाते हैं कि राज्य जिस सम्पत्ति पर कब्जा करेगा उसके लिए संविधान आन के अनुसार मुआवजा दिया जाना आवश्यक है। संविधान के निर्माण के समय भारत के कतिपय प्रान्तों में जमींदारी उन्मूलन- विधेयकों पर विचार हो रहा था। इन अधिनियमों को सुरक्षित करने के लिए संविधान में यह भी लिख दिया गया है कि यदि संविधान के लागू होने के समय या उसके पहले या कुछ निश्चित समय के बाद कोई ऐसा अधिनियम बने जो व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकार का अतिक्रमण करता हो तो उस पर कोई आपत्ति संवैधानिक न होगी।



संविधान का संशोधन संविधान लागू होने के समय यही स्थिति थी। किन्तु सम्पत्ति के इस अधिकार के कारण देश की आर्थिक प्रगति में काफी बाधा पड़ने लगी। संविधान-निर्माताओं ने मुआवजे के पहलू पर काफी सतर्कता से काम लिया था। पर इसके बावजूद भूमि सुधार अधिनियमों को लेकर न्यायालयों में मुकदमेबाजी होने लगी। अतएव संविधान में संशोधन आवश्यक हो गया। 1951 में सम्पत्ति के अधिकार से सम्बद्ध पहला संशोधन न स्वीकृत हुआ। इसके द्वारा अनुच्छेद 31 में दो धाराएँ (31 ए और 31 बी) जोड़ दी गयीं। साथ ही एक नवम अनुसूची को संविधान में जोड़ दिया गया।

धारा 31 ए द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि जमींदारी, जागीरदारी आदि प्रकार की सम्पत्ति को हस्तगत करने के लिए यदि किसी कानून का निर्माण किया जायेगा तो उसे इस आधार पर अमान्य या अवैध घोषित नहीं किया जा सकता है कि वह संविधान में प्रतिपादित अधिकारों के प्रतिकूल है या उन्हें समाप्त अथवा संकुचित करता है।

धारा 31बी को संविधान में जोड़ने का एक ही उद्देश्य था कि भूमि सुधार अधिनियमों, जिनकी सूची नवम् अनुसूची में दी गयी है, को न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किये जाने से संरक्षण प्रदान किया जाये। दूसरे शब्दों में, नवम् अनुसूची में भी दिये गये जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानून संविधान द्वारा प्रतिपादित मूल अधिकारों के अतिक्रमण के कारण न्यायालय द्वारा अवैध घोषित नहीं किये जा सकते। इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम संशोधन द्वारा जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार सम्बन्धी कानूनों को न्यायालय के क्षेत्राधिकार से अलग कर दिया गया।

इस संशोधन के बाद भी कठिनाइयाँ बनी रहीं। सार्वजनिक हित के लिए जमींदारी को छोड़कर अभी भी अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति को हरण नहीं किया जा सकता था।

अतएव 1966 में संविधान का चौथा संशोधन हुआ। इसके द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि राज्य किसी व्यवसाय को नियमित तथा सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से थोड़े समय के लिए बिना मुआवजा दिये भी सम्पत्ति हस्तगत कर सकता है। मुआवजे की रकम निश्चित करने का अधिकार पूर्णतः व्यवस्थापिका को दे दिया गया। इससे सम्बद्ध किसी मुकदमे पर न्यायालय को फैसला देने का अधिकार नहीं रह गया। इस सम्बन्ध में व्यवस्थापिका का निर्णय ही सर्वोपरि है।

पुनः 1964 में संविधान का सत्रहवाँ संशोधन हुआ। इस संशोधन का उद्देश्य रैयतवारी जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार को सीमित कर भूमिसुधार के मार्ग की बाधा दूर करना था। इसके अनुसार सरकार रैयतवारी जमीन को भी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए मुआवजा देकर छीन सकती है।

इन संशोधनों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि नागरिकों का सम्पत्ति का अधिकार असीमित नहीं रह गया है। इस पर भी अन्य अधिकारों की तरह कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। इस कारण हमारा संविधान पूँजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं के बीच समन्वय स्थापित करता है। इसमें निजी सम्पत्ति का अधिकार स्वीकार किया गया है, साथ ही सम्पत्ति पर समाज के अधिकार के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है। समाजवाद के युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार ठीक नहीं जँचता। इसे सीमित करना या इसका अन्त करना इस युग की आवश्यकता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ मुकदमों में जो अपना निर्णय दिये हैं उनसे सम्पत्ति के अधिकार को और भी सीमित करने की आवश्यकता अनुभव की गयी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण, देशी नरेशों की के प्रिवीयर्स और विशेषाधिकार समाप्त करने के सम्बन्ध में जो निर्णय सरकार द्वारा लिये गये, उन्हें सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। अतः सरकार ने इस बात का अनुभव किया कि संविधान में संशोधन किये बिना काम नहीं चल सकता। मध्यावधि चुनाव के पूर्व प्रिवीयर्स को समाप्त करने के लिए संशोधन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया। लोकसभा ने इस विधेयक पर अपनी स्वीकृति भी दे दी, परन्तु राज्यसभा ने इसे अस्वीकृत कर दिया।

मध्यावधि चुनाव के बाद स्थिति बदल गयी है। जब सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करने का प्रश्न उठाया गया, तो कुछ लोगों ने तो यह यह भी विचार व्यक्त किया कि सम्पत्ति के अधिकार को 'मूल अधिकार' वाले अध्याय से हटा देने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि अन्य मूल अधिकारों की तरह सम्पत्ति का अधिकार 'प्राकृतिक' अधिकार नहीं है। 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' वाले मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में न्यायाधीश हिदायतुल्ला ने भी कहा था कि "सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक नहीं है।" सरकार सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने के प्रस्ताव को तो स्वीकार नहीं कर सकी, परन्तु उसे सीमित करने का निष्पत्ति किया गया। इस उद्देश्य से संविधान का 25वाँ संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया है। इसके द्वारा अनुच्छेद 31 में दिये गये नागरिकों के सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करने की योजना है। इस विधेयक के उद्देश्य और कारणों पर प्रकाश डालते हुए विधिमन्त्री ने कहा, "संविधान का अनुच्छेद 31 जैसा इस समय है वह विनिर्दिष्ट रूप में यह उपबन्ध करता है कि सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन और अधिग्रहण का उपबन्ध करने वाली किसी विधि पर, जो या तो क्षतिपूर्ति (बुचमदेजपवद) की राशि नियंत्रित करती है या इन सिद्धान्तों और रीतियों का उल्लेख करती है जिनमें क्षतिपूर्ति निर्धारित होती है, किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि विधि द्वारा उपबन्धित क्षतिपूर्ति पर्याप्त नहीं है। बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले (1970 3 एस. सी. आर. 530) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि संविधान क्षतिपूर्ति के अधिकार की अर्थात् अनिवार्यतः अर्जित सम्पत्ति के समतुल्य धन की गारंटी करता है। इसका प्रभाव यह है कि क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता और क्षतिपूर्ति की राशि निश्चित करने के लिए विधानमंडल द्वारा

अधिक सिद्धान्तों की सुसंगति वस्तुतः निर्णय-योग्य हो गयी है, क्योंकि न्यायालय: इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि सम्पत्ति के स्वामी को सन्तुष्ट राशि उतनी है या नहीं कि उसे सम्पत्ति की हानि के लिए युक्तियुक्त क्षतिपूर्ति माना जा सके। इसी मामले में न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया है कि किसी ऐसी विधि को जो सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए करने के लिए हो अनुच्छेद 19 (1) (च) की अपेक्षाओं को भी पूरा करना चाहिए। यह विधेयक उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी है जो उपर्युक्त निर्वचन द्वारा राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों को प्रभावी बनाने के रास्ते में आ गये हैं।"

संविधान के 25 वें संशोधन विधेयक में यह प्रस्ताव है कि अनुच्छेद 31 (2) में से 'क्षतिपूर्ति, (बुचमदेजपवद) शब्द को लुप्त किया जाय और उसके स्थान पर 'राशि' (उवनदज) शब्द रख दिया जाय और यह भी स्पष्ट किया जाये कि उक्त राशि नकद न दी जाकर अन्यथा दी जा सकेगी। यह उपबन्ध करने की भी प्रस्तावना है कि अनुच्छेद 19 (1) (च) सार्वजनिक प्रयोजन के लिए सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण से सम्बन्ध किसी विधि पर लागू न होगा

यह विधेयक धारा 31 सी को भी अन्तःस्थापित करने के लिए है, जो यह उपबन्ध करती है कि यदि कोई विधि 31 के खंड (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट निर्देशक तत्वों को प्रभावी करने की दृष्टि से पारित की जाती है और उसमें उस प्रभाव की कोई घोशणा है तो वह विधि इस आधार पर कि वह अनुच्छेद 14, 19 अथवा 31 में अन्तर्विष्ट किसी अधिकार को छीनती है अथवा उसे सीमित करती है, शून्य नहीं समझी जायेगी और उस पर इस आधार पर कोई आपत्ति नहीं की जायेगी कि वह उन तत्वों को प्रभावी नहीं बनाती। राज्य विधानमंडलों द्वारा बनायी गयी विधियों की दृष्टि में इस उपबन्ध को लागू होने के लिए यह आवश्यक होगा कि सुसंगत विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखा जाय और उसे राष्ट्रपति की अनुमति मिल जाय।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि यह संशोधनविधेयक सम्पत्ति के अधिग्रहण कानूनों को क्षतिपूर्ति या अन्य मामलों में न्यायालयों की परिधि से बाहर करने के लिए है। 8. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (तृतीय जव बुदेजपजनजपवदंस त्मउमकपमे)

भारतीय शासन राजनीति

संविधान में केवल मूल अधिकारों की एक लम्बी सूची देने से ही नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते। इसके लिए यह आवश्यक है कि इन अधिकारों को अक्षुण्ण रखने के लिए तथा इनकी उचित रक्षा के लिए संविधान में आवश्यक व्यवस्था हो। जब तक यह व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक मूल अधिकारों का वर्णन मात्र बिल्कुल निरर्थक है। इसलिए संविधान के 32वें अनुच्छेद द्वारा नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार भी दिया गया है। इसमें कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति या संस्था नागरिकों के मूल अधिकारों का अपहरण करती हैं तो वह नागरिक अपने उस अधिकार की रक्षार्थ सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। नागरिकों के इन अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय को तरह-तरह के आज्ञापत्र, निर्देश, आदेश या लेख (तपज, वतकमते, कपतमबजपवदे) जारी करने का अधिकार है। इन लेखों का रूप बन्दीप्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिशोध, अधिकारपृच्छा, उत्प्रेक्षण, लेख आदि कुछ भी हो सकता है। संसद को यह भी अधिकार है कि वह किसी अन्य न्यायालय को भी इस प्रकार का लेख जारी करने का अधिकार दे। अतएव राज्य के उच्च न्यायालयों को भी यह अधिकार प्राप्त हैं। इन आदेशों, लेखों आदि का विस्तृत विवरण इस प्रकार है :

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण (भंडमंदे बवतचने) यह एक प्रकार का लेख (तपज) है जो बन्दी व्यक्तियों को छुटकारा दिलाने के लिए लागू किया जाता है ! इस लेख के आध. र पर न्यायालयों को अधिकार प्राप्त है कि वे किसी गिरफ्तार व्यक्ति को उसके आवेदन पर न्यायालय में उपस्थित करने की आज्ञा कार्यपालिका को दें। यदि न्यायपालिका यह समझे कि उस व्यक्ति का बन्दीकरण कानून के अनुसार नहीं हुआ है तो वह उसे रिहा करने की आज्ञा दे सकती है। संविधान की यह धारा बहुत ही महत्वपूर्ण है। इससे नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा होती है। संविधान के लागू होने के बाद न्यायालय द्वारा इस अधिकार का प्रयोग बहुत बार हुआ है।

2. परमादेश (डंदकंउने)

यह एक प्रकार का आदेश है जिसके अनुसार न्यायपालिका किसी व्यक्ति, संस्था, नियम या अपने अधीनस्थ न्यायालय को कानून के अनुसार कर्तव्यपालन के लिए आज्ञा देती है। इसके द्वारा किसी अधिकारी को कार्यवाही करने का आदेश दिया जाता है। इसका प्रयोग प्रायः साधारण कामों के लिए होता है।

3. प्रतिशोध (क्तवीपइपजपवद) उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों पर जो लेख जारी करता है, उसे प्रतिशोध कहते हैं। यदि अधीनस्थ न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जा रहे हों तो उच्च न्यायालय प्रतिशोध जारी करके उन पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस लेख का सम्बन्ध कार्यपालिका या व्यक्तिगत संस्था से नहीं होता।

4. अधिकारपृच्छा (फनवूतंतंदजव) – अधिकारपृच्छा भी एक प्रकार का लेख है जिसका अर्थ होता है— 'किस अधिकार से?' इस लेख के द्वारा न्यायालय किसी भी व्यक्ति को, जिसने गैरकानूनी तरीके से किसी अधिकार या पद को प्राप्त कर लिया हो, उसके उपयोग से रोक सकता है।

5. उत्प्रेक्षण (भतजपवतंतप) – उत्प्रेक्षण भी एक लेख ही है जिसका अर्थ है— 'पूरी तरह सूचित कीजिए'। जिसे उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालय पर जारी करता है। इसके द्वारा उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालय से फौजदारी या दीवानी मुकदमों की कार्यवाही अपने पास मँगवा सकता है। इसका उद्देश्य इस बात की जाँच पड़ताल करना है कि कोई अधीनस्थ न्यायालय अपने अधिकारक्षेत्र से बाहर तो नहीं जा रहा है। स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं जैसे नगर निगम, नगरपालिका, जिला बोर्ड आदि पर भी यह लेख जारी किया जा सकता है।

संवैधानिक उपचारों के सारे अधिकार बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता और मूल अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

मूल अधिकारों की सीमाएँ

नागरिकों के अधिकार किसी भी हालत में अनियंत्रित नहीं हो सकते। सार्वजनिक हित में उन पर कुछ पाबन्दियाँ लगाना आवश्यक है। हमारे संविधान में प्रत्येक मूल अधिकार के वर्णन के बाद कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। पर हमारे संविधान निर्माता उन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त कुछ और प्रतिबन्ध भी लगाना चाहते थे और इसलिए मूल अधिकार के अध्याय में ही तीन और अनुच्छेद (33, 34 और 35) जोड़ दिये गये। ये अनुच्छेद मूल अधिकारों के स्थगन और सीमाओं से सम्बद्ध हैं।

(क) सैनिक और मूल अधिकार – किसी भी देश के सैनिक और असैनिक नागरिक के जीवन में काफी अन्तर होता है। सैनिकों को एक विशेष अनुशासन के अन्तर्गत रहना पड़ता है। अतएव इस बात को ध्यान में रखते हुए संविधान द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया

है कि मूल अधिकारों के सम्बन्ध में वह यह निर्धारित करे कि सेना या सुरक्षा शांति बनाये रखने वाली शक्तियों में अनुशासन बनाये रखने तथा कर्तव्यपालन के लिए ये अधिकार किस हद तक कम या समाप्त किये जा सकते हैं।

(ख) सैनिकशासन और मूल अधिकार – कभी-कभी असाधारण स्थिति में देश में सैनिक शासन (उन्तजपंस सू) लागू कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में देश का शासन सैनिक कानून द्वारा होता है। इस अवस्था में मूल अधिकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता। इस शासन को संवैधानिक आवरण पहनाने के लिए संविधान में ही व्यवस्था कर दी गयी है। संसद को अधिकार है कि यदि देश के किसी भाग में किसी कारण से सैनिक शासन लागू हो तो उस क्षेत्र में मूल अधिकार स्थगित किये जा सकते हैं। संसद को यह भी अधिकार है कि वह सैनिक शासन द्वारा मूल अधिकारों पर किये गये अतिक्रमण को भी उचित घोषित कर दे।

(ग) संकटकाल और मूल अधिकार – कुछ विशेष स्थितियों में संविधान द्वारा राष्ट्रपति को संकटकाल की घोषणा करने का अधिकार मिला है। यदि राष्ट्रपति युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अपान्ति का खतरा पैदा हो जाने के कारण संकटकाल की घोषणा कर दे तो ऐसी स्थिति में नागरिकों के भाषण लेखन की स्वतंत्रता, संघ, समुदाय तथा सभा की स्वतंत्रता आदि के मूल अधिकार स्थगित किये जा सकते हैं। पर इस प्रकार के आदेश उसी समय तक लागू रह सकेंगे जब तक संकटकाल रहेगा। उसके समाप्त होते ही मूल अधिकारों का स्थगन स्वयमेव समाप्त हो जायगा। संकटकाल में राष्ट्रपति यह आदेश जारी कर सकता है कि कोई भी व्यक्ति मूल अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय में प्रार्थना नहीं कर सकेगा।

(घ) संविधान संशोधन और मूल अधिकार संविधान में संशोधन करके भी मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। इसका एकमात्र प्रमाण तो यह है कि संविधान आन के लागू होने के कुछ ही वर्ष के अन्दर मूल अधिकारों पर अनेक नियंत्रण लगा दिए गये हैं। संविधान के पहले, चौथे और सत्रहवें संशोधन का यही उद्देश्य था। परन्तु 27 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय में यह निर्णय हुआ कि संविधान में जिन मौलिक अधिकारों की गारंटी है, उन्हें संसद संशोधन कर छीन नहीं सकती।

परन्तु मूल अधिकारों में संशोधन का अधिकार संसद को फिर से दिलाने के उद्देश्य से संविधान का 24वाँ संशोधन विधेयक लोकसभा द्वारा पारित किया जा चुका है। इस विधेयक को

भारतीय शासन राजनीति

प्रस्तुत करते हुए विधिमन्त्री श्री गोखले ने कहा था कि "सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ वाले सुविख्यात मामले (1967, 2 एस० सी० आर०. 762) में अल्प बहुमत द्वारा अपने ही उन पूर्व निर्णयों को उलट दिया जिनमें संविधान के सभी भागों को जिनके अन्तर्गत मूल अधिकारों से सम्बद्ध भाग 3 भी है— संशोधित करने की संसद की शक्ति की पुष्टि की गयी थी। इस निर्णय का परिणाम यह हुआ कि संसद के बारे में अब यह विचार है कि उसमें संविधान के भाग 3 द्वारा गारंटी किये गये किसी भी मूल अधिकार को छीन लेने या घटाने की शक्ति नहीं है, चाहे राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों को प्रभावी करने के लिए और संविधान की प्रस्तावना में वर्णित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भी ऐसा करना आवश्यक हो। अतः यह उपबन्धित करना आवश्यक समझा गया कि संसद में संविधान के किसी भी उपबन्ध को संशोधित करने की शक्ति है जिससे कि संशोधन करने की शक्ति के अन्तर्गत भाग 3 के उपबन्ध भी आ जायें।"

इस विधेयक द्वारा संविधान के अनुच्छेद 368 में ऐसे परिवर्तन किये गये हैं जिनसे इसके अन्तर्गत बनी किसी विधि को अनुच्छेद 13 से न जोड़ा जा सके। दूसरे शब्दों में, इस विधेयक द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि अनुच्छेद 368 संविधान के संशोधन का तथा साथ ही साथ उसकी प्रक्रिया का भी उपबन्धन करता है। विधेयक में यह भी उपबन्धित किया है कि जब कोई संविधान संशोधन विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाय और राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाय तो उसे उस पर अपनी अनुमति दे देनी चाहिए। यह विधेयक संविधान के अनुच्छेद 13 को भी संशोधित करने के लिए है कि वह अनुच्छेद 668 के अधीन संविधान के किसी संशोधन पर लागू न रहे।

उपसंहार दृष्टि भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को जितने मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं उतने शायद किसी अन्य देश के संविधान में उपलब्ध नहीं हैं। संविधान में इस तरह

□ से अधिकारों का विस्तृत वर्णन करके संविधान ने निष्पक्ष ही व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता पर गारंटी की मुहर लगा दी है। फिर भी, संविधान में इन अधिकारों को संकुचित करने के इतने उपाय रख दिये गये हैं कि कभी-कभी यह भय होता है कि ये अधिकार संशोधन द्वारा समाप्त न कर दिये जायें। मूल अधिकारों को सीमित करने का अधिकार बहुत हद तक कार्यपालिका को दे दिया गया है। क्या वह संकट के झूठे नाम पर इस अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकती है? आलोचकों का यह भय कोई कोरी कल्पना नहीं है। नजरबन्दी कानून भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों पर एक घोर अतिक्रमण है। इस अधिनियम के द्वारा सरकार किसी भी व्यक्ति को बिना उस पर मुकदमा चलाये ही कैद रख सकती है। यदि सरकार समझे कि कोई व्यक्ति सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक है और प्रमाण के अभाव में न्यायालय द्वारा दोषी नहीं ठहराया जा सकता तो उसे बिना मुकदमा चलाये ही जेल में रखा जा सकता है। 'सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक घोषित करने के लिए सरकार बिल्कुल स्वतंत्र है। निष्पक्ष ही यह अधिनियम वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये खतरनाक है। सरकार अकारण ही किसी व्यक्ति को कम से कम तीन महीने के लिए कैद कर सकती है। इस अधिकार के दुरुपयोग और भारत के शेष जन तंत्र की हत्या की सम्भावना भविष्य में हो सकती है। न्यायाधीश महाजन का कहना है कि "नजरबन्दी कानून जनतन्त्रात्मक प्राविध गानों के प्रतिकूल है और यह विश्व के किसी जन तन्त्रात्मक देश के संविधान में नहीं पाया जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि इस विषय को संविधान के मूल अधिकार वाले अध्याय में स्थान मिला है।"

इन कारणों से ऐसा प्रतीत होता है संविधान द्वारा एक हाथ से नागरिकों को मूल अधिकार दिये गये हैं तो कतिपय प्रतिबन्धों द्वारा उन्हें सीमित करके दूसरे हाथ से छीन लिया गया है। इन प्रतिबन्धों के कारण नागरिकों के मूल अधिकार नगण्य हो गये हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान में एक मूल अधिकार का अभाव काफी खटकता है। मूल अधिकारों के भाग में नागरिकों की आर्थिक स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं किया गया है। भाषण या लेखन की स्वतंत्रता तो दी गयी है लेकिन सोवियत संविधान की तरह हमारे संविधान में नागरिकों

को रोजगार पाने के अधिकार, उनके विश्राम के अधिकार, वृद्धावस्था तथा रुग्णावस्था में सहायता प्राप्त के अधिकार का उल्लेख नहीं किया गया है। इन अधिकारों के अभाव में नागरिकों को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में नागरिक या राजनीतिक स्वतंत्रता असम्भव और व्यर्थ है।

इन त्रुटियों के बावजूद भारतीय नागरिकों के मूल अधिकार हमारे राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में एक नये युग के द्योतक हैं। मैं भारतीयों को एक आत्मज्ञान देते हैं कि उनके राष्ट्रीय जीवन में एक महान् क्रान्ति हो गयी है। जब हम अंग्रेजों की गुलामी की जंजीर

“मैं बँधे हुए थे तो हम बराबर इन अधिकारों की माँग करते थे। हमारी यह अभिलाशा अन्ततः पूरी हुई। मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना कोई बुरा नहीं है। विशम परिस्थितियों में राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रतिबन्धों का होना आवश्यक है। लेकिन हमें इस बात को देखना है कि सरकार प्रतिबन्धों का दुरुपयोग नहीं करे। जनता द्वारा सरकार को इनके दुरुपयोग से रोका जा सकता है। डॉ. एम. वी. पायली का कथन है कि “मूल अधिकारों की रक्षा जनता द्वारा की जा सकती है” लेकिन मूल अधिकारों के अभिभावक के रूप में जनमत की प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर है कि किसी देश में जनमत कितना षक्तिशाली और संगठित है।” एक पुरानी कहावत है कि स्वतंत्रता का मूल्य सदा जागृत तथा चौतन्य रहता है। यदि भारत के : नागरिक सतर्क रहें तो कार्यपालिका के लिये मूल अधिकारों का हनन काफी कठिन कार्य हो जायगा। फिर भी आवश्यकता इस बात की है कि हमारे देश में कुछ ऐसी वैधानिक प्रथाएँ

स्थापित हो जायें कि मूल अधिकारों पर आसानी से आघात न हो सके। मूल अधिकार हमारे संविधान की अमूल्य निधि हैं। उनकी रक्षा प्रत्येक सरकार का कर्तव्य है। हमारे प्रजातंत्र की सफलता की परीक्षा मूल अधिकारों के पालन पर ही होगी।

सारांश

भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को जितने मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं उतने षायद किसी अन्य देश के संविधान में उपलब्ध नहीं हैं। संविधान में इस तरह से अधिकारों का विस्तृत वर्णन करके संविधान ने निष्चय ही व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता पर गारंटी की मुहर लगा दी है। फिर भी, संविधान में इन अधिकारों को संकुचित करने के इतने उपाय रख दिये गये हैं कि कभी-कभी यह भय होता है कि ये अधिकार संशोधन द्वारा समाप्त न कर दिये जायें। मूल अधिकारों को सीमित करने का अधिकार बहुत हद तक कार्यपालिका को दे दिया गया है। क्या वह संकट के झूठे नाम पर इस अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकती है? आलोचकों का यह भय कोई कोरी कल्पना नहीं है। नजरबन्दी कानून भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों पर एक घोर अतिक्रमण है। इस अधिनियम के द्वारा सरकार किसी भी व्यक्ति को बिना उस पर मुकदमा चलाये ही कैद रख सकती है। यदि सरकार समझे कि कोई व्यक्ति सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक है और प्रमाण के अभाव में न्यायालय द्वारा दोषी नहीं ठहराया जा सकता तो उसे बिना मुकदमा चलाये ही जेल में रखा जा सकता है। ‘सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक’ घोषित करने के लिए सरकार बिल्कुल स्वतंत्र है। निष्चय ही यह अधिनियम वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये खतरनाक है। सरकार अकारण ही किसी व्यक्ति को कम से कम तीन महीने के लिए कैद कर सकती है। इस अधि कार के दुरुपयोग और भारत के षिषु जन तंत्र की हत्या की सम्भावना भविष्य में हो सकती है। न्यायाधीष महाजन का कहना है कि “नजरबन्दी कानून जनतंत्रात्मक प्राविधानों के प्रतिकूल है और यह विष्व के किसी जन तंत्रात्मक देश के संविधान में नहीं पाया जाता है। आप्चर्य की बात यह है कि इस विषय को संविधान के मूल अधिकार वाले अध्याय में स्थान मिला है।”

इन कारणों से ऐसा प्रतीत होता है संविधान द्वारा एक हाथ से नागरिकों को मूल अधि कार दिये गये हैं तो कतिपय प्रतिबन्धों द्वारा उन्हें सीमित करके दूसरे हाथ से छीन लिया गया है। इन प्रतिबन्धों के कारण नागरिकों के मूल अधिकार नगण्य हो गये हैं। इसके अतिरिक्त

भारतीय शासन राजनीति

भारतीय संविधान में एक मूल अधिकार का अभाव काफी खटकता है। मूल अधिकारों के भाग में नागरिकों की आर्थिक स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं किया गया है। भाषण या

लेखन की स्वतंत्रता तो दी गयी है लेकिन सोवियत संविधान की तरह हमारे संविधान में नागरिकों को रोजगार पाने के अधिकार, उनके विश्राम के अधिकार, वृद्धावस्था तथा रुग्णावस्था में सहायता प्राप्ति के अधिकार का उल्लेख नहीं किया गया है। इन अधिकारों के अभाव में नागरिकों को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में नागरिक या राजनीतिक स्वतंत्रता असम्भव और व्यर्थ है।

इन त्रुटियों के बावजूद भारतीय नागरिकों के मूल अधिकार हमारे राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में एक नये युग के द्योतक हैं। मैं भारतीयों को एक आत्मज्ञान देते हैं कि उनके राष्ट्रीय जीवन में एक महान् क्रान्ति हो गयी है। जब हम अंग्रेजों की गुलामी की जंजीर में बँधे हुए थे तो हम बराबर इन अधिकारों की माँग करते थे। हमारी यह अभिलाशा अन्ततः पूरी हुई। मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना कोई बुरा नहीं है। विश्व परिस्थितियों में राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रतिबन्धों का होना आवश्यक हैं। लेकिन हमें इस बात को देखना है कि सरकार प्रतिबन्धों का दुरुपयोग नहीं करे। जनता द्वारा सरकार को इनके दुरुपयोग से रोका जा सकता है। डॉ. एम. वी. पायली का कथन है कि “मूल अधिकारों की रक्षा जनता द्वारा की जा सकती है” लेकिन मूल अधिकारों के अभिभावक के रूप में जनमत की प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर है कि किसी देश में जनमत कितना शक्तिशाली और संगठित है।” एक पुरानी कहावत है कि स्वतंत्रता का मूल्य सदा जागृत तथा चौतन्त्र रहता है। यदि भारत के नागरिक सतर्क रहें तो कार्यपालिका के लिये मूल अधिकारों का हनन काफी कठिन कार्य हो जायगा। फिर भी आवश्यकता इस बात की है कि हमारे देश में कुछ ऐसी वैधानिक प्रथाएँ स्थापित हो जायें कि मूल अधिकारों पर आसानी से आघात न हो सके। मूल अधिकार हमारे संविधान की अमूल्य निधि हैं। उनकी रक्षा प्रत्येक सरकार का कर्तव्य है। हमारे प्रजातंत्र की सफलता की परीक्षा मूल अधिकारों के पालन पर ही होगी।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

भारतीय संविधान में कुछ परिस्थितियों में मूल अधिकारों को सीमित करने की भी व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 33 में यह व्यवस्था की गयी है कि सशस्त्र सेना में अनुशासन बनाये रखने के लिए तथा सैनिक कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन कराने के लिए भारत के सशस्त्र बल से सम्बन्ध मौलिक अधिकारों में संसद द्वारा आवश्यक संशोधन किया जा सकता है। यह उपबन्ध सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने वाले अन्य बलों पर भी लागू होता है। उसी तरह अनुच्छेद 34 के अनुसार किसी स्थान पर सेवानिधि पर मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। सेवा निधि लागू होने की स्थिति 1. में किसी व्यक्ति को भी निश्कृत किया जा सकता है। इस प्रकार मूल अधिकारों को सीमित

करने की भी व्यवस्था की गयी है।

2. मूल अधिकारों को भी संसद के दोनों सदनों में प्रत्येक की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत और प्रत्येक सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से संशोधित किया जाता था। लेकिन 27 फरवरी 1967 ई. को ‘गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य’ नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अनुसार संसद मूल अधिकारों को छीनने या सीमित करने के उद्देश्य से संविधान में संशोधन नहीं कर सकती थी। परन्तु अब (24वाँ संविधान संशोधन) विधेयक लोकसभा में पारित हो चुका है, जिसके अनुसार संसद को संविधान के किसी भाग में जिनमें मूल अधिकार भी शामिल हैं – संशोधन करने का अधिकार दिया गया है।



का प्रत्येक नागरिक कोई भी जायज पेशा, व्यापार और कारोबार करने हेतु स्वच्छन्द हैं। संविधान न नागरिकों को अपनी इच्छा और योग्यता के अनुसार किसी भी पेशे को ग्रहण करने का अधिकार देता है। किन्तु संविधान यहाँ भी दो प्रकार का प्रतिबन्ध लगाता है। राज्य सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए इस अधिकार के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। फिर, राज्य को अधिकार है कि वह किसी व्यवसाय या पेशे के लिए कुछ आवश्यक योग्यता निर्धारित कर सके। 1951 के प्रथम संवैधानिक संशोधन ने राज्यों को अधिकार दे दिया है कि या तो वे स्वयं या राज्य के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में किसी निगम द्वारा कोई पेशा या व्यापार चला सकते हैं और इस पेशे या व्यापार से निजी व्यक्ति पूर्णरूप से अथवा आंशिक रूप से वंचित किये जा सकते हैं।

परन्तु इस स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध ही लगाये जा सकते हैं। यदि न्यायालय की राय में युक्तिसंगत प्रतिबन्ध युक्तिसंगत नहीं है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने रशीद अहमद बनाम भारत संघ नामक मुकदमे में उत्तर प्रदेश कैराना नामक नगरपालिका के उपनियमों को क्योंकि उन उपनियमों द्वारा नागरिकों के व्यवसाय के अधिकार पर आघात पहुँचाया गया था। इसी प्रकार 1950 में सर्वोच्च न्यायालय ने 'मध्यप्रदेश बीड़ी कानून की उन धाराओं को अवैध घोषित कर दिया जिनके द्वारा मध्यप्रदेश की सरकार ने कुछ ग्रामों में बीड़ी बनाने पर प्रतिबन्ध लगाकर लोगों के जीविकोपार्जन पर अनुचित प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की थी।

इस अधिकार को डॉ. एम. बी. पायली ने बहुत अधिक महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने के शब्दों में, "अपने मन के अनुसार व्यवसाय, वृत्ति, उपजीविका अथवा कारोबार करने से सम्बद्ध अधिकार को प्रत्याभूत करने से एक गतिशील प्रजातन्त्रात्मक समाज की स्थापना में पर्याप्त सहायता मिलती है। इन अधिकारों को प्रत्याभूत कर संविधान निर्माताओं ने एक वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना का कार्य किया है।"

ॐच्छ

4. धार्मिक संस्थाओं को चलाने का अधिकार संविधान के 26वें अनुच्छेद के – अनुसार सभी धार्मिक समुदायों को धार्मिक तथा परोपकारी संस्थाएँ स्थापित करने और उनका पोषण करने का अधिकार होगा। उन्हें इनसे सम्बद्ध विषयों का प्रबन्ध करने इनके लिए सम्पत्ति का अर्जन और कानून के अनुसार इनके प्रशासन का पूर्ण अधिकार होगा। इस स्वतंत्रता को केवल सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ही सीमित किया जा सकता है।

अभ्यास-प्रश्न

1. मूल अधिकारों से आप क्या समझते हैं ? भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
2. भारतीय गणतंत्र के नागरिकों को कौन-कौन से मूल अधिकार हैं? कब और किस प्रकार इन अधिकारों का स्थगित या सीमित किया जा सकता है?
3. भारत में मौलिक अधिकार निर्वाध नहीं हैं, वे सीमित हैं। सोदाहरण व्याख्या कीजिए ।
4. "भारतीय संविधान स्वतंत्रता का नहीं बल्कि शक्तियों का संगठन है।" इस कथन की व्याख्या मौलिक अधिकारों के संदर्भ में कीजिए ।
5. "मौलिक अधिकारों की व्यवस्था एक पुलिसमैन की दृष्टिकोण से की गयी है,



अध्याय – 5.

Self & Instructional Ailain

मूल कर्तव्य एवं राज्य के

नीति-निर्देशक तत्व

परिचय

मूल कर्तव्य के बिन्दुवार परिचय

मूल कर्तव्यों का महत्व

राज्य के नीति निर्देशक तत्व और इसके महत्व

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे

: मूल कर्तव्यों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे तथा इनका महत्व समझ सकेंगे।

जान सकेंगे कि भारतीय संविधान के अंतर्गत निर्देशक तत्व की क्या विषिष्टता है।

जान सकेंगे कि निर्देशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति होती है।

जान सकेंगे कि भारतीय संविधान का एकात्मकता की ओर सुझाव कैसे हैं?

भारतीय संविधान की एकात्मक तत्व को समझ सकेंगे।

परिचय

1950 में लागू किए गए भारतीय संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों मात्र का ही उल्लेख किया गया था, मूल कर्तव्यों का नहीं। लेकिन 1978 में संविधान में व्यापक संशोधन करते समय यह अनुभव किया गया कि संविधान में नागरिकों के मूल कर्तव्यों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। अतः संविधान के चतुर्थ भाग में उपभाग 'चतुर्थ अ' जोड़ा गया, जिसमें मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गई है। ये 10 मूल कर्तव्य इस प्रकार हैं:

1. संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं और राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। कि वह संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

2. राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन— प्रत्येक भारतीय नागरिक का कर्तव्य है कि वह स्वतंत्रता के लिये हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को भी हृदय में सँजोये रखे और उनका पालन करे।

3. भारत की सम्प्रभुता एकता और अखण्डता की रक्षा — प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण बनाये रखे। इसे भारतीय नागरिकों के सर्वोच्च कर्तव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

4. देश की रक्षा और राष्ट्र सेवा — प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह देश की रक्षा करे और बुलाये जाने पर राष्ट्र की सेवा हेतु स्वयं को प्रस्तुत करें।

भारतीय शासन राजनीति

(3) अत्यधिक आदर्शवादी – अनेक मूल कर्तव्य व्यावहारिक न होकर अत्यधिक आदर्शवादी और कोरे नैतिकवादी हैं। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन, समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की रक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास, आदि ऐसी ही बातें हैं।

(4) शासन के अत्याचार की आशंका – कुछ पक्षों द्वारा यह आशंका भी व्यक्त की गई है कि मूल कर्तव्यों का उल्लेख करने में जिस षड्भावली को अपनाया गया है, उसकी आड़ में शासन जनता पर अत्याचार कर सकता है। उदाहरण के लिए, भारत की सम्प्रभुता के नाम पर शासन की सम्प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न किया जा सकता है। पिछले 25 वर्षों में समय-समय पर ऐसी सफल-असफल चेश्टाएँ की जा चुकी हैं, अतः यह आशंका पूर्णतया निर्मूल नहीं है।

मूल कर्तव्यों का महत्व यह सर्वमान्य तथ्य है कि कर्तव्यों का पालन किये बिना अधिकारों का उपयोग सम्भव नहीं है। हमारे संविधान निर्माताओं ने सोचा था कि भारतीय नागरिक राष्ट्रीय आन्दोलन के उच्च आदर्शों से प्रेरित हैं, अतः उनमें कर्तव्य-बोध सदैव ही जगा रहेगा और वे अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे। लेकिन छठे सातवें दशक में देखा गया है कि नागरिकों का दायित्व बोध कमजोर पड़ने लगा है। अतः संविधान में मूल कर्तव्यों का उल्लेख करने की आवश्यकता अनुभव की गयी।

वस्तुतः केवल कुछ ही कर्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। अधिकांश कर्तव्यों की भाषा और भाव नितान्त स्पष्ट तथा उनका महत्व स्वयंसिद्ध है। इनमें संविधान के प्रति निष्ठा और राष्ट्रीय ध्वज व राष्ट्रीय गान का आदर तथा भारत की एकता और अखण्डता की जैसे कर्तव्य रक्षा विशेष उल्लेखनीय हैं। भारत जैसे बहुधर्मी और बहुभाषी समाज में समन्वित संस्कृति की

रक्षा भी एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त नागरिक चेतना को विकसित किए जाने की आवश्यकता है, जिससे शासन कभी भी कर्तव्यों को लागू करने के नाम पर मनमाना आचरण न कर सके।

जापान, इटली, सोवियत रूस, चीन और अन्य यूरोपीय देशों के संविधान में अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी उल्लेख है और अब भारत भी इस सम्बन्ध में इन देशों की श्रेणी में आ गया है। संविधान में नागरिक कर्तव्यों के उल्लेख से यह आशा की गयी है कि भारतीय नागरिकों को अपने कर्तव्यों का अधिक स्पष्ट रूप से बोध होगा और वे अधिक अच्छे रूप में इनका पालन कर सकेंगे। इन कर्तव्यों की अवहेलना की जाने पर अभी तक किसी प्रकार की दण्ड – व्यवस्था नहीं की गयी है, लेकिन संसद द्वारा इस सम्बन्ध में दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। इन कर्तव्यों का पालन करना भारत के प्रत्येक नागरिक द्वारा सर्वोच्च धर्म समझा जाना चाहिए।

राज्य के नीति निर्देशक तत्व (क्वतमबजपअम त्तपदबपचसमे वीजंजम च्वसपबल)

आधुनिक राजनीतिक वातावरण में यह कहा जा सकता है कि भारत में संविधान द्वारा जो मूल अधिकार नागरिकों को प्राप्त हुए हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। उनमें कुछ और अधिकारों को सम्मिलित करना चाहिए था। इसी अभाव की पूर्ति के लिए भारत के संविधान में एक नूतन चीज का समावेश किया गया जिसे राज्य के नीति निर्देशक तत्व (क्वतमबजपअम त्तपदबपचसमे वीजंजम च्वसपबल) कहते हैं। संविधान का यह भाग एक अपूर्व और विलक्षण पहलू प्रस्तुत करता है। इसमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिन्हें संघ – सरकार तथा राज्य की सरकारें शासनसम्बन्धी नीति निर्धारित करते समय अपने समक्ष रखेंगी। हमारा संविधान भारत में आर्थिक, सामाजिक और राजनीति लोकतंत्र कायम करने का उद्देश्य रखता है। ये निर्देशक तत्व इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु पथप्रदर्शक और दिशासूचक स्तम्भ हैं।

राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व भारतीय संविधान की एक बहुत बड़ी विशेषता हैं। भारतीय संविधान में जिस व्यापक रूप में इसकी चर्चा की गयी है, उस रूप में संसार के किसी भी संविधान में इन तत्वों का उल्लेख नहीं हुआ है। ये तत्व सर्वप्रथम गणतांत्रिक स्पेन के संविधान में निर्दिष्ट हुए थे, फिर आयरलैंड ने इन्हें अपने संविधान में अपनाया। बर्मा के संविधान में भी नीतिनिर्देशक तत्वों का उल्लेख हुआ था। इसके बाद भारत का ही एक ऐसा संविधान है जिसमें इन तत्वों को स्थान मिला है।

नीति-निर्देशक तत्वों की आवश्यकता लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना आधुनिक युग की सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। एक समय था जब राज्य के यंत्रों का उपयोग कुछ खास लोगों के फायदे के लिए ही होता था, लेकिन जैसे-जैसे मानव सभ्यता में विकास होता गया वैसे-वैसे इस धारणा में भी परिवर्तन होने लगा। आज राज्य का उद्देश्य यह हो गया है कि वह अधिक से अधिक लोगों के हित के लिए कार्य करे, अपने समस्त नागरिकों के उत्थान के लिये प्रयास करे। उनके लिए वह उन सभी साधनों को जुटाये, उन सभी दशाओं को उपस्थित करे जिनसे नागरिकों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो और वे अधिकतम सुख चैन की जिन्दगी व्यतीत कर सकें। लेकिन हर राज्य के साधन एक से नहीं होते। कोई देश बहुत धनवान् होता है और वह आसानी से लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना कर सकता है। पर बहुत से ऐसे देश हैं जिनके साधन बहुत ही सीमित हैं और वे एकाएक अपने 'नागरिकों' के समक्ष उन दशाओं को प्रस्तुत नहीं कर सकते जो लोककल्याणकारी राज्य के लिए आवश्यक समझी जाती हैं। एक ही उदाहरण इसके लिए यथेष्ट है, सोवियत संघ इस

स्थिति में पहुँच गया है कि वह अपने नागरिकों को काम पाने का मूल अधिकार दे। किन्तु हमारा देश अभी इस स्थिति में नहीं पहुँचा है कि वह नागरिकों को यह अधिकार दें। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के अधिकारों को संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों की सूची में नहीं रखा जा सकता। फलतः इन्हें राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों के अध्याय में स्थान दिया गया है। तात्पर्य यह है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए यह अधिकार भी प्रदान करने की दिशा में प्रयत्नशील होगा।

नीति-निर्देशक तत्वों का अर्थ – कतिपय संविधानों में कुछ आदर्शों का वर्णन कर दिया जाता है। इन्हीं को राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व कहते हैं। ये तत्व किसी भी सरकार के लिए पथप्रदर्शन का कार्य करते हैं। संविधान में इनका वर्णन नागरिकों के पालन के लिए नहीं होता। इनका सम्बन्ध केवल राज्य से होता है। यह राज्य का ध्यान अपने कर्तव्य की तरफ आकृष्ट करने के लिए संविधान में रखे जाते हैं। ये राज्य के लिए एक तरह के आदेश हैं, पर इनका पालन करना या न करना बिल्कुल राज्य की मर्जी पर निर्भर हैं राज्य के लिए इन आदेशों का इतना ही महत्व है कि जब सरकार अपना नीतिनिर्धारण करे और उसे कार्यान्वित करने के लिए कानून बनाये तो उन कानूनों को यथासम्भव इन तत्वों के आधर पर बनाने का प्रयास किया जाय। यह सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह इन तत्वों को बराबर ध्यान में रखे। वह जो कानून बनाये उसका उद्देश्य इन तत्वों को अमल में लाना होगा। संविधान में नीति निर्देशक तत्वों की यही उपयोगिता है, इन्हें हम संविधान द्वारा स्वीकृत राज्य के लिए कतिपय सुनिश्चित आदर्श भी मान सकते हैं। इन आदर्शों की उपलब्धि

राज्य सरकार की सबसे बड़ी सफलता होगी।

निर्देशक तत्व का स्वरूप – निर्देशक तत्व कोई संवैधानिक अधिकार नहीं हैं। किसी न्यायालय (श्रनकपबपतल) द्वारा इन्हें कार्यान्वित कराने के लिए राज्य को बाध्य नहीं किया जा सकता। कोई भी बाह्य शक्ति सरकार को बाध्य नहीं कर सकती कि वह उन तत्वों को ध्यान में रखे ही। चूँकि इन तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है, इसलिए ये न्यायालय के क्षेत्राधिकार (श्रनतपेकपबजपवद) में नहीं आते। कोई नागरिक न्यायालय के समक्ष यह आवेदन नहीं कर सकता कि राज्य इन तत्वों की अवहेलना कर रहा है और उसे ऐसा न करने के लिए बाध्य किया जाय। निर्देशक तत्वों के इस स्वरूप से परिचित होने के बाद ऐसा लगता है कि संविधान में यह व्यर्थ की चीजें हैं। पर ऐसा कहना भी कुछ गलत ही

भारतीय शासन राजनीति

होगा। कानून का बल नहीं होने पर भी इन तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति छिपी हुई है। कोई भी सरकार एक जागरूक जनमत के सामने इन तत्वों को अमल में लाने से खुल्लमखुल्ला इन्कार नहीं कर सकती है।

नीतिनिर्देशक तत्वों और मूल अधिकारों में गेंद – भारतीय संविधान में मूल 'अधिकारों' और नीतिनिर्देशक तत्वों, दोनों का वर्णन किया गया है। लेकिन दोनों का उद्देश्य एक ही है— नागरिकों को अधिक अवसर प्रदान करना ताकि वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने निर्देशक तत्वों को अरक्षित मूल अधिकार कहा है। लेकिन इस कारण इन दोनों को एक नहीं समझ लेना चाहिए। वस्तुतः दोनों में बड़ा अन्तर है। नीतिनिर्देशक तत्वों और मूल अधिकारों में निम्नलिखित अन्तर हैं—

1. मूल अधिकारों और राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ मूल अधिकार निशेधात्मक हैं, निर्देशक तत्व निर्देशात्मक हैं। मूल अधिकारों द्वारा राज्य की शक्तियों पर कई प्रतिबंध लगाये गये हैं। इनका उद्देश्य राज्य के कार्यों पर नियंत्रण लगाकर व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। उदाहरण के लिए, राज्य नागरिकों की

स्वतंत्रता, समानता और धार्मिक अधिकारों को मनमाने ढंग से अपहृत नहीं कर सकता है। स्पष्ट है कि मूल अधिकारों की प्रकृति निशेधात्मक है। इसके विपरीत, राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व निर्देशात्मक और सकारात्मक हैं। इनके द्वारा राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि वह किस प्रकार की आर्थिक नीति अपनावे तथा किस तरह सामाजिक व्यवस्था और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध कायम करे। कहा भी जाता है कि राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के निर्देशन-यंत्र (पदेजतनउमदज वपिदेजतनबजपवद) हैं। इस अन्तर को ग्लेडहिल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "मूल अधिकार निशेध हैं, जो सरकार को कुछ कार्य करने का आदेश देते हैं।"

2. मूल अधिकारों में नागरिकों की स्वतंत्रता, समानता, धार्मिक और साम्प्रतिक आदि अधिकारों का विवेचन किया गया है। परन्तु नीतिनिर्देशक तत्व उपर्युक्त अधिकारों को राज्य के नैतिक कर्तव्यों का स्वरूप प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि मूल अधिकार उत्तम जीवन के दर्शन हैं, तो नीतिनिर्देशक तत्व उसके व्यावहारिक स्वरूप हैं।

3. मूल अधिकार संविधान द्वारा नागरिकों को प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग वे कर सकते हैं। लेकिन नीतिनिर्देशक तत्व संविधान के आदर्श होते हैं, जिन पर पहुँचने के लिए राज्य प्रयास करता है।

4. मूल अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्ति (पदकपअपकनंस) और राज्य से रहता है, लेकिन निर्देशक तत्व का सम्बन्ध केवल राज्य (जंजम) से है।

5. मूल अधिकार आवश्यकतानुसार सीमित किये जा सकते हैं लेकिन निर्देशक तत्वों के साथ यह बात नहीं है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि संकटकाल में मूल अधिकार स्थगित कर दिये जा सकते हैं, किन्तु नीतिनिर्देशक तत्वों

के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं कही गयी है।

8. मूल अधिकारों का क्षेत्र देश तक ही सीमित रहता है, लेकिन नीतिनिर्देशक तत्वों का दायरा अन्तराष्ट्रीय भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान के अनुसार नागरिकों के मूल अधिकार भारत के राज्य क्षेत्र तक ही लागू हो सकते हैं, उसके बाहर नहीं। किन्तु नीतिनिर्देशक तत्वों में दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध भी आ जाता है।

7. मूल अधिकार न्यायिक क्षेत्राधिकार के विषय हैं, किन्तु निर्देशक तत्व इसकी परिधि से बिल्कुल बाहर हैं। यहाँ भी हम भारतीय संविधान का उदाहरण ले सकते हैं। संविधान द्वारा भारतीयों को कुछ मूल अधिकार दिये गये हैं और इन अधिकारों को न्यायालय का संरक्षण (चतवज्रमबजपवद) भी प्राप्त है। साधारण स्थिति में यदि किसी नागरिक के

। इन अधिकारों का अपहरण हो तो वह नागरिकों के मूल अधिकार की रक्षा के लिए उचित कार्यवाही कर सकता है, पर नीतिनिर्देशक तत्वों के साथ यह बात नहीं है। न्यायालय के जरिये कोई व्यक्ति सरकार को बाध्य नहीं कर सकता कि वह नीतिनिर्देशक तत्वों को कार्यान्वित करे ही। यह बिल्कुल सरकार की इच्छा के ऊपर है कि वह इन तत्वों को अपनाये या नहीं। न्यायालय इसके लिए राज्य को बाध्य नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, संविधान के नीतिनिर्देशक तत्व वाले अध्याय में यह कहा गया है कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि वह अपने नागरिकों को काम पाने का अधिकार दिलाये। पर यदि किसी व्यक्ति को नौकरी नहीं मिलती हो तो इसके लिए वह सरकार पर मुकदमा नहीं चला सकता और यदि ऐसा करता है तो न्यायालय द्वारा इसकी कोई सुनवाई नहीं होगी, क्योंकि यह न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बिल्कुल अलग है।

□

भारतीय शासन एवं राजनीति

छव्जै

स्यांग को करें :

1. नीति निर्देशक तत्वों का अर्थ

क्या है?

2. नपा निर्देशक सत्य आवश्यक

है?

मसिन्देजतनब

123

भारतीय शासन एवं राजनीति

छव्जै

मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

124

8. यद्यपि 'चम्पाकन दोरायजन के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने बताया था कि नीतिनिर्देशक सिद्धान्त मूल अधिकारों का व्याघात नहीं कर सकते और यदि करें तो लागू नहीं होंगे। तथापि संविधान के चतुर्थ संशोधन के समय प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने बताया कि, "यदि नीतिनिर्देशक सिद्धान्त और मूल अधिकारों में अन्तर्विरोध हो तो निर्देशक सिद्धान्त को ही प्राथमिकता दी जायेगी और संसद का यह कर्तव्य होगा कि संविधान में संशोधन कर इस अर्न्तविरोध का अन्त करे।" वस्तुतः चतुर्थ संशोधन में ऐसा हुआ भी।

मौलिक अधिकारों से राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का अन्तर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय के संरक्षण के अभाव में ये तत्व बेकार हैं, परन्तु यह कहना उचित नहीं होगा। न्यायालयों ने अपना निर्णय देते समय कभी भी राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का अनादर

भारतीय शासन राजनीति

नहीं किया है। बिहार राज्य बनाम कामेष्वर सिंह तथा 'केरल शिक्षा विधेयक पर विचार करते समय न्यायालय ने यह स्पष्ट कहा था कि नीतिनिर्देशक तत्व न्याय योग्य नहीं हैं, फिर भी राज्य उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि वे शासन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। "कुरेपी बनाम बिहार राज्य" नामक मुकदमे में न्यायालय ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि "संविधान की सामंजस्यपूर्ण व्याख्या होनी चाहिए। इसकी व्याख्या ऐसी होनी चाहिए कि राज्य नीति निर्देशक तत्वों को अनिवार्य रूप से प्रवर्तित करे। लेकिन साथ-साथ वह ऐसा भी नहीं करे कि उसके कानून मूल अधिकारों को समाप्त या सीमित कर दें, अन्यथा तृतीय भाग के संरक्षण उपबन्ध केवल बालू की रस्सी रह जायेंगे।"

26 फरवरी, 1967 को भी एक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने कहा, "हमारे संविधान में मौलिक अधिकारों को अनुभवाती स्थिति प्रदान की गयी है और उन्हें संसद की पहुँच से बाहर रखा गया है। साथ ही भाग 3 और 4 में समन्वित रूप से एक स्वयंपूर्ण संहिता का निर्माण किया गया है। यह योजना इतनी लचीली है कि नीतिनिर्देशक तत्वों को मौलिक अधिकारों के अपहरण या सीमित किये बिना न्यायसंगत रूप से लागू किया जा सकता है।" राजनीतिज्ञों ने तो इसे और महत्वपूर्ण स्थान दे डाला है। पं. नेहरू ने बहुत पहले कहा था कि "यदि नीतिनिर्देशक तत्वों तथा मूल अधिकारों में परस्परविरोध हो तो निर्देशक तत्वों को ही प्राथमिकता दी जायेगी।" पायली का कहना है कि जब कभी दोनों में पारस्परिक विरोध का मामला उपस्थित हो जाय तो यथासम्भव इस भेद को समाप्त करने की दृष्टि से संविधान की आन्तरिक भावना को ध्यान में रखते हुए विवाद को हल करना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में, "वस्तुतः इन दोनों के बीच कोई सही विरोध नहीं हो सकता। इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।" राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों के मार्ग में न्यायालय बाधा उपस्थित नहीं कर सके, इस उद्देश्य से मूल अधिकार के अनुच्छेद 31 में संशोधन के लिए लोकसभा में संविधान का 25वां संशोधन विधेयक पेश किया जा चुका है। इस विधेयक में इस बात का उल्लेख किया गया है कि अनुच्छेद 39 की धारा 'ख' और 'ग' में दिये गये सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनाये गये किसी कानून को इस आधार पर गैरकानूनी घोषित नहीं किया जा सकता कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 में दिये गये अधिकारों से मेल नहीं खाता या इन अधिकारों का अपहरण करता है या सीमित करता है। साथ ही किसी ऐसे कानून पर, जिसमें राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों को कार्यान्वित करने की घोशणा की गयी है, इस आधार पर न्यायालय में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है कि वह इस तरह की नीति लागू नहीं करता। इस प्रकार राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों के कार्यान्वयन के मार्ग की बाधाओं को दूर करने की ओर कदम उठाया जा रहा है।

निर्देशक तत्व से लाभ □ संविधान में निर्देशक तत्वों के वर्णन से एक लाभ यह कि राज्य की नीति में एक प्रकार की स्थिरता रहती है। चुनाव में चाहे कोई अनुदार दल जीते या कोई क्रांतिकारी पार्टी, किन्तु जो भी सरकार बनेगी उसके कार्यक्रम में इन्हीं निर्देशक तत्वों का आदर्श रहेगा। संक्षेप में, हम यही कह सकते हैं कि निर्देशक तत्वों देश के शासन में मूलाधार का काम करेंगे तथा कानून बनाने के काम में इनका उपयोग राज्य का कर्तव्य होगा

क्या निर्देशक तत्व आवश्यक हैं? निर्देशक तत्व लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में बहुत सहायक हो सकते हैं। इस बात के होते हुए भी निर्देशक तत्वों के वर्णन

के लिए संविधान उपयुक्त स्थान नहीं है। आज के युग में प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों के विकास और अच्छे जीवन के लिए समुचित दशाएँ उपस्थित करे, चाहे उस

देश के संविधान में निर्देशक तत्वों का प्रतिपादन हुआ हो या नहीं। जो राज्य अपने नागरिकों के लिए ऐसा नहीं करता है, वह लोक कल्याणकारी होने का दावा नहीं कर सकता। फिर भी यह तो सत्य है कि संविधान में निर्देशक तत्वों का वर्णन तभी उचित है जब उसके पीछे कानून का भी कुछ बल हो, अन्यथा इनके वर्णन से कोई विशेष लाभ नहीं है। 'मद्रास सरकार

बनाम चम्पाकन दोरायजन (1951)' के मामले में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया था कि नीतिनिर्देशक तत्व मूल अधिकारों को अभिभूत नहीं कर सकते और यदि करें तो अवैध है।

भारतीय संविधान और निर्देशक तत्व

राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व भारतीय संविधान की एक ऐसी नवीनता और विषिष्टता हैं जो आयरलैंड और बर्मा को छोड़कर संसार के किसी वर्तमान संविधान में नहीं पाये जाते हैं। हमारे संविधान के चतुर्थ भाग में कुछ ऐसी धाराएँ हैं जिनमें ऐसी सुविधाओं का वर्णन किया गया है जिनकी प्राप्ति से नागरिकों का जीवन सुखमय हो सकता है। इन धाराओं में राज्य को कुछ ऐसे आदेश दिये गये हैं और कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है कि उनके आधार पर चलकर राज्य अपने उच्चतम उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है। हमारे

संविधान में निर्देशक तत्वों का वर्णन करके इस बात को सूचित कर दिया गया है कि राज्य का अन्तिम उद्देश्य क्या है और वह किस चरम सीमा पर पहुँचने का प्रयास कर सकता है। ये तत्व हमारी सरकार के लिए प्रेरणा का काम करते हैं। हमारे संविधान में नीतिनिर्देशक तत्वों का यही महत्व है। इस सम्बन्ध में डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "मेरे विचार में निर्देशक सिद्धान्तों का उद्देश्य बहुत अधिक है, क्योंकि वे इस तत्व का प्रतिपादन करते हैं कि हमारा आदर्श आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना है। हम नहीं चाहते कि संविधान में इस बात का कोई निर्देश नहीं हो कि हमारा आर्थिक आदर्श क्या होगा और हमारी सामाजिक व्यवस्था का क्या रूप होना चाहिए। अतः हमने सोच-समझकर निर्देशक सिद्धान्तों को संविधान में सम्मिलित किया है।

भारतीय संविधान में नीतिनिर्देशक तत्व तीन प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए हैं समाजवादी, गाँधीवादी और भारत की अपनी विशेष परिस्थितियाँ। इसके कुछ अंशों द्वारा समाजवादी सिद्धान्त को अपनाया गया है और कुछ के द्वारा गाँधीवाद सिद्धान्त को। कुछ बातें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध भारत की विशेष परिस्थितियों से है और निर्देशक तत्वों द्वारा उनके समाधान का प्रयास किया गया है। पायली के अनुसार, "भारतीय संविधान के इस भाग में जो कुछ हुआ है उसका जर्मनी बेन्थम के विचारों, पश्चिमी यूरोप के उदारवादी तथा प्रगतिवादी दलों के सिद्धान्तों, फेबियन समाजवाद तथा अंशतः श्रेणिसमाजवाद के सिद्धान्तों से बहुत मेल है।" सर आइवर जेनिंग्स के विचार में, "निर्देशक सिद्धान्त सिडनी तथा बैट्रिस वेब से अत्यधिक प्रभावित हैं। सम्पूर्ण भारतीय संविधान पर सिडनी तथा बैट्रिस वेब की आत्मा विचरती नजर आती है। वस्तुतः संविधान का यह भाग फेबियन समाजवाद के सिद्धान्तों को – 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किये बिना अभिव्यक्त करता है क्योंकि केवल उत्पादन वितरण तथा विनिमय के साधनों को राष्ट्रीयकरण ही इसमें नहीं है।" परन्तु इन कथनों का यह अर्थ नहीं है कि राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व केवल पाश्चात्य विचारधाराओं और आदर्शों से ही प्रभावित हुए हैं। वास्तविकता तो यह है कि ये भारतीय परम्पराओं और विचारधाराओं भी प्रभावित हुए हैं। डॉ० एम० पी० शर्मा ने इसी आधार पर राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों को तीन वर्गों में रखा है – (क) समाजवादी (ख) गाँधीवादी (ग) बौद्धिक उदारतावादी। किन्तु इस वर्गीकरण के आधार पर नीतिनिर्देशक तत्वों को समझने में कुछ कठिनाई होगी। अतः अपनी सुगमता के लिए हम इन्हें निम्नलिखित षीर्षकों में बाँट सकते हैं :

(क). आर्थिक नीति और व्यवस्था से सम्बद्ध तत्व,

(ख) सामाजिक लोककल्याण सम्बन्धी तत्व,

(ग) शासन, न्याय एवं शिक्षा से सम्बद्ध तत्व,

(घ) प्राचीन स्मारक सम्बन्धी तत्व,

(ङ). अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा से सम्बद्ध तत्व,

भारतीय शासन राजनीति

अब हम इन तत्वों का क्रमशः वर्णन करेंगे

(क) आर्थिक नीति एवं व्यवस्था से सम्बद्ध तत्व – नागरिकों का आर्थिक . जीवन सुधारने और उन्हें समुचित आर्थिक दशा प्राप्त कराने के लिए संविधान द्वारा राज्य को

अनेक आदेश दिये गये हैं। ये निम्नलिखित हैं :

1. राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा जिससे सभी नागरिकों को अपनी जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें अर्थात् राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह किसी को भूखों न मरने दें, किसी को आजीविकाहीन न रहने दे।
2. देश की भौतिक सम्पत्ति का वितरण इस प्रकार हो जिससे समस्त समाज का कल्याण हो ।
3. आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की हो कि धन तथा उत्पादन के साधन थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित न हो जायें।
4. सभी श्रमजीवियों चाहे वे पुरुष हो अथवा स्त्री को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।
5. श्रमिकों (पुरुष, स्त्री अथवा बालक) के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा उनकी अवस्था का दुरुपयोग न हो, अर्थात् ऐसा न हो कि आर्थिक आवश्यकताओं से विष होकर लोगों को ऐसा काम करना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो ।
6. बच्चों और किशोर वय के लोगों को शोषण तथा आर्थिक और नैतिक पतन से बचाया जाय ।
7. राज्य अपने आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार इस बात की कोषिष करे कि सभी व्यक्ति काम और शिक्षा पा सकें।
8. राज्य इस बात का भी प्रयास करे कि बेकारी, बुढ़ापा, अंगभंग तथा अन्य अभाव की दशाओं में नागरिक सरकारी सहायता से लाभ उठा सकें।
9. राज्य इस बात का प्रबन्ध करे कि मनुष्य उचित रूप से काम कर सके और उसे जीवन का खतरा या शारीरिक हानि पहुँचने का खतरा न हो।
- “10. प्रसूति अवस्था में स्त्रियों की सहायता के लिए भी राज्य प्रयत्न करे।
11. कानून, आर्थिक संगठन या अन्य किसी प्रकार से राज्य ऐसा प्रयत्न करे जिससे श्रमिकों, कृषकों तथा अन्य तरह के काम करने वालों को निर्वाह योग्य मजदूरी मिल सके। 12. श्रमिकों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाय ताकि वे अपने अवकाश का पूर्ण उपयोग कर सकें तथा सामाजिक और उन्होंने सांस्कृतिक विकास का उपयुक्त अवसर प्राप्त हो सके।
13. साथ ही राज्य ग्रामीण कुटीर उद्योगों (बवजजंहम पदकनेजतपमे) को व्यक्तिगत या सहकारी (बव-वचमतजपअम) आधार पर प्रोत्साहित कर ग्रामों की आर्थिक दशा में सुधार लाने का प्रयास करे।

(ख) सामाजिक लोककल्याण सम्बन्धी तत्व— भारतीय समाज में कुरीतियों की कमी नहीं है। नषाखोरी और अल्पसंख्यकों के साथ दुर्व्यवहार ऐसी ही कुरीतियाँ हैं।

1. अतएव इन्हें दूर करने के लिए संविधान नीतिनिर्देशक तत्वों द्वारा राज्य को आदेश देता है कि वह हानिकारक नषाखोरी को बन्द करे और नागरिकों के स्वास्थ्य सुधार का प्रयत्न करे। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसा कार्य करे जिसके फलस्वरूप भारतीयों को पुष्टिकर भोजन प्राप्त हो और उनका जीवनस्तर ऊँचा उठे।

2. अनुसूचित तथा आदिम जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के साथ सदियों से घोर 'अन्याय' होता आ रहा है। अतएव संविधान द्वारा राज्य को आदेश है कि वह इन जातियों की शिक्षा की व्यवस्था करे उनके अर्थसम्बन्धी हितों की रक्षा का प्रबन्ध विशेष सावधानी से करे ताकि वे उन्नति के पथ पर अग्रसर हों तथा सामाजिक अन्याय एवं आर्थिक शोषण से उनकी रक्षा हो सके !.

(ग) शासन, न्याय एवं शिक्षा से सम्बद्ध तत्व देश में शासन, न्याय और शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने के लिए भी संविधान राज्य को कुछ आदेश देता है। वे ये हैं : 1. महात्मा गाँधी को विश्वास था कि भारत में प्रजातंत्र की सफलता ग्रामपंचायतों की सफलता पर निर्भर है। अतः संविधान के अनुसार राज्य ग्रामपंचायतों का संगठन करेगा और उन्हें इस प्रकार विकसित कराने का प्रयत्न करेगा ताकि वे स्वायत्त शासन की अभिन्न अंग बन सकें।

2. हमारे विषाल देश में एक ही प्रकार की व्यवहारसंहिता (बपअपस बवकम) नहीं है। — इसका परिणाम देश की प्रशासनिक और न्यायिक बातों के लिए अच्छा नहीं होता। इसलिए संविधान राज्य को यह आदेश देता है कि वह सारे देश के लिए एक ही व्यवहार संहिता तैयार करने का प्रयास करे जिससे समस्त भारत में एक ही वैयक्तिक कानून हों।

3. कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग अलग रखने की उपादेयता पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक नहीं। इस बात को अब सब मानते हैं कि इन लोकसेवाओं के मिले-जुले रहने के कारण उचित न्याय नहीं हो पाता। नीतिनिर्देशक तत्व द्वारा संविधान राज्य को यह आदेश देता है कि वह कार्यपालिका और न्यायपालिका को पृथक् करने का प्रयत्न करे जिससे नागरिकों को उचित न्याय प्राप्त हो सके।

4. कृषिप्रधान देश होते हुए भी भारत में पशुधन का जितना दुरुपयोग होता है उतना संसार के पायद किसी देश में नहीं। अतः संविधान कहता है कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि कृषि तथा पशुपालन आधुनिक वैज्ञानिक तरीके से हो। वह गायों, बछड़ों तथा अन्य

दुधारू या भारवाहक पशुओं की नस्ल बचाने तथा सुधारने की चेष्टा करेगा। राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह पशुवध रोके।

5. निरक्षरता हमारे देश का सबसे बड़ा अभिषाप है। कोई भी देश तब तक पूर्ण सभ्य कहलाने का दावा नहीं कर सकता जब तक इसके सभी नागरिक शिक्षित न हो जाएँ। अतएव इस बात को ध्यान में रखकर संविधान में यह कहा गया है कि राज्य संविधान के लागू होने के दस वर्ष में चौदह वर्ष की आय के बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करे। इस प्रकार की शिक्षा अनिवार्य हो।

(घ) प्राचीन स्मारक सम्बन्धी तत्व भारत एक बहुत ही प्राचीन देश है। इसका इतिहास लगभग तीन हजार वर्ष पुराना है। अभी भी हमारे देश में ऐसे ऐतिहासिक महत्व के खंडहर और स्मारक हैं जो हमारी प्राचीन गौरवमयी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक हैं। इन्हें नष्ट होने से बचाना हमारा पुनीत कर्तव्य है। संविधान ने इसका दायित्व राज्य को दिया है। संविधान के अनुसार राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह कानून बनाकर देश के ऐतिहासिक और कलात्मक महत्व के प्रत्येक स्मारक या वस्तु को जो राष्ट्रीय महत्व की है— विनष्ट,

भारतीय शासन राजनीति

दूषित और स्थानान्तरित किये जाने अथवा बाहर भेजे जाने से बचाये ।

जिस समय भारत

(ड) अन्तराष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा से सम्बद्ध तत्व स्वतंत्र हुआ और संविधान बनने लगा उसके कुछ ही दिन पूर्व द्वितीय विष्वयुद्ध का अन्त हुआ था। संसार उस युग के विनाशकारी परिणामों से त्रस्त था। सबकी कामना थी कि विष्व में शान्ति कायम रहे। भारत के लिए विष्वशान्ति जीवन मरण का प्रश्न थी। सदियों से शोषित हमारा देश प्रगति के पथ पर तभी अग्रसर हो सकता है जब विष्व में शान्ति बनी रहे। लेकिन विष्वशान्ति के लिए कुछ आवश्यक दशाएँ जरूरी होती हैं। राष्ट्रों के बीच सद्भावना, अन्तराष्ट्रीय विधि (पूज्यमतदंजपवदंस सू) और सन्धियों (जतमंजपमे) के प्रति आदर तथा अन्तराष्ट्रीय विवादों का मध्यस्थता (तइपजतंजपवद) द्वारा निबटारा विष्वशान्ति की कुछ आवश्यक शर्तें हैं। अकेले भारत इन शर्तों को पूरा कर विष्वशान्ति नहीं ला सकता। अधिक से अधिक इस क्षेत्र में वह अपना सहयोग दे सकता है। हमारे संविधान निर्माताओं ने इसे महसूस किया और नीतिनिर्देशक तत्वों द्वारा इस सम्बन्ध में राज्य को कुछ आदेश दिये। ये निम्नलिखित हैं:

1. अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य शान्ति और सुरक्षा कायम करने की चेष्टा करेगा। 2. राज्य राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की कोषिष करेगा।

3. राज्य राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में अन्तराष्ट्रीय विधि तथा सन्धियों के प्रति आदरभाव बढ़ाने का प्रयत्न करेगा।

4. राज्य अन्तराष्ट्रीय झगड़ों को मध्यस्थता द्वारा निबटाने के लिए प्रयत्न करेगा। निर्देशक तत्वों की आलोचनाएँ— संविधान में नीतिनिर्देशक तत्वों रखने का उद्देश्य भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना था। संविधाननिर्माताओं का यह उद्देश्य था कि लोककल्याण की उन्नति के लिए राज्य ऐसी व्यवस्था का प्रयास करे जिसमें सबको सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो। वस्तुतः यदि इन तत्वों को कार्यान्वित किया जाय तो हमारा देश एक आदर्श लोककल्याणकारी राज्य बन सकता है। फिर भी समीक्षकों द्वारा संविधान के इस भाग की काफी आलोचनाएँ की गयी हैं। आलोचकों के तर्क निम्नलिखित हैं :

1. कानूनी अनुषक्ति का अभाव आलोचकों का कहना है कि राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों के पीछे न्यायिक शक्ति नहीं है। उन्हें लागू करने के लिए राज्य को बाध य नहीं किया जा सकता है। आलोचकों द्वारा इन्हें पुनीत इच्छाएँ उच्चतम कल्पनाएँ, नैतिक उपदेश, शुभ आकांक्षाएँ इत्यादि कहा गया है। प्रोफेसर के. टी. शाह के अनुसार, “यह एक ऐसे बैंक की हुंडी है जो जब योग्य होगी तब चुकाने योग्य होगी। उनके अनुसार इसमें वर्णित

सिद्धान्त अत्यन्त मौलिक, आवश्यक और क्रियात्मक हैं, परन्तु इन्हें न्यायपालिका के क्षेत्राधि-कार से हटाकर सारे संविधान का घोर अपमान किया गया है।”

संविधान परिषद के एक सदस्य नाजिरुद्दीन अहमद ने कहा था कि इन तत्वों को संवैधानिक मान्यता दिये बिना संविधान में स्थान देना उसी तरह है जैसे नये वर्ष के प्रथम दिन प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं। लेकिन दूसरी तारीख को ही तोड़ दी जाती हैं। कुछ आलोचक इन्हें भारत की भोलीभाली जनता को ठगने का प्रयास और कांग्रेस पार्टी की भोंड़ी राजनीतिक चाल बतलाते हैं। श्रीराम शर्मा ने इन्हें उच्चकोटि की मूर्खता (नइसपउम दवदेमदेम) कहकर पुकारा है। सर बी. एन. राव के अनुसार, राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व राज्य के अधिकारियों के लिए नैतिक उपदेश के समान हैं और उनके विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि संविध मन में नैतिक उपदेशों के लिए स्थान नहीं है।” डॉ. एन. आर. राघवाचारी के शब्दों में, “इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक राजनीति के स्थान पर राजनीतिक दर्शन ही कहा जा सकता है और व्यर्थ परन्तु वैभवपूर्ण शब्दावली में जड़ी हुई उच्चतम कल्पनाओं एवं भावनाओं की पंक्ति के अतिरिक्त एक वैधानिक आलोचक अथवा एक आलोचनात्मक वैधानिक की दृष्टि में इनका मूल्य न्यून अथवा कुछ नहीं है।” ये आलोचनाएँ केवल इसी आधार पर की जाती हैं कि

नीतिनिर्देशक तत्वों को कोई कानूनी बल नहीं मिला है। आलोचक इन्हे केवल राज्य की पुष्प इच्छाएँ मानते हैं।

□

2. अस्पष्ट तथा अतार्किक वर्णन – आलोचकों ने राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया है कि ये स्पष्ट नहीं हैं। इन तत्वों को न तो ठीक ढंग से विभाजित किया गया है और न वैज्ञानिक रूप से क्रमबद्ध ही। जेनिंग्स के विचारानुसार, “नीतिनिर्देशक तत्वों को किसी निष्चित तथा संयत दर्शन पर आधुनिक नहीं किया गया है।” आलोचकों का तर्क है कि, “संविधान में उद्घोषित निर्देशक सिद्धान्त अस्पष्ट हैं और अवैज्ञानिक रूप से क्रमबद्ध किये गये हैं। साधारण समस्याओं के साथ साथ अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को इस प्रकार मिला दिया गया है कि एक अलग उलझन पैदा हो जाती है।” श्री निवासन के शब्दों में, “इनमें बेतुके ढंग से नये को पुराने से तथा तर्क एवं विज्ञान पर आधुनिक बातों को मनोभावों तथा संकीर्णता पर आधुनिक बातों से मिश्रित कर दिया गया है।”

3. सार्वभौम राज्य में अप्राकृतिक – उनके आलोचनाओं की दृष्टि में संविधान में इन तत्वों का समावेश अत्यन्त अप्राकृतिक तथा हास्यास्पद है। कोई उच्च सत्ता ही अपनी अधीनस्थ सत्ता को आदेश दे सकती है। परन्तु यह बात अस्वाभाविक प्रतीत होती है कि एक सर्वोपरि सत्ता स्वयं को ही निर्देशित करे। भारत भी एक सार्वभौम राज्य है। अतः राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों की व्यवस्था को अप्राकृतिक ही कहा जायगा।

4. अव्यावहारिक और अनुपयुक्त राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों के विरुद्ध आलोचकों का यह भी तर्क है कि निर्देशक सिद्धान्तों की घोषणा व्यर्थ है और यह संविधान की जटिलता बढ़ाने में सहायक है। कई तत्व अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं। कोई भी सिद्धान्त अटल तथा निष्चित नहीं हो सकता, क्योंकि वह देश की परिस्थिति और काल के अनुसार बदलता रहता है। अतः संविधान में चिरन्तन और निष्चित सिद्धान्तों की घोषणा व्यर्थ तथा महत्वहीन है।

5. सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति – संविधान में जिन निर्देशक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे प्रस्तावना में निहित ही हैं। इसके अतिरिक्त ये सिद्धान्त प्रजातंत्र – राज्य की नीति में अन्तर्हित हैं। अतः अलग से इनकी घोषणा सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति ही कही जायेगी।

6. साधनों की अवहेलना – राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों की आलोचना करते हुए डॉ. जेनिंग्स ने कहा है कि संविधान का यह अध्याय सिर्फ लक्ष्य की चर्चा करता है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधनों का उल्लेख संविधान में नहीं किया गया है। उन्हीं के शब्दों में, “यह फेबियन समाजवाद के विचारों को अपनाता है लेकिन उसके मुख्य साधनों उत्पादन,,

3. क्या निर्देशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति हुआ करती है?

4. क्या निर्देशक तत्वों को मान्यता न्यायालयों द्वारा प्रदान की गई है?

वितरण तथा विनिमय के राष्ट्रीयकरण को नहीं अपनाता। इस प्रकार भारतीय संविधान राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त का उल्लंघन कर समाजवाद की प्राप्ति के साधनों को छोड़ देता है।

7. असंगत तथा असामयिक – आलोचकों का यह भी कहना है कि ये सिद्धान्त वर्तमान भारत और विशेषकर भविष्य के भारत के लिए असंगत और असामयिक हैं। जेनिंग्स ‘शब्दों में, “नीतिनिर्देशक तत्व और कुछ नहीं ब्रिटेन के उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक अनुभवों पर आश्रित सिद्धान्त हैं। वे बीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत के लिए अनुपयुक्त है।” आलोचकों ने कल्पना करते हुए यह भी भविष्यवाणी की है कि बाद में इन तत्वों का कोई मूल्य नहीं रह जायगा ! भविष्य में इन तत्वों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए जेनिंग्स ने लिखा है, “ये सिद्धान्त केवल पुराने ही नहीं पड़ जायेंगे, बल्कि प्रतिक्रियावादी भी हो जायेंगे और

भारतीय शासन राजनीति

राष्ट्र के विकास को अवरुद्ध करेंगे।”

8. निर्देशक तत्वों को व्यावहारिक बनाने के प्रति उदासीनता आलोचकों का यह भी कहना है कि निर्देशक तत्वों को व्यावहारिक बनाने के प्रति भी राजनीतिज्ञ उत्साहित नजर नहीं आते। इन्हें जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने का हथकंडा भर कहा जा सकता है। निर्देशक तत्वों को व्यावहारिक बनाने के प्रति उदासीनता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुए एक बार लोकसभा में साम्यवादी सदस्य तुशार चटर्जी ने कहा था, “आम जनता ब्रिटिश युग में फैली दशाओं तथा वर्तमान दशाओं में कोई अन्तर नहीं पाती है। खाद्यान्न, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी समस्याएँ अभी तक नहीं सुलझ सकी हैं तथा आम जनता का जीवन और भी कठिन तथा भार-सा हो गया है। वह सिर्फ यही अनुभव करती है कि सविध न में ये पवित्र घोशणाएँ निर्देश नहीं अपितु सजावट की सामग्री हैं।”

नीतिनिर्देशक तत्वों का महत्व आलोचकों का यह विचार कुछ अंशों में ठीक भी है और गलत भी। यह बात ठीक है कि नीतिनिर्देशक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है और बहुत अंशों में वे बेकार भी हैं। लेकिन यह कहना कि उनका कुछ भी मूल्य नहीं है, गलत होगा। निर्देशक तत्वों के महत्व की चर्चा इस प्रकार की जा सकती है

1. निर्देशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति – निर्देशक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है परन्तु फिर भी इनकी महत्ता है। इसका कारण यह है कि इनके पीछे जनमत की शक्ति विद्यमान है। इन तत्वों की महत्ता संविधान में ही स्पष्ट कर दी गयी है और संविधान के अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि राज्य की नीति का संचालन करने में ये आधारभूत तत्व होंगे और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह विधिनिर्माण के समय इन तत्वों का अतिक्रमण नहीं करे। निर्देशक तत्वों को संविधान में इसलिए स्थान दिया गया है कि केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें इन तत्वों को सर्वदा ध्यान में रखें और कार्यान्वित करने की चेष्टा करें। यों तो कोई भी लोक कल्याणकारी राज्य इन तत्वों को प्राप्त करने की कोषिष करेगा ही चाहे इसका उल्लेख उसके संविधान में हुआ हो या नहीं, लेकिन संविधान में इन बातों का उल्लेख कर देने से सरकार पर एक नैतिक दबाव हो जाता है। चुनाव के समय जनता कह सकती है कि वह उस पार्टी को अपना वोट देगी जो संविधान में वर्णित निर्देशक तत्वों को अमल में लाने की प्रतिज्ञा करे। संविधानसभा में वाद विवाद के दौरान एक सदस्य ने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि इन उपबन्धों को कार्यान्वित कराने वाली जनमत शक्ति है जो जनता की माँग की पृष्ठभूमि होती है। प्रत्येक चार या पाँच वर्ष बाद जो चुनाव होंगे उनमें निर्वाचकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे जनमत के प्रति उदासीन व्यक्तियों को पुनः न चुनें। यही वास्तविक अनुषक्ति है न कि न्यायालय की अनुषक्ति। श्री अल्लादी कृष्णास्वामी का भी कहना सही है कि कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धों के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकता।

न्यायालयों द्वारा निर्देशक तत्वों को मान्यता – संविधान में निर्देशक तत्वों के पीछे कानूनी बल की व्यवस्था नहीं की जाने पर भी इन्हें न्यायालयों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। न्यायालयों ने अपना निर्णय देते समय निर्देशक तत्वों को हमेशा ध्यान में रखा है। न्यायालयों ने इस बात को स्वीकार किया है कि उनका कर्तव्य इन तत्वों को प्रवर्तित करने

और इनकी रक्षा करने में पूर्ण सहयोग देना है, क्योंकि ये संविधान के ही अंग हैं। ‘गोपालन बनाम मद्रास राज्य’ नामक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में मुख्य न्यायाधीश कानिया ने अपना विचार व्यक्त किया था कि राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व संविधान के अंग हैं, इसलिए इन्हें बहुमत दल की इच्छामात्र मान लेना गलत होगा। ये तत्व सारे राष्ट्र की इच्छा के प्रतीक हैं जिन्हें उस संविधान सभा के माध्यम से व्यक्त किया गया है जिसे समस्त देश की सर्वोच्च विधि निर्मित करने का आदेश दिया गया था।”

3. संवैधानिक पवित्रता संविधान के अन्य उपबन्धों की तरह ही राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व भी पवित्र हैं। यह कहना उचित नहीं होगा कि कानूनी बल के अभाव में ये तत्व अपवित्र

हैं। न्यायालय ने भी इनकी पवित्रता स्वीकार की है। इसके साथ साथ राजनीतिज्ञों ने भी इन्हें पवित्र बनाये रखने की कोषिष की है। पं. नेहरू ने तो यहाँ तक कह दिया था कि “यदि संविधान का कोई उपबन्ध निर्देशक तत्वों को व्यावहारिक रूप देने में बाधक हो रहा हो तो संविधान में आवश्यक संशोधन भी किया जा सकता है।” आज भी इनकी पवित्रता की रक्षा एक पुनीत कर्तव्य बन गया है। सरकार ने इसी की रक्षा के लिए लोकसभा में संविधान का पच्चीसवाँ संशोधन विधेयक उपस्थित किया।

संविधान का उद्देश्य नीतिनिर्देशक तत्वों में उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिन्हें पूरा करना संविधान का उद्देश्य है। संविधान में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि ये तत्व देश के शासन में मूलभूत सिद्धान्त होंगे। अनुच्छेद 38 में स्पष्ट कह दिया गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित कर सके। संविधान-निर्माताओं का यही उद्देश्य था कि राज्य इन तत्वों को विशम से विशम परिस्थितियों में भी लागू करे। इनका उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना है। डॉ. अम्बेदकर के शब्दों में, “संविधान का उद्देश्य केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही प्रजातंत्र की स्थापना नहीं है, जहाँ कानूनी शक्ति का आधार वयस्क मताधिकार होता है और कार्यकारिणी विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होती है, बल्कि कल्याणकारी राज्य को भी बढ़ावा देना है, जिसमें सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र भी होता है।”

5. विभिन्न परिस्थितियों से सुरक्षा दृष्टि निर्देशक तत्व विभिन्न परिस्थितियों से भी सुरक्षा प्रदान करते हैं। पायली के शब्दों में, “राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धान्तों द्वारा भारतीय संविधान व्यक्तिगत स्वतंत्रता हेतु घातक श्रमजीवियों की तानाशाही तथा जनसाधारण की आर्थिक सुरक्षा में बाधक होने वाले पूँजीवादी अल्पतंत्र, दोनों चरम सीमाओं में सन्तुलन स्थापित करता है।” निर्देशक सिद्धान्तों का महत्व और भी है। प्रजातंत्र में सरकार दलगत होती है अतः चाहे किसी भी दल की सरकार क्यों न हो उसके शासन के आधार ये निर्देशक सिद्धान्त होंगे और इस प्रकार सरकार की नीति में स्थिरता तथा गतिशीलता रह सकेगी और दलबन्दी के प्रवाह में भी नीतिनिर्देशक सिद्धान्त राज्य की नीति का पथप्रदर्शन करेंगे। डॉ०

में अम्बेदकर ने कहा था कि “राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धान्तों की भाषा को हमने ऐसा स्वरूप दिया है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि वे न तो स्थायी हैं और न कठोर ही। हमने विभिन्न समयों और विभिन्न विचारों के अनुसार आर्थिक प्रजातंत्र स्थापित करने का प्रयास किया और अपने विचार तथा रुचि के अनुकूल मतदाताओं पर प्रभाव डाला। मेरे विचार से आर्थिक प्रजातंत्र स्थापित करने का सबसे अच्छा उपाय यही है और इसी प्रकार आगे आने वाली पीढ़ियों को मनचाहे तरीके से कार्य का पूर्ण अवसर दिया जाना चाहिए।”

6. नैतिक आदर्शों का महत्व राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों को हम भारतीय राजनीति का मूलमंत्र या बीजतत्व कह सकते हैं। निर्देशक तत्व हमारे संविधान के ऐसे आदर्श हैं जो राज्य को सदा यह याद दिलाते रहेंगे कि उसे अपनी नीति इस ढंग से स्थिर करनी चाहिए तथा अपने कार्य इस प्रकार करने चाहिए कि इन आदर्शों का अधिक से अधिक पालन हो सके। यह कहना भी उचित ही होगा कि ये तत्व ठीक उसी तरह के आदेशपत्र हैं जो 1935 के अधिनियम में ब्रिटिश सरकार द्वारा गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को दिये गये थे। निर्देशक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है लेकिन उन्हें जबर्दस्त नैतिक बल प्राप्त है और आज के युग में नैतिक बल की शक्ति कानूनी बल से कम नहीं है। ग्लैडहिल ने ठीक ही विचार व्यक्त किया है कि “असंख्य व्यक्तियों का जीवन उनके मस्तिष्क से टूकराने वाले नैतिक आदर्शों के कारण और इस प्रकार के निर्देशक आदर्शों के उदाहरण, राष्ट्रों के इतिहास में पाना कठिन नहीं है।”

7. संविधान की अस्पष्टता दूर करना – निर्देशक तत्व संविधान के उपबन्धों की, अस्पष्टता दूर करने में भी सहायक सिद्ध हुए हैं। निर्देशक तत्वों को देश के प्रशासन में आधे रभूत तत्व माना गया है, अतः न्यायालय भी संविधान के उपबन्धों की व्याख्या करते समय इन तत्वों

भारतीय शासन राजनीति

को ध्यान में रखते हैं। कानिया के शब्दों में, “निस्सन्देह निर्देशक तत्वों को न्यायालय वैध नहीं ठहरा सकता है, अगर वे मूल अधिकार के किसी विशेष उपबन्ध का विरोध करते हैं। फिर भी इनकी व्याख्या के लिए निर्देशक तत्वों का लाभप्रद उपयोग किया जा सकता है।” प्रो० अलेक्जेंद्राविक्स के अनुसार, “न्यायालयों को मौलिक अधिकारों की व्याख्या के सम्बन्ध में निर्देशक तत्वों को पर्याप्त महत्व देना चाहिए।”

उपर्युक्त महत्वों की विवेचना से ही स्पष्ट हो जाता है कि निर्देशक तत्वों के आलोचकों के तर्क उचित नहीं हैं। आलोचकों का तर्क कि राष्ट्रपति या राज्यपाल इनका दुरुपयोग कर सकता है, ठीक प्रतीत नहीं होता। संसदीय प्रजातंत्र में मंत्रिमण्डल के निर्णय को राष्ट्रपति या राज्यपाल की अस्वीकृति का प्रश्न ही नहीं उठता। डॉ० अम्बेडकर ने भी कहा है कि “विधायिका द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने के लिए राष्ट्रपति या राज्यपाल निर्देशक तत्वों का उपयोग नहीं कर सकते हैं।” फिर आलोचकों का यह तर्क भी गलत है कि निर्देशक तत्व असंगत तथा अव्यावहारिक हैं। आलोचकों ने इन तत्वों की भविष्य में महत्ता पर शंका प्रकट की है। आलोचकों के इस तर्क का उत्तर देते हुए पायली ने ठीक ही लिखा है कि “यदि कभी ये सिद्धान्त पुराने होकर लागू करने योग्य नहीं रहेंगे तो इनमें आवश्यकतानुसार संशोधन किया जा सकता है अथवा इनका पूर्णतः परित्याग भी किया जा सकता है। इन उपबन्धों की संशोधन प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। जब इन्हें संशोधित करने का समय आयेगा तब तक भारत इनसे पूर्ण लाभान्वित हो चुकेगा और भारत में आर्थिक प्रजातंत्र की जड़ें गहरी हो चुकी होंगी। संविधान का निर्माण वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए होता है। यदि हम वर्तमान का निर्माण सुदृढ़ नींव पर करें तो भविष्य की चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।” श्रीराम शर्मा ने भी ठीक ही विचार व्यक्त किया है कि “निर्देशक तत्व सरकार तथा जनता को भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में निरन्तर याद दिलाते रहेंगे।”

नीतिनिर्देशक तत्वों का क्रियान्वयन — पिछले वर्षों के अनुभव पर हम यह कह सकते हैं कि संघ सरकार तथा विभिन्न राज्यों की सरकारों द्वारा इन तत्वों को अमल में लाने का उचित प्रयास हुआ है। निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजनाओं, सहकारी समितियों और ग्रामपंचायतों का संगठन, विविध उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्रों (चनइसपबे मबजवते) पर जोर, मजदूरों की दशा में सुधार लाने के लिए तरह-तरह के अधिनियम— शॉप ऐक्ट, फैक्टरी ऐक्ट, प्रेस ऐक्ट, भूमि सुधार सम्बन्धी कानून आदि सरकार के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं। आर्थिक विषमता दूर करने के लिए भी तरह-तरह के प्रयत्न किये जा रहे हैं। कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग कर उचित न्याय की व्यवस्था की जा रही है। पशुओं और प्राचीन स्मारकों की रक्षा का काम भी जारी है। अर्न्तराष्ट्रीय क्षेत्र में विषयान्ति के लिए भारत सरकार ने प्रपंसनीय कार्य किये हैं। इन अतिरिक्त सरकार द्वारा अन्य कानून भी बनाने गये हैं और बनते जा रहे हैं जो नीतिनिर्देशक तत्वों की सार्थकता सिद्ध करते हैं। इनके कार्यों को देखकर यह कहा जा सकता है कि संविधान में नीति निर्देशक तत्वों का उल्लेख व्यर्थ ही नहीं किया गया है। सरकार द्वारा इन तत्वों के पालन तथा अपनाने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसी व्यवस्था की जा रही है कि पूँजी किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीभूत नहीं हो। बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर एक और क्रान्तिकारी कदम उठाया गया है। प्रिवीपर्स को समाप्त करने की बात है भी ऐसी ही है। बिहार सरकार ने शहरी सम्पत्ति की सीमा निर्धारित कर इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। अधिकतम भूमि की सीमा में भी परिवर्तन किया गया है। इस प्रकार केन्द्र और विभिन्न राज्यों की सरकारें भी इस ओर सचेत हैं। नीतिनिर्देशक तत्वों की महत्ता इसी से स्पष्ट होती है। इन तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संविधान में राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का उल्लेख काफी सोच-समझकर हुआ है। भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हमारा मुख्य लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में हम इन तत्वों से काफी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। नीतिनिर्देशक तत्व हमारे लिए अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम करते रहेंगे। 14 मार्च 1955 को संविधान के चतुर्थ संशोधन के सम्बन्ध में लोकसभा में बोलते हुए प्रधानमंत्री पं० नेहरू ने नीतिनिर्देशक तत्वों की महत्ता इन शब्दों में स्वीकार की थी, “यदि मूल अधिकारों और नीतिनिर्देशक तत्वों में अर्न्तविरोध हो तो

नीतिनिर्देशक तत्वों को ही प्राथमिकता दी जायेगी।” इसलिए यह कहना निरर्थक है कि नीतिनिर्देशक तत्वों को संविधान में स्थान प्राप्त नहीं होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि इनकी महत्ता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। लोकसभा में संविधान का 25वाँ संशोधन विधेयक जो पेश किया गया है, वह इनकी महत्ता को और भी बढ़ा देता है। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का उपबन्ध हमारे संविधान का महत्वपूर्ण अंग है।

सारांश

नीतिनिर्देशक तत्वों का क्रियान्वयन – पिछले वर्षों के अनुभव पर हम यह कह सकते हैं कि संघ सरकार तथा विभिन्न राज्यों की सरकारों द्वारा इन तत्वों को अमल में लाने का उचित प्रयास हुआ है। निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजनाओं, सहकारी समितियों और ग्रामपंचायतों का संगठन, विविध उद्योग धंधों का राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्रों (चनइसपबे मबजवते) पर जोर, मजदूरों की दशा में सुधार लाने के लिए तरह-तरह के अधिनियम—षॉप ऐक्ट, फैक्टरी ऐक्ट, प्रेस ऐक्ट, भूमि सुधार सम्बन्धी कानून आदि सरकार के

– कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं। आर्थिक विशमता दूर करने के लिए भी तरह-तरह के प्रयत्न किये जा रहे हैं। कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग कर उचित न्याय की व्यवस्था की जा रही है। पशुओं और प्राचीन स्मारकों की रक्षा का काम भी जारी है। अर्न्तराष्ट्रीय क्षेत्र में विष्वषान्ति के लिए भारत सरकार ने प्रषंसनीय कार्य किये हैं। इन अतिरिक्त सरकार द्वारा अन्य कानून भी बनाने गये हैं और बनते जा रहे हैं जो नीतिनिर्देशक तत्वों की सार्थकता सिद्ध करते हैं। इनके कार्यों को देखकर यह कहा जा सकता है कि संविधान में नीति निर्देशक तत्वों का उल्लेख व्यर्थ ही नहीं किया गया है। सरकार द्वारा इन तत्वों के पालन तथा अपनाने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसी व्यवस्था की जा रही है कि पूँजी किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीभूत नहीं हो। बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर एक और क्रान्तिकारी कदम उठाया गया है। प्रिवीपर्स को समाप्त करने की बात है भी ऐसी ही है। बिहार सरकार ने षहरी सम्पत्ति की सीमा निर्धारित कर इस दिषा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। अधिकतम भूमि की सीमा में भी परिवर्तन किया गया है। इस प्रकार केन्द्र और विभिन्न राज्यों की सरकारें भी इस ओर सचेत हैं। नीतिनिर्देशक तत्वों की महत्ता इसी से स्पष्ट होती है। इन तकों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संविधान में राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का उल्लेख काफी सोच-समझकर हुआ है। भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हमारा मुख्य लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में हम इन तत्वों से काफी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। नीतिनिर्देशक तत्व हमारे लिए अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए प्रकाष स्तम्भ का काम करते रहेंगे। 14 मार्च 1955 को संविधान के चतुर्थ संशोधन के सम्बन्ध में लोकसभा में बोलते हुए प्रधानमन्त्री पं. नेहरु ने नीतिनिर्देशक तत्वों की महत्ता इन षब्दों में स्वीकार की थी, “यदि मूल अधिकारों और नीतिनिर्देशक तत्वों में अर्न्तविरोध हो तो नीतिनिर्देशक तत्वों को ही प्राथमिकता दी जायेगी।” इसलिए यह कहना निरर्थक है कि नीतिनिर्देशक तत्वों को संविधान में स्थान प्राप्त नहीं होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि इनकी महत्ता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। लोकसभा में संविधान का 25वाँ संशोधन विधेयक जो पेश किया गया है, वह इनकी महत्ता को और भी बढ़ा देता है। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का उपबन्ध हमारे संविधान का महत्वपूर्ण अंग है।

नीति-निर्देशक तत्वों का अर्थ – कतिपय संविधानों में कुछ आदर्षों का वर्णन कर दिया जाता है। इन्हीं को राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व कहते हैं। ये तत्व किसी भी सरकार के लिए पथप्रदर्शन का कार्य करते हैं। संविधान में इनका वर्णन नागरिकों के पालन के लिए नहीं होता। इनका सम्बन्ध केवल राज्य से होता है। यह राज्य का ध्यान अपने कर्तव्य की तरफ आकृष्ट करने के लिए संविधान में रखे जाते हैं। ये राज्य के लिए एक तरह के आदेश हैं, पर इनका पालन करना या न करना बिल्कुल राज्य की मर्जी पर निर्भर हैं राज्य के लिए इन आदेशों का इतना ही महत्व है कि जब सरकार अपना नीतिनिर्धारण करे और उसे

भारतीय शासन राजनीति

कार्यान्वित करने के लिए कानून बनाये तो उन कानूनों को यथासम्भव इन तत्वों के आधर पर बनाने का प्रयास किया जाय। यह सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह इन तत्वों को बराबर ध्यान में रखे। वह जो कानून बनाये उसका उद्देश्य इन तत्वों को अमल में लाना होगा। संविधान में नीति निर्देशक तत्वों की यही उपयोगिता है, इन्हें हम संविधान द्वारा स्वीकृत राज्य के लिए कतिपय सुनिश्चित आदर्श भी मान सकते हैं। इन आदर्शों की उपलब्धि राज्य सरकार की सबसे बड़ी सफलता होगी।

क्या निर्देशक तत्व आवश्यक हैं? – निर्देशक तत्व लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में बहुत सहायक हो सकते हैं। इस बात के होते हुए भी निर्देशक तत्वों के वर्णन के लिए संविधान उपयुक्त स्थान नहीं है। आज के युग में प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों के विकास और अच्छे जीवन के लिए समुचित दशाएँ उपस्थित करे, चाहे उस देश के संविधान में निर्देशक तत्वों का प्रतिपादन हुआ हो या नहीं। जो राज्य अपने नागरिकों के लिए ऐसा नहीं करता है, वह लोक कल्याणकारी होने का दावा नहीं कर सकता। फिर भी यह तो सत्य है कि संविधान में निर्देशक तत्वों का वर्णन तभी उचित है जब उसके पीछे कानून का भी कुछ बल हो, अन्यथा इनके वर्णन से कोई विशेष लाभ नहीं है। 'मद्रास सरकार बनाम चम्पाकन दोरायजन (1951)' के मामले में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया था कि नीतिनिर्देशक तत्व मूल अधिकारों को अभिभूत नहीं कर सकते और यदि करें तो अवैध है।

निर्देशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति निर्देशक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है परन्तु फिर भी इनकी महत्ता है। इसका कारण यह है कि इनके पीछे जनमत की शक्ति विद्यमान है। इन तत्वों की महत्ता संविधान में ही स्पष्ट कर दी गयी है और संविधान के अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि राज्य की नीति का संचालन करने में ये आधारभूत तत्व होंगे और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह विधिनिर्माण के समय इन तत्वों का अतिक्रमण नहीं करे। निर्देशक तत्वों को संविधान में इसलिए स्थान दिया गया है कि केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें इन तत्वों को सर्वदा ध्यान में रखें और कार्यान्वित करने की चेष्टा करें। यों तो कोई भी लोक कल्याणकारी राज्य इन तत्वों को प्राप्त करने की कोषिष करेगा ही चाहे इसका उल्लेख उसके संविधान में हुआ हो या नही, लेकिन संविधान में इन बातों का उल्लेख कर देने से सरकार पर एक नैतिक दबाव हो जाता है। चुनाव के समय जनता कह सकती है कि वह उस पार्टी को अपना वोट देगी जो संविधान में वर्णित निर्देशक तत्वों को अमल में लाने की प्रतिज्ञा करें। संविधानसभा में वाद विवाद के दौरान एक सदस्य ने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि इन उपबन्धों को कार्यान्वित कराने वाली जनमत शक्ति है जो जनता की माँग की पृष्ठभूमि होती है। प्रत्येक चार या पाँच वर्ष बाद जो चुनाव होंगे उनमें निर्वाचकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे जनमत के प्रति उदासीन व्यक्तियों को पुनः न चुनें। यही वास्तविक अनुषक्ति है न कि न्यायालय की अनुषक्ति। श्री अल्लादी कृष्णास्वामी का भी कहना सही है कि कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धों के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकता।

न्यायालयों द्वारा निर्देशक तत्वों को मान्यता – संविधान में निर्देशक तत्वों के पीछे कानूनी बल की व्यवस्था नहीं की जाने पर भी इन्हें न्यायालयों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। न्यायालयों ने अपना निर्णय देते समय निर्देशक तत्वों को हमेशा ध्यान में रखा है। न्यायालयों ने इस बात को स्वीकार किया है कि उनका कर्तव्य इन तत्वों को प्रवर्तित करने और इनकी रक्षा करने में पूर्ण सहयोग देना है, क्योंकि ये संविधान के ही अंग हैं। 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में मुख्य न्यायाधीश क्रानिया ने अपना विचार व्यक्त किया था कि "राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व संविधान के अंग हैं, इसलिए इन्हें बहुमत दल की इच्छामात्र मान लेना गलत होगा। ये तत्व सारे राष्ट्र की इच्छा के प्रतीक हैं जिन्हें

उस संविधान सभा के माध्यम से व्यक्त किया गया है जिसे समस्त देश की सर्वोच्च विधि निर्मित करने का आदेश दिया गया था ।”

अभ्यास—प्रश्न

1. राज्य के नीतिनिर्देशक तत्व से आप क्या समझते हैं? उनके महत्व का विवरण दीजिए ।
2. मूल अधिकारों और राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों में क्या अन्तर है?
3. क्या संविधान में नीतिनिर्देशक तत्व का उल्लेख आवश्यक है ? अपने उत्तर का कारण बताइए ।
4. भारतीय संविधान में वर्णित राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का वर्णन कीजिए ।
5. भारतीय संविधान में वर्णित राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए । उन्हें व्यवहार में कहाँ तक कार्यान्वित किया गया है ?
6. “भारतीय संविधान में दिये गये राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों का भारत में एक आदर्श गणतंत्र लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में बहुत अधिक महत्व है ।” इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

निर्वाचन आयोग का गठन, नियुक्ति, कार्यकाल

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव

चुनाव आयोग के कार्य

भारतीय चुनावों में त्रुटियाँ और उनका उपचार

अध्ययन के उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात आप

— जान सकेंगे कि निर्वाचन आयोग का गठन कैसे होता है, इसकी नियुक्ति कैसे होती है, और इसका कार्यकाल क्या हुआ करता है।— जान सकेंगे कि चुनाव आयोग के पुनर्गठन हेतु कौन-कौन से सुझाव दिये गए।

परिचय.

भारत एक लोकतन्त्रात्मक देश है। लोकतन्त्रात्मक देशों में जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। भारत में भी केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आये दिन चुनाव होते रहते हैं। इन चुनावों के माध्यम से जनता जनप्रतिनिधियों का चयन करती है। भारत के संविधान-निर्माता चुनावों के महत्व से परिचित थे और इसलिए भारतीय संविधान में उन्होंने एक ऐसे संवैधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों का निर्वाचन सम्पन्न कराना है। इस संवैधानिक आयोग को निर्वाचन आयोग के नाम से जाना जाता है। जहाँ विषय के अधिकांश देशों में निर्वाचन को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विषय समझकर उसे व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया है, वहीं भारतीय संविधान-निर्माताओं ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही कर लिया है। संविधान निर्मात्री सभा में पं० हृदयनाथ कुंजरू ने कहा था, “अगर निर्वाचन तन्त्र दोषपूर्ण है या निष्पक्ष नहीं है या गैर ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्भव काल में ही

डगमंगा जायेगा।” अतः निर्वाचन का महत्व समझते हुए भारतीय संविधान में एक स्वतन्त्र निर्वाचन आयोग की स्थापना की।

निर्वाचन आयोग का संगठन — संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए एक निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई

□ है। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होंगे जितने कि राष्ट्रपति समय समय पर मनोनीत करे।

नियुक्ति – मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवश्यक समझे। निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों की सेवा शर्तों और पदावधियाँ ऐसी होंगी जो कि राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करें।

इकाई 10 चुनाव सुधार

मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल 65 वर्ष की आयु तक है। अर्थात् 65 वर्ष की आयु हो जाने पर वे सेवानिवृत्त हो जायेंगे। मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य निर्वाचन आयुक्तों को उनके पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जा सकेगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचन आयुक्तों को पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन ऐसा प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों के अलग अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से पारित कराना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा। उसके बाद राष्ट्रपति निर्वाचन आयुक्त को पदच्युत करने का आदेश जारी करेगा

व्यावहारिक स्थिति सन् 1951 में जब पहली बार संविधान के अन्तर्गत जब निर्वाचन आयोग का गठन किया गया तब से निर्वाचन आयोग एक सदस्यीय आयोग के रूप में कार्य करता रहा। 1952 ई. में आम चुनावों के संचालन हेतु दो प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों की व्यवस्था को लाभदायक नहीं समझा गया और द्वितीय आम चुनावों के बाद इसे निरस्त कर दिया गया। 1956 ई० में प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों के स्थान पर उपनिर्वाचन आयुक्त

के पद सृजित किये गये। सन् 1957 1962 तथा 1967 के निर्वाचनों का संचालन करने हेतु दो उपनिर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की गई। 1969 ई. के मध्यावधि चुनावों के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए उपनिर्वाचन आयुक्त, सचिव, अपर सचिव षोडश अधिकारी आदि पर भी उपलब्ध कराये गये थे।

16 अक्टूबर, 1998 को राष्ट्रपति आर. बेंकटरमण ने निर्वाचन आयोग को व्यापक रूप देने के उद्देश्य से दो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। केन्द्र सरकार ने एक अक्टूबर, 1993 ई. को एक अधिसूचना जारी करके निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया। इसके अनुसार आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त के अतिरिक्त दो अन्य चुनाव आयुक्त होंगे। वेतन एवं अन्य सेवा शर्तों के अतिरिक्त अन्य चुनाव आयुक्त तथा मुख्य चुनाव आयुक्त तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश समकक्ष हो गए। अध्यादेश में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों के बीच कार्य विभाजन भी परिभाषित किया गया। केवल पदनाम को छोड़कर सभी क्षेत्रों में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य दो चुनाव आयुक्तों के मध्य कोई अन्तर नहीं रह गया है। निर्णय एक मत से लिए जा सकता है या चुनाव आयोग से सम्बन्धित कार्य मुख्य और अन्य चुनाव आयुक्त आपस में विभाजित कर सकते हैं। यदि मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्तों में मतभेद होता है तो बहुमत का निर्णय मान्य होगा। मुख्य चुनाव आयुक्त टी. एन. षेशन ने दो नये चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति तथा उन्हें मुख्य चुनाव आयुक्त के बराबर अधिकार दिये जाने से सम्बन्धित राष्ट्रपति के अध्यादेश की वैधता को चुनौती देते हुए 27 अक्टूबर, 1993 को सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की परन्तु संविधान पीठ ने 14 जुलाई, 1995 को अपने दिये गये एक फैसले में निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने और मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अन्य दो चुनाव आयुक्तों के समकक्ष बनाने के अध्यादेश को राष्ट्रपति की अधिसूचनाओं को वैध घोषित कर दिया। अपने फैसले के साथ ही सर्वोच्च न्यायालय ने यह

भारतीय शासन राजनीति

आषा व्यक्त की कि आयोग के सदस्य एक दूसरे से सन्देह की भावना से ऊपर उठकर सद्भावनापूर्ण वातावरण में काम करेंगे।

चुनाव आयोग के कार्य

निर्वाचन से सम्बन्धित समस्त कार्यों को करने का उत्तरदायित्व निर्वाचन आयोग का है। इस सम्बन्ध में उसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन— निर्वाचन आयोग का प्रथम कार्य निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन जन प्रतिनिधित्व अधि नियम 1950 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये आदेश पर किया गया था। परन्तु यह व्यवस्था सन्तोशजनक नहीं पाई गई। अतः संसद ने परिसीमन आयोग अधिनियम 1952 पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य निर्वाचन आयुक्त इस सीमांकन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त इसमें सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के दो अवकाष प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। आयोग की सदस्यता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोकसभा अथवा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। जनता अपने सुझाव या आपत्तियाँ प्रस्तुत कर सकती है। इन सुझावों व आपत्तियों पर खुली बैठक में विचार होता है। इसके बाद आयोग सीमांकन आदेश की घोषणा करता है जो अन्तिम होता

है तथा इसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती ।

(2) मतदाता सूचियाँ तैयार करना

निर्वाचन आयोग लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक निर्वाचन से पूर्व मतदाता सूचियाँ तैयार करवाता है और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होता है। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो कि मताधिकार की योग्यता रखता हो। (3) विभिन्न राजनैतिक दलों को मान्यता प्रदान करना निर्वाचन आयोग विभिन्न राजनैतिक दलों को मान्यता प्रदान कराता है। इसके लिए आयोग द्वारा कोई पैमाना निश्चित किया जाता है। निर्वाचन आयोग द्वारा मान्यता प्रदान करने के आधार के सम्बन्ध में समय-समय पर परिवर्तन किये जाते रहे हैं। वर्तमान नियम के अनुसार किसी राजनैतिक दल को राज्य स्तरीय दल के रूप में तभी मान्यता मिलती है, जब उसने संसदीय या विधानसभा चुनाव में उस राज्य से कुल वैध मतों के न्यूनतम 4: मत प्राप्त किये हों अथवा लोकसभा के लिए उस राज्य से निर्वाचित 25 या उससे कम सदस्यों के अनुपात में कम से कम उसका एक निर्वाचित सदस्य हो। इसी प्रकार राज्य विधानसभा में 30 या उससे कम विधायकों के अनुपात में कम से कम उसका एक विधायक हो। चार या उससे अधिक राज्यों में मान्यता मिल जाने पर उसे राष्ट्रीय दल की मान्यता दी जाती है।

(4) राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करता है। यदि चुनाव चिह्न के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति में आयोग से यह आषा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निपटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

(5) अर्द्ध न्यायिक कार्य — संविधान ने आयोग को कुछ अर्द्ध न्यायिक कार्य भी सौंपे हैं। जैसे— (1) अनुच्छेद 103 के अर्न्तगत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओं के सम्बन्ध

1 में चुनाव आयोग से परामर्श कर सकता है। (2) अनुच्छेद 192 के अर्न्तगत राज्य विध न मण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया जाता है : ।

(6) अन्य कार्य इन कार्यों के अतिरिक्त चुनाव आयोग के कुछ अन्य कार्य भी. सौंपे गये हैं, जो इस प्रकार हैं: (प) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता तैयार करना । (पप) राजनीतिक दलों को आकाषवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधायें दिलवाना। (पपप) उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले कुल व्यय की राशि निश्चित करना (पअ) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना। (अ) चुनाव याचिकाओं आदि के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना ।

इन सबको अतिरिक्त चुनाव आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय समय पर सरकार को अपने कार्यों को अपने कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा।

निर्वाचन प्रक्रिया का आरम्भ इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई अधिसूचना से होता है। यह अधिसूचना जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की 14वीं धारा के अंतर्गत जारी होती तथा उसे चुनाव होने की स्थिति में जारी किया जारी की जाती है तथा उसे चुनाव होने की स्थिति में जारी किया जाता है। इसके बाद निर्वाचन आयोग मतदान की तिथियों की घोशणा करता है जिसे निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोशणा करता है जिसे निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोशणा में नामजदगी, पत्रों की जांच की तिथि, चुनाव संघर्ष से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता है। सन् 1966 के बाद उम्मीदवारों को चुनाव संघर्ष से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता है। सन् 1966 के बाद उम्मीदवारों को चुनाव अभियान के लिए कम से कम 20 दिन का समय दिया जाता है।

निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता

भारत में निर्वाचन आयोग एक स्वतंत्रा संवैधानिक और संविधान इस बात को सुनिश्चित करता है कि उच्चतम न्यायालय और न्यायालय और उच्च न्यायालयों की भाँति निर्वाचन आयोग भी कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतंत्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्यों का सम्पादित कर सके । निर्वाचन आयोग को स्वतंत्र और निष्पक्ष बनाये रखने के लिए निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं—

(1) निर्वाचन आयोग एक संवैधानिक संस्था है अर्थात् इसका निर्माण संविधान ने किया

है, न कि कार्यपालिका या संसद ने

(2) मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। (3) मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों को केवल महाभियोग जैसी प्रक्रिया

द्वारा ही हटाया जा कसता है।

(4) मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों का स्तर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाध पों के बराबर है।

(5) नियुक्ति के बाद मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों की सेवा — षर्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

(6) मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य निर्वाचन आयुक्तों का वेतन भारत की संचित निधि से दिया जाता है। उपर्युक्त प्रावधनों से स्पष्ट है कि संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिससे कि वे अपने कार्यों को निष्पक्षतापूर्वक कर सकें।

आलोचना — निर्वाचन आयोग की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है:

भारतीय शासन राजनीति

(1) चुनाव आयुक्त पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति आलोचकों के अनुसार चुनाव आयुक्त या मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर सामान्यतः भारतीय प्रशासनिक सेवा (पी) के उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है, जिन्हें शासक दल निश्ठावान मानता है। वे अधिकारी जिन्होंने सत्तारूढ़ दल के मातहत के रूप में कार्य किया है, चुनाव आयुक्त के रूप में निष्पक्ष भूमिका कैसे अदा कर सकते हैं:

(2) निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल की सरकार के इशारे पर कार्य करता सैद्धान्तिक रूप से कहा जाता है कि भारत में निर्वाचन का समय व तिथियाँ निर्वाचन आयोग द्वारा घोषित की जाती हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप से यह देखा गया है कि निर्वाचन यह कार्य बहुमत प्राप्त दल की इच्छा व सुविधा को ध्यान में रखकर करता है।

(3) राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भरता – निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यों के लिए स्वतन्त्र कर्मचारी तन्त्र नहीं है। उसे राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति उतने समर्पित नहीं होते और निष्पक्ष आचरण नहीं करते।

(4) चुनाव धाँधली को रोक पाने में असमर्थ वर्तमान चुनाव आयोग धाँधलियों को नहीं रोक पाता। चुनावों में बाहुबल, मतदान स्थलों पर कब्जे तथा फर्जी मतदान करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। किन्तु चुनाव आयुक्त मूक दर्शक बना रहता है।

(5) कागजी अधिकार – चुनाव भ्रष्टाचार पर काबू पाने के लिए चुनाव आयोग

के अधिकांश अधिकार कागजी हैं। यदि चुनाव आयोग को कारगर बनाना है तो संसद में कानून बनाकर उसे नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक जैसी हैसियत देने की आवश्यकता है। निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं।

(1) चुनाव आयोग एक बहुसदस्यीय स्थायी आयोग को, जिसमें 3 से 5 तक स्थायी सदस्य हों और चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो।

(2) चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाये जिसके सदस्य मुख्य न्यायाधीश प्रधानमन्त्री तथा संसद में विपक्ष के नेता हों।

(3) राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार के आयोग हों।

(4) आयोग की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए इसमें वर्तमान या सेवानिवृत्त प्रशासनिक अधिकारियों को नियुक्त न करके वर्तमान या सेवानिवृत्त उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए। (5) उप-चुनाव के बारे में निर्णय लेने की अन्तिम शक्ति निर्वाचन आयोग में निहित हो,

न कि सत्तारूढ़ दल की सुविधा पर।

(6) निर्वाचन आयोग से पनविष्ट होने वाले आयुक्तों को भविष्य में किसी लाभ के पद पर नियुक्त न किया जाये।

निष्कर्ष – निर्वाचन आयोग के कार्य करते हुए लगभग 60 वर्ष बीत चुके हैं और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्रों में परिसीमन से लेकर निर्वाचन अधिनिर्णय तक के कार्य को निर्वाचन आयोग ने सामान्य: कार्यकुशलता, निष्पक्षता और ईमानदारी से सम्पन्न किया है।

यद्यपि भारत में अभी तक के समस्त चुनाव षान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुए हैं परन्तु चुनावों में कुछ ऐसी बातें देखने को मिली हैं जिन्होंने जनता की चुनाव में आस्था को कम किया है। बहुत से लोग यह कहने लगे हैं कि वोट डालने जाने से क्या लाभ वहाँ पहुँचने से पहले ही हमारा वोट डाल दिया गया। चुनावों में धन, हिंसा, मतदान तथा केन्द्रों पर कब्जा करने की प्रवृत्तियाँ निरन्तर बढ़ रही हैं। यदि इन्हें नियन्त्रित नहीं किया गया तो जनता की चुनावों में आस्था नहीं रहेगी जो प्रजातन्त्र के लिए घातक सिद्ध होगा।

तारकुण्डे समिति – चुनाव सुधार के प्रश्न पर विचार और अध्ययन करने के लिए सिटीजन्स फॉर डेमोक्रेसी ने एक समिति की ओर से श्री जयप्रकाशनारायण ने एक समिति का गठन किया। महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री बी. एम. तारकुण्डे इसके अध्यक्ष थे। इसने अपनी सिफारिशें सरकार को दीं, जो इस प्रकार हैं :

(1) मताधिकार 21 वर्ष की बजाय 18 वर्ष आयु वालों के दिया जाना चाहिए जाना

चाहिए।

(2) आय के स्रोतों का उल्लेख तथा आय व्यय का पूरा हिसाब समस्त राजनीतिक दलों के लिए अनिवार्य कर दिया जाये और निर्वाचन आयोग द्वारा इसकी जाँच कराई जाये। राजनीतिक दलों द्वारा उम्मीदवारों पर किया जाने वाला खर्च उम्मीदवारों के हिसाबों में जोड़ा जाये तथा चुनाव खर्च की वर्तमान सीमा को दुगुना कर दिया जाये।

(3) प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से छपे हुए मतदान पत्र निःशुल्क दिये जायें तथा प्रत्येक मतदाता का मतदान पत्र बिना टिकट लगाये डाक से भेजने की छूट दी जाये।

(4) जो लोग राजनीतिक दलों को वर्ष में एक हजार रुपये दान दें, उन्हें इस राशि पर आयकर की छूट दी जाये तथा कम्पनियों पर यह प्रतिबन्ध जारी रखा जाये कि वे राजनीतिक दलों को दान नहीं दें सकतीं।

(5) लोकसभा अथवा विधानसभा के विघटन और नए चुनावों की घोशणा के बाद से सरकार काम चलाऊ सरकार की तरह काम करें। वह न नई नीतियों की घोशणा करें, न उन्हें लागू करें, न नई परियोजनाएँ चालू करें, न उनका वादा करें, न ऋण अथवा भत्ते दें, न वेतन वृद्धि की घोशणा करें।

(6) चुनाव के दौरान मंत्रिमण्डल के सदस्य सरकारी खर्च पर यात्रा न करें। सरकारी सवारी और विमान प्रयोग में न लायें। उनकी सभाओं के लिए सरकारी मंच न बनवायें।

(7) जमानत की रकम लोकसभा के उम्मीदवारों के लिए 500 से बढ़ाकर 2000 रुपये और विधानसभाओं के लिए 200 से बढ़ाकर 1000 रु. कर दी जाये।

(8) आकाशवाणी को निगम का रूप दिया जाए। जिस प्रकार ब्रिटेन ने बी. बी. सी. पर राजनैतिक दलों को पिछले चुनाव में प्राप्त मतों के अनुपात में प्रचार को समय दिया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी राजनैतिक दलों को रेडियो और टैलीविजन पर प्रचार हेतु समय दिया जाये।

(9) राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किए जाएँ। केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य हों जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति केवल प्रधानमंत्री के परामर्श पर ही नहीं अपितु तीन व्यक्तियों की एक समिति की सिफारिश पर करें। इस समिति में प्र नमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता अथवा विरोध पक्ष का प्रतिनिधि हो।

भारतीय शासन राजनीति

(10) निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए केन्द्र व राज्यों में निर्वाचन परिशदें बनाई जायें, जो उसे सलाह दें। इन परिशदों सभी में राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। उल्लेखनीय हैं कि तारकुण्डे समिति ने कुछ विवादास्पद मुद्दों पर स्पष्ट राय नहीं दी है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का सुझाव – कम्युनिस्ट पार्टी ने निर्वाचन प्रणाली में बुनियादी संशोधनों की माँग की। उसने कहा कि देश में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अर्न्तगत चुनाव प्रणाली लागू की जाये। निर्वाचन आयोग में तीन सदस्य हों। उनका चयन सांसद अपने दो तिहाई बहुमत से करे तथा उसमें कोई भी सदस्य प्रशासकीय सेवाओं का सेवानिवृत्त कर्मचारी न हो।

भारतीय जनता पार्टी का सुझाव

चुनाव प्रणाली के सम्बन्ध में भाजपा की घोषित नीति भारतीय साम्यवादी दल के एकदम समान थी, उसने भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अर्न्तगत चुनाव का समर्थन किया।

अन्ना द्रमुक का सुझाव— अन्ना द्रमुक के सुझावों में कहा गया है कि मतदाताओं को प्रत्यावर्तन (रिकॉल) का अधिकार दिया जाए। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को लागू किया जाए। मतदाताओं को मतदान केन्द्र तक लाने-ले जाने के लिए कारों या अन्य सवारियों के उपयोग पर पूरी तरह प्रतिबन्ध लगा दिया जाए। चुनावों से तीन महीने पहले सरकार का कार्यकाल समाप्त कर दिया जाए तथा इस बीच शासन की बागडोर राष्ट्रपति या राज्यपाल सम्भालें।

संयुक्त संसदीय समिति के सुझाव

1972 ई. में संसद की एक संयुक्त समिति ने भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रमुख सुझाव दिए थे :

- (1) निर्वाचन प्रणाली में बुनियादी परिवर्तनों के बारे में सुझाव देने के लिए एक विशेष समिति का गठन हो।
- (2) बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग की स्थापना हो।
- (3) आकाषवाणी पर चुनाव प्रचार के लिए समस्त राजनीतिक दलों को समान मात्रा में समय दिया जाये।

दिनेश गोस्वामी समिति के सुझाव – मई 1990 में दिनेश गोस्वामी समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये।

- (1) बूथ कब्जे की घटनाओं को रोकने के लिए पुनर्मतदान कराया जाये।
- (2) आरक्षित सीटों के लिए भ्रमणशील पद्धति अपनाई जाये।
- (3) निर्वाचन याचिकाओं का शीघ्र निस्तारण किया जाये।
- (4) इलेक्ट्रॉनिक मतदान मशीन का प्रयोग प्रारम्भ किया जाये।
- (5) छः माह में किसी भी रिक्त स्थान के लिए उपचुनाव का प्रावधान अनिवार्य किया जायें।
- (6) मतदाताओं को फोटो चिपके परिचय पत्र दिये जायें।

भारतीय चुनावों में त्रुटियाँ और उनका उपचार

विविध पक्षों द्वारा दिये गये उपर्युक्त सुझावों के आधार पर चुनाव व्यवस्था की गम्भीर त्रुटियों और उन त्रुटियों के उपचार का अध्ययन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है:

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली— भारत में साधारण बहुमत की जो निर्वाचन पद्धति अपनाई गई है उसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से वह उम्मीदवार सफल घोषित होता है जिसे सबसे अधिक मत मिले हैं चाहे विरोध अथवा पराजित उम्मीदवारों को मिलेमतों का योग उसे प्राप्त मतों से कितना ही अधिक क्यों न हो। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस स्थिति को न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। निर्वाचन प्रणाली की इस असंगति को दूर करने के लिए कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव दिया गया है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाना चाहिए। कुछ वर्ष पूर्व ही जनसंघ (अब भाजपा) ने एक समिति नियुक्त की थी जिसने यह सुझाव दिया था कि भारत में चुनाव के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की सूची प्रणाली को अपनाना चाहिए जिससे प्रत्येक राजनीतिक दल को उसे प्राप्त जन समर्थन के आधार पर विधानमण्डल में स्थान प्राप्त हो सके। इससे पूर्व भारतीय साम्यवादी दल द्वारा भी इस प्रकार का सुझाव दिया गया था। :

(2) चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका — चुनावों का एक गम्भीर दोष धन कृकी बढ़ती भूमिका के रूप में उभरा है। हमारे कानून निर्माता इस दोष के प्रति सचेत थे और इसी कारण उनके द्वारा चुनाव में उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा निश्चित की गई। कानून में यह सीमा विद्यमान है परन्तु व्यवहार रूप में राज्यों में इसका कोई 'औचित्य' नहीं है। चुनाव कार्य से परिचित व्यक्ति बताते हैं कि अब तो लोकसभा चुनावों में 70 से 80 लाख रुपये खर्च करना होता है। इसके अन्तर्गत भ्रष्ट उपायों के रूप में खर्च की जाने वाली राशि सम्मिलित नहीं है। सार्वजनिक जीवन में दखल रखने वाले कुछ सूत्र बताते हैं कि कुछ उदाहरणों में लोकसभा उम्मीदवारों ने अपने चुनाव अभियान में 2 से 10 करोड़ रुपये या उससे भी अधिक धन खर्च किया। इसी तरह विधानसभा उम्मीदवारों ने अपने चुनाव

स्वप्रगति की जाँच करें :

1. मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्तों के कार्यकाल का परिचय प्रस्तुत कीजिए
2. निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु दिए गए सुझाव लिखें?
3. चुनाव सुधार के सम्बन्ध में।

दिनेश गोस्वामी समिति के सुझाव दिए गए सुझाव लिखें।

अभियान में एक करोड़ रुपया या उससे भी अधिक धन खर्च किया। यह स्थिति आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र, दोनों में ही अनेक दोषों को जन्म देकर समस्त व्यवस्था को विकृत करने वाली है। इस बुराई को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं—

०(अ) राजनीतिक दलों के आय—व्यय विवरण की विधिवत् जाँच — राजनीतिक दलों के लिए आय व्यय का समस्त विवरण रखना अनिवार्य होना चाहिए और प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए प्रतिवर्ष मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा नियुक्त किये गए लेखा परीक्षक द्वारा जाँच किया हुआ हिसाब प्रकाशित करना अनिवार्य होना चाहिए, जिसमें आय के स्रोत तथा व्यय के मंद पूरे विवरण सहित बताये जायें।

(ब) चुनाव प्रचार की अवधि में कमी करना— वर्तमान समय में नाम वापस लेने की तिथि और चुनाव की तिथि में 20 दिन का अन्तर आवश्यक है। यह अन्तर 15 दिन या 10 दिन कर दिया जाये। इससे चुनाव प्रचार की अवधि कम होगी जिससे चुनाव खर्च में भी कमी होगी।

भारतीय शासन राजनीति

- (स) चुनाव अवधि में सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान पर रोक चुनाव की अवधि (विधानसभा या लोकसभा भंग के दिन से लेकर चुनाव के दिन तक) में दलों या उम्मीदवारों द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक लगा देनी चाहिए।
- (द) चुनाव खर्च पूर्णतः या आंशिक रूप राज्य द्वारा वहन करना— इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख सुझाव यह दिया जा रहा है कि चुनाव खर्च पूर्णतः या आंशिक रूप से राज्य के द्वारा वहन किया जाना चाहिए ।
- (3) चुनावों में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग— चुनाव में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा तथा जाली मतदान एक गम्भीर समस्या है। चुनाव में बाहुबल और हिंसा के प्रयोग की सबसे अधिक प्रवृत्ति बिहार राज्य में है। इसके बाद उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पश्चिमी बंगाल, जम्मू कश्मीर आदि आते हैं। चिन्ताजनक बात तो यह है कि चुनावी हिंसा का दानव आमतौर पर शान्त समझे जाने वाले दक्षिण भारत में भी फैल गया है। इस बुराई को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं।
- (अ) जिन निर्वाचन क्षेत्रों में हिंसा और बल प्रयोग की आशंका हो, वहाँ स्थानीय पुलिस को समस्त निर्वाचन क्षेत्र से दूर रखकर अन्य राज्यों की पुलिस व अर्द्ध सैनिक बल पर्याप्त मात्रा में तैनात किये जायें और उन्हें स्थिति से निपटने के लिए आवश्यक अधिकार दिये जायें।
- (ब) समस्त निर्वाचन क्षेत्र में हथियारों के लाने ले जाने पर न केवल प्रतिबन्ध लगाया जाये वरन् उसे कड़ाई से लागू किया जाये।
- (स) मतदान के दिन से दो दिन पहले से शराब की बिक्री पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दिया जाये ।
- (द) बाहुबल तथा अन्य, भ्रष्ट साधन अपनाये जाने के आधार पर चुनाव याचिकाएँ उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जायें।
- (य) जाली मतदान को रोकने के लिए मतदाताओं को फोटो से युक्त पहचान-पत्र दिये जाने चाहिए। साथ ही जाली मतदान को भ्रष्ट आचरण घोषित कर दिया जाना चाहिए जिसके आधार पर निर्वाचन अवैध घोषित हो सके।
- . (4) निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या – निर्दलीय उम्मीदवारों की बढ़ती संख्या ने चुनाव व्यवस्था में कठिनाइयाँ पैदा कर दी हैं। अधिकांश निर्दलीय उम्मीदवार तो मखौल के रूप में चुनाव लड़ते हैं। कई बार वे प्रमुख उम्मीदवारों से चुनाव मैदान में हटने के लिए धनराशि प्राप्त करने की आशा से उम्मीदवार बन जाते हैं। इस बीमारी को दूर करने लिए यह सुझाव दिया गया है कि जमानत की रकम कम-से-कम दस गुनी बढ़ा देनी चाहिए।
- (5) मतदाताओं की अनुपस्थिति – मतदाताओं की अनुपस्थिति हमारे निर्वाचनों की आम समस्या बन गई है। चुनाव में अधिकांश मतदाता रुचि नहीं लेते। अधिकतर मतदाताओं की अनुपस्थिति से भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है और प्रायः जाली मतदान भी होता रहता है। मतदान के प्रति उदासीनता का उन्मूलन करने के लिए चुनाव में मतदान को अनिवार्य करने का सुझाव दिया गया है। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त एस. पी. सेन वर्मा ने 1968 ई. में कहा था कि चुनावों के प्रति मतदाताओं की यह उदासीनता चुनावों को मजाक बना देती है। अतः भारतीय संसद को अनिवार्य मतदान का नियम बना देना चाहिए और जो मतदाता चुनावों में भाग न ले उन पर कुछ दण्ड लगाया जाये जो 50 रुपये से अधिक न हो। विषय के अनेक

देशों में, जैसे बेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, क्यूबा, आस्ट्रिया आदि में अनिवार्य मतदान की पद्धति मौजूद है। इससे मतदान का प्रतिष्ठित निश्चित ही बढ़ेगा।

(6) शासक दल द्वारा प्रशासन तन्त्र का दुरुपयोग— भारतीय चुनाव व्यवस्था की एक गम्भीर त्रुटि शासक दल और मन्त्रियों द्वारा दलीय लाभों के लिए प्रशासनिक तन्त्र के दुरुपयोग के रूप में सामने आई है। इसको दूर करने के लिए यह सुझाव दिया गया है कि

चुनाव की घोशणा होने से लेकर नवीन सरकार बनने तक केन्द्रीय व राज्य सरकारें केवल कामचलाऊ सरकार के रूप में कार्य करें। उन्हें नीति सम्बन्धी कोई घोशणा करने, किन्हीं वर्गों को अतिरिक्त रियायतें देने या सरकारी कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि में वृद्धि की घोशणा करने का कोई अधिकार नहीं हो !

(7) निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दबाव निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दबावों तथा उनके फलस्वरूप उनके द्वारा भ्रष्टाचार अपनाए जाने के कुछ उदाहरण भी सामने आए हैं। इसके लिए यह सुझाव दिया गया है कि निष्पक्ष निर्वाचन के हित में निर्वाचन के दौरान निर्वाचन अधिकारियों पर किसी भी प्रकार का अनुचित दबाव न डाला जाये ।

(8) चुनाव याचिकाओं पर निर्णय में अत्यधिक विलम्ब — चुनाव याचिका में बहुत अधिक खर्च होता है तथा विवादों का निपटारा भी नहीं हो पाता। विधानसभा या लोकसभा का कार्यकाल समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त व्यक्ति अपने पद पर बना रहता है।

चुनाव याचिकाओं पर भी निर्णय की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कानून बनाकर 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष में चुनाव याचिका पर निर्णय अनिवार्य किया जा सकता है। जब भ्रष्ट साधनों को अपनाकर विजयी बने सदस्यों का निर्वाचन चुनाव के भी बाद ही अवैध ा घोषित हुए देखा जाएगा तब चुनाव में भ्रष्ट साधन अपनाने पर लोग हिचकेंगे।

निष्कर्ष — चुनाव सुधारों के लिए सरकार चिन्तित और प्रयत्नशील है। 19 जनवरी, 1992 को एक अध्यादेश जारी कर संसदीय एवं विधानसभा निर्वाचनों में प्रचार में न्यूनतम

अवधि 20 दिन से घटाकर 14 दिन कर दिया गया है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त श्री. टी. एन. पेशन ने चुनाव की खामियों को दूर करने के लिए कई कदम उठाये थे, जैसे — मतदाताओं को पहचान-पत्र जारी करना चुनावों में फिजूलखर्ची रोकने के लिए पर्यवेक्षक तैनात करना, मतदान के पहले छः दिन ड्राई डे घोषित करना आदि। सरकार ने कानून बनाकर निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया है परन्तु ये सुधार पर्याप्त नहीं हैं। सबसे प्रमुख है— राज्य सरकार के कर्मचारियों को निष्पक्ष बनाना। जब तक राज्य सरकार के कर्मचारी निष्पक्षता से कार्य नहीं करेंगे चुनाव निष्पक्ष हो ही नहीं सकेंगे। बूथ कैप्चरिंग को रोकना अत्यावश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब राज्य पुलिस की सहायता अर्द्ध सैनिक बल तथा अन्य राज्य की पुलिस करे। जब तब निर्वाचन निष्पक्ष नहीं होगा तब तक देश में प्रजातन्त्र सफल नहीं होगा ।

सारांश

चुनाव सुधारों के लिए सरकार चिन्तित और प्रयत्नशील है। 19 जनवरी, 1992 को एक अध्यादेश जारी कर संसदीय एवं विधानसभा निर्वाचनों में प्रचार में न्यूनतम अवधि 20 दिन से घटाकर 14 दिन कर दिया गया है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त श्री. टी. एन. पेशन ने चुनाव की खामियों को दूर करने के लिए कई कदम उठाये थे, जैसे— मतदाताओं को पहचान-पत्र जारी करना, चुनावों में फिजूलखर्ची रोकने के लिए पर्यवेक्षक तैनात करना, मतदान के पहले छः दिन ड्राई डे घोषित करना आदि। सरकार ने कानून बनाकर निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया है परन्तु ये सुधार पर्याप्त नहीं हैं। सबसे प्रमुख है— राज्य सरकार के कर्मचारियों को निष्पक्ष बनाना। जब तक राज्य सरकार के कर्मचारी निष्पक्षता से कार्य

भारतीय शासन राजनीति

नहीं करेंगे चुनाव निष्पक्ष हो ही नहीं सकेंगे। बूथ कैचरिंग को रोकना अत्यावश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब राज्य पुलिस की सहायता अर्द्ध सैनिक बल तथा अन्य राज्य की पुलिस करे। जब तब निर्वाचन निष्पक्ष नहीं होगा तब तक देश में प्रजातन्त्र सफल नहीं होगा। स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

कार्यकाल

मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल 65 वर्ष की आयु तक है। अर्थात् 65 वर्ष की आयु हो जाने पर वे सेवानिवृत्त हो जायेंगे। मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य निर्वाचन आयुक्तों को उनके पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जा सकेगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचन आयुक्तों को पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि ज निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन ऐसा प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों के अलग अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से पारित कराना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जायेगा। उसके बाद राष्ट्रपति निर्वाचन आयुक्त को पदच्युत करने का आदेश जारी करेगा

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं—

- (1) चुनाव आयोग एक बहुसदस्यीय स्थायी आयोग को, जिसमें 3 से 5 तक स्थायी सदस्य हों और चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो ।
- (2) चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाये जिसके सदस्य मुख्य न्यायाधीश प्रधानमंत्री तथा संसद में विपक्ष के नेता हों।
- (3) राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार के आयोग हों तोयक लोकसभा में पारित हो चुका है, जिसके अनुसार संसद को संविधान के किसी भाग में जिनमें मूल अधिकार भी शामिल हैं — संशोधन करने का अधिकार दिया गया है ।

3. दिनेश गोस्वामी समिति के सुझाव — मई, 1990 में दिनेश गोस्वामी समिति ' ने निम्नलिखित सुझाव दिये ।

- (1) बूथ कब्जे की घटनाओं को रोकने के लिए पुर्नमतदान कराया जाये ।
- (2) आरक्षित सीटों के लिए भ्रमणशील पद्धति अपनाई जाये।
- (3) निर्वाचन याचिकाओं का शीघ्र निस्तारण किया जाये।
- (4) इलेक्ट्रॉनिक मतदान मशीन का प्रयोग प्रारम्भ किया जाये।
- (5) छः माह में किसी भी रिक्त स्थान के लिए उपचुनाव का प्रावधान अनिवार्य किया जाये ।
- (6) मतदाताओं को फोटो चिपके परिचय पत्र — दिये जायें।

अभ्यास — प्रश्न

1. निर्वाचन आयोग के गठन की प्रक्रिया, इसके कार्यों तथा भूमिका की समीक्षा कीजिये ।

2. निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन या सुधार के लिये अपने सुझाव दीजिए ।
3. भारतीय चुनावों की त्रुटियों तथा उनके उपचारों का वर्णन कीजिये ।



भारतीय शासन राजनीति

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

राष्ट्रपति पद की अर्हताएँ

राष्ट्रपति का निर्वाचन

राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों

राष्ट्रपति की पदावधि

राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

राष्ट्रपति की शक्तियाँ

राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

अध्ययन के उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात आप

: राष्ट्रपति पद की अर्हताएँ और निर्वाचन के तरीके समझ सकेंगे।

जान सकेंगे कि राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों होता है?

जान सकेंगे कि राष्ट्रपति की पदावधि क्या है?

: राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया जान सकेंगे।

: राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति समझ सकेंगे।

परिचय

राष्ट्रपति भारतीय गणराज्य का है। पद और प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह संस्था देश में सर्वोच्च स्थान रखती है। संविधान में लिखित प्रावधानों के अनुसार राष्ट्रपति संघ का शासन चलाने वाला प्रधान व्यक्ति है। संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और वही इस शक्ति का स्रोत। संविधान के अनुच्छेद 53 में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति संघ की कार्यकारी शक्ति का या तो "स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा संविधान के अनुसार प्रयोग करेगा।" इसी प्रकार "संघ की रक्षा सेनाओं की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति में निहित होगी और इसका प्रयोग कानून द्वारा नियमित होगा।" साथ ही अनुच्छेद 74 में यह भी व्यवस्था है कि "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि परिशद होगी जिसका प्रमुख प्रधानमन्त्री होगा।" अनुच्छेद 75 में यह व्यवस्था है कि "मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।" ये संवैधानिक व्यवस्थाएँ प्रस्थापित करती हैं कि राष्ट्रपति व्यवहार में संवैधानिक अध्यक्ष है और वास्तविक शक्ति मन्त्रिपरिषद् में निहित है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने संविधान-सभा में कहा भी था, "हमारे राष्ट्रपति को कोई वास्तविक शक्ति नहीं दी गयी है, लेकिन हमने उसकी स्थिति और सत्ता मर्यादापूर्ण अवश्य बनाई है। राष्ट्रपति पद के लिए अर्हताएँ अथवा योग्यताएँ

अनुच्छेद 58 के अनुसार वही व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र है जो 1. भारत का नागरिक हो,

2 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,

3. लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो, (अर्थात् उसका नाम किसी संसदीय निर्वाचक मण्डल में मतदाता के रूप में पंजीकृत होना चाहिए), एवं

(4) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन या इन दोनों सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण के अधीन कोई लाभ का पद धारण न किए हो ।

□ पर संविधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि निम्नलिखित व्यक्तियों को राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए कोई लाभ का पद धारण किए हुए नहीं समझा जाएगा

1. राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति,

2. राज्यों के राज्यपाल,

3. संघ या राज्य के मन्त्री,

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि ये लोग राष्ट्रपति निर्वाचित होने की अर्हता रखते हैं ।

अनुच्छेद 59 में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन और न किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य होगा। यदि ऐसे किसी सदन का सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो गया है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तिथि से रिक्त कर दिया है। संविधान में यह भी उल्लेख है कि राष्ट्रपति अन्य लाभ का पद धारण नहीं कर सकता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन

संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बंधित अनुच्छेद 54 और 55 हैं। अनुच्छेद 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक मण्डल द्वारा किये जाने की व्यवस्था है।

संविधानसभा में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि 'राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ साथ राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों को सम्मिलित कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो और संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तविक रूप में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।'

संसद और राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव एक विषेश मत पद्धति के अनुसार होता है। इसे 'एकल संक्रमणीय मत-पद्धति' (एकल मत-पद्धति) कहा जाता है। चुनाव में मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा होता है। चुनाव में सफलता प्राप्त करने हेतु उम्मीदवार के लिए 'न्यूनतम कोटा' प्राप्त करना आवश्यकता है। 'न्यूनतम कोटा निर्धारित करने के लिए जो सूत्र अपनाया जाता है, वह इस प्रकार है

न्यूनतम कोटा

दिए गए मतों की संख्या

भारतीय शासन राजनीति

1. निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या .1

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए की गई हैं कि स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने पर ही किसी उम्मीदवार को राष्ट्रपति का पद प्राप्त हो सकें। ऐसा करने पर ही वह अपने पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सकता हैं।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की एक मुख्य बात यह है कि निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य समान नहीं होता है। निर्वाचक मण्डल के सदस्यों में से प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या उस अनुपात से निश्चित की जाती है, जितनी संख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण प्रत्येक सदस्य की मत – संख्या समान न होकर भिन्न-भिन्न होती है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने वाले सदस्यों के मतों की संख्या विभाजित करने के लिए एक फार्मूला बनाया गया है। तदनुसार, निर्वाचक मण्डल का प्रत्येक सदस्य कितने मत देने का अधिकार है, यह इस प्रकार ज्ञात ही किया जाता है

(क) राज्य—विधानसभा के निर्वाचित प्रत्येक सदस्य की मत संख्या राज्य की कुल जनसंख्या को विधानसभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग देते हैं, जो भागफल आता है। उसको पुनः 1000 द्वारा भाग दिया जाता है। आधे से अधिक का एक माना जाता है और उसे भजनफल में जोड़ा जाता है। इस प्रकार जो संख्या प्राप्त होती है वही राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए विधानसभा के सदस्य की मत संख्या होती है। सरल फार्मूले के रूप में इसे यों समझा जा सकता है

राज्य की कुल जनसंख्या

राज्य – विधानसभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की जनसंख्या 12 –1000

उदाहरण के लिये मान लीजिए किसी राज्य की जनसंख्या 5 करोड़ है और विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 430 है तो उसके एक सदस्य के मतों की संख्या होगी –

50,000,000 430

1000 = 116.278 अर्थात् 117

(ख) संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत संख्या – राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों की कुल मत संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है और उसका जो भजनफल आता है उसमें आधे से अधिक मान को एक माना जाता है तथा अन्य मानों की उपेक्षा कर दी जाती है। सरल फार्मूले के रूप में इसे इस प्रकार समझा जा सकता है :

राज्य विधानसभाओं के सभी सदस्यों के कुल मतों की संख्या

संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या

उदाहरण के तौर पर मान लीजिए सब राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों की मत संख्या का योग 3,00,000 है और भारतीय संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 700 है तो संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य

को

3,00,000

700

मत अर्थात् 428.5 यानि 429 मत देने का अधिकार होगा।

मतों के मूल्य के आधार पर मतों की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता मतों की गणना में कोई उम्मीदवार जीत के लिए आवश्यक 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त नहीं कर पाता तो द्वितीय वरीयता के मतों की गणना कर उसके आधार पर चुनाव का फैसला किया जाता है। भारत में ऐसी स्थिति अगस्त, 1969 में चौथे राष्ट्रपति के चुनाव में उत्पन्न हुई थी। इस चुनाव में निर्दलीय प्रत्याषी श्री. वी. वी. गिरि को 4,20,077 और कांग्रेस के प्रत्याषी श्री संजीव रेड्डी को 4,05,447 मत प्राप्त हुए। अगस्त 1974 में स्वर्गीय श्री फखरुद्दीन. अली अहमद निर्वाचक मण्डल के 30 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त कर देश के पाँचवें राष्ट्रपति बने। 21 जुलाई 1977 को श्री नीलम संजीव रेड्डी सर्वसम्मति से भारत के छठे राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उनका निर्विरोध निर्वाचन राष्ट्रपति पद की गरिमा को बढ़ाने वाला था। सातवें राष्ट्रपति के रूप में कांग्रेस के प्रत्याषी ज्ञानी जैलसिंह निर्वाचित घोषित किए गए। उन्होंने विपक्षी दलों के प्रत्याषी एच. आर. खन्ना को पराजित किया। ज्ञानी जैलसिंह के राष्ट्रपति पद से सेवानिवृत्त होने के पश्चात जुलाई, 1987 में राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन हुआ। इस निर्वाचन में मुख्य रूप से तीन उम्मीदवार मैदान में थे। कांग्रेस (आई) के श्री रामास्वामी वेंकटरमण, विपक्षी दलों के वी. आर. कृष्ण अय्यर और निर्दलीय प्रत्याषी के रूप में मिथिलेश कुमार सिन्हा। श्री वेंकटरमण भारी बहुमत से विजयी हुए। उन्होंने 25 जुलाई, 1987 को अपने पद की शपथ ली।

राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों ?

संविधान सभा ने यह महसूस किया कि जब राष्ट्रपति को औपचारिक प्रधान मात्र बनाना है तो फिर उसका प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचन व्यर्थ का परिश्रम होगा। मन्त्रिमण्डलीय

पासन— व्यवस्था में राष्ट्रपति संवैधानिक मुखिया होता है, अतः भारत में अमेरिका की भाँति सभी निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई, पर साथ ही यह भी प्रयत्न किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जहाँ तक हो सके जनता पर ही आधारित रहे। भारत में राष्ट्रपति की वर्तमान निर्वाचन — व्यवस्था से ये दोनों ही उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। पुनः राष्ट्रपति के निर्वाचन में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के साथ ही राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों को निर्वाचक मण्डल में लिए जाने का एक विशेष महत्व है। यदि राष्ट्राध्यक्ष के निर्वाचन में संसद के दोनों ही सदन भाग लेते तो बहुसंख्यक दल द्वारा अपने प्रत्याषी का सरलता से निर्वाचन सदैव सम्भव रहता। किन्तु राज्यों की विधानसभाओं द्वारा निर्वाचन में भाग लेने से स्थिति बदल गई है। यह पूर्ण सम्भव है कि संसद में जो बहुमत प्राप्त दल है उसे अधिकांश राज्यों में बहुमत न मिला हो। ऐसी स्थिति में संसद में बहुमत रखने वाला दल राज्य विधानसभाओं के समर्थन के बिना अकेला ही अपने प्रत्याषी को

राष्ट्रपति निर्वाचित करा सकता है।

सन् 1974 का राष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम — इस अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति-पद के लिए चुनाव लड़ने वाले प्रत्याषी के लिए निर्वाचक मण्डल के 20 सदस्यों का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है, अर्थात् कम से कम 10 सदस्य उसका नाम प्रस्तावित करें और 10 सदस्य उसका अनुसमर्थन करें। साथ ही उसे जमानत राशि के रूप में 2,500 रुपये भी जमा कराने होंगे। निर्वाचन सम्बन्धी विवाद

अनुच्छेद 71 यह उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति या उप राष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या सम्बन्धित सभी शंकाओं और विवादों की 'जाँच' और 'विनिश्चय' उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। किन्तु यदि राष्ट्रपति या उप राष्ट्रपति का निर्वाचन न्यायालय द्वारा शून्य घोषित कर दिया जाता है तो उनके द्वारा अपने पद की शक्तियों के प्रयोग में किए गए कार्य अमान्य नहीं होंगे। इस संविधान के अधीन रहते हुए संसद को विधि द्वारा राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित किसी विषय का विनियमन करने का अधिकार प्राप्त है।

भारतीय शासन राजनीति

संविधान के अनुच्छेद 56 (1) में उल्लेख है कि राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा, परन्तु –

(क) राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) संविधान का अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 61 में उपबन्धित रीति से लाए गए महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकेगा।

(ग) राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पदग्रहण तक पद धारण किए रहेगा। □

अनुच्छेद 56 (2) में राष्ट्रपति अपने त्यागपत्र की सूचना अविलम्ब लोकसभा के अध यक्ष को देगा।

उत्तराधिकार

अनुच्छेद 62 में उत्तराधिकार की व्यवस्था की गई है। जब राष्ट्रपति का पद उसकी मृत्यु अथवा महाभियोग से खाली हो जाए तो उप राष्ट्रपति उस पद को धारण करेगा, लेकिन

—अगर उपराष्ट्रपति भी नहीं है तो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश उस पद को धारण – करेगा। सन् 1969 में जस्टिस एम. हिदायतुल्ला ने ऐसा ही किया था।

पुनः चुने जाने की पात्रता

संविधान में इस बात की कोई कानूनी सीमा नहीं लगाई गई है कि कोई व्यक्ति लगातार या अन्यथा कितनी बार राष्ट्रपति चुना जा सकता है। इसके विपरीत, अमेरिका के संविधान में 22वें संविधान संशोधन द्वारा यह स्पष्ट व्यवस्था कर दी गई है कि एक व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद के लिए नहीं चुना जा सकता है। लेकिन भारतीय संविधान में इस सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। स्वतन्त्र भारत के इतिहास में अभी तक तीसरी बार कोई व्यक्ति राष्ट्रपति नहीं बना है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सन् 1952 और 1957 में दो अवधियों के लिए राष्ट्रपति चुने गए थे। इसके बाद से आज तक कोई भी व्यक्ति दूसरी बार के लिए भी राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं हुआ। अतः आशा की जानी चाहिए कि यह बात एक स्वस्थ परम्परा का रूप ले लेगी।

राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

संविधान के अनुच्छेद 61 में राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया का उल्लेख है। तदनुसार, संविधान के अतिक्रमण के लिए राष्ट्रपति पर जब महाभियोग चलाना हो, तब संसद का कोई संदन दोशारोपण करेगा। महाभियोग सम्बन्धी प्रस्ताव पर उस संदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए और प्रस्ताव का लिखित नोटिस कम से कम 14 दिन पूर्व प्राप्त होना चाहिए। यदि यह प्रस्ताव संदन के कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाए तो इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया गया है। जब संसद के किसी संदन द्वारा इस प्रकार महाभियोग लगाया जा चुके तब दूसरा संदन उस महाभियोग का अनुसन्धान करेगा या कराएगा और इस अनुसन्धान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राष्ट्रपति को अधिकार होगा। यदि जाँच अथवा अनुसन्धान के फलस्वरूप राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया दोशारोपण सिद्ध हो जाए और अनुसन्धान करने वाला संदन भी अपने कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो इस प्रस्ताव का प्रभाव यह होगा कि उसके पारित होने की तिथि से राष्ट्रपति पदच्युत समझा जाएगा।

उल्लेखनीय है कि अमेरिका में भी राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है, लेकिन भारतीय और अमेरिकन संविधानों में इस सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ

भारत के राष्ट्रपति पर महाभियोग सविधान के उल्लंघन या अतिक्रमण के लिए लगाया जा सकता है वहीं अमेरिका के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'राजद्रोह', 'घूस लेने' तथा 'अपराध' करने के आधार पर लगाया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर आज तक किसी भी भारतीय राष्ट्रपति को आज तक महाभियोग का सामना नहीं करना पड़ा है।

राष्ट्रपति की उन्मुक्तियाँ या विषेशाधिकार

राष्ट्रपति को कुछ उन्मुक्तियाँ (पुउनदपजपमे) या विषेशाधिकार प्राप्त हैं —

1. अपने पद के अधिकारों और शक्तियों के प्रयोग तथा अपने कर्तव्यों के पालन में राष्ट्रपति जो कोई भी कार्य करे, उसके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में

मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

2. भारत संघ के सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम पर होते हैं, किन्तु उसके कार्यों के लिए वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है।

3. जब तक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर आसीन है तब तक उसके विरुद्ध किसी दीवानी या फौजदारी न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता, उसकी गिरफ्तारी के लिए कोई वारण्ट जारी नहीं किया जा सकता और न ही उसे कैद किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति का उस पर किसी प्रकार का दावा (ब्संपउ) हो तो 2 महीने का नोटिस देने के बाद ही किसी प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है।

राष्ट्रपति द्वारा पद की शपथ लेना

अनुच्छेद 60 में लिखा है कि— “प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन करता है, अपने पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के प्राप्य वरिष्ठ न्यायाधीष के समक्ष निम्नलिखित रूप में शपथ लेगा या प्रतिज्ञापन करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा,”

ईश्वर की शपथ लेता हूँ। सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञापन करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्यपालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।”

राष्ट्रपति का वेतन और भत्ता

राष्ट्रपति को बिना किराया दिए अपने पदावासों के उपयोग का अधिकार है और वह उन उपलब्धियों, भत्तों और विषेशाधिकारों का भी अधिकारी होगा जो संसद विधि द्वारा निरित करे और जब तक संसद कोई अन्य विधि पारित नहीं करती है उसके वेतन और भत्ते वही होंगे जो संविधान की द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं। राष्ट्रपति का वेतन 1,50,000 रुपये प्रति माह तथा सेवा निवर्षति के पेंशन (प्रेसीडेंट्स पेन्शन ऐक्ट, 1951) के अनुसार है। राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ और उसके भत्ते उसके कार्यकाल में घटाये नहीं जा सकते हैं

□ (अनुच्छेद 59) । लेकिन 1 नवम्बर, 1985 में भारतीय संसद ने 55 वाँ संविधान संशोधन पारित करके राष्ट्रपति के वेतन में भारी वृद्धि की है। अब उसका वेतन 1,50,000 रु. प्रति माह कर दिया गया है। उसकी पेन्शन में भी वार्षिक वृद्धि कर दी गई है।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को बड़ी ही व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राष्ट्रपति की संविधान— प्रदत्त विस्तृत और प्रभावशाली शक्तियों को मोटे रूप में चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है— (अ) कार्यपालिका शक्तियाँ, (ब) विधायी शक्तियाँ, (स) वित्तीय

भारतीय शासन राजनीति

शक्तियाँ एवं (द) संकटकालीन शक्तियाँ । यहाँ इन शक्तियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) कार्यपालिका शक्तियाँ

1संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है, जिसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। भारतीय शासन प्रणाली यदि नितान्त संसदीय नहीं है तो वह नितान्त राष्ट्रपतीय भी नहीं है क्योंकि व्यवहारतः शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति नाम मात्र का प्रधान है और शासन की वास्तविक कार्यकारी शक्तियाँ मन्त्रिमण्डल में निहित हैं जो सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हैं। राष्ट्रपति की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों के सन्दर्भ में हमें इस व्यावहारिक पहलू को सदैव ही ध्यान में रखना होगा।

राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के अन्तर्गत प्रशासकीय, राजनीतिक, सैनिक, और न्यायिक अथवा अर्द्ध-न्यायिक सभी प्रकार की शक्तियाँ शामिल हैं। वह प्रशासन का औपचारिक अध्यक्ष है और सभी संघीय अधिकारी, चाहे वे सैनिक सेवा के हो या असैनिक सेवा के, उसके अधीन हैं। उसे संघीय अधिकारियों को नियुक्त करने की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं। जिन अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है उनमें से मुख्य ये हैं— प्र आनमन्त्री तथा केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् के सदस्य, महाधिवक्ता, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक: उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, राज्यों के राज्यपाल, राजदूत एवं अन्य राजनयिक अधिकारी, संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्य और अनुसूचित वर्गों के लिए विशेष अधिकारी आदि। राष्ट्रपति विभिन्न आयोगों को भी नियुक्त करता है। जैसे वित्त आयोग, योजना आयोग, निर्वाचन आयोग, भाषा आयोग आदि। राष्ट्रपति को ही अपने मन्त्रियों, राज्यपालों, महाधिवक्ता, उच्च सैनिक अधिकारियों आदि को पदच्युत करने का अधिकार है। वह प्रतिरक्षा सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति हैं और वह सेना के तीनों प्रधानों की नियुक्ति करता है। राज्य का अध्यक्ष होने के नाते वह सभी प्रकार के राजनयिक विषेशाधि कारों का उपभोग कराता है। देश के राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति उसी के द्वारा की जाती है और विदेशी राजदूत अपने पद के प्रमाण-पत्र उसी के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। सभी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ या समझौते उसी के नाम से सम्पादित किए जाते हैं। वही न्याय और सम्मान का स्रोत है। उसे अपराधियों को क्षमा करने, दिए गये दण्ड को कम करने, दण्ड में छूट देने, दण्ड रोकने आदि का अधिकार है। राष्ट्रपति ही भारतीय नागरिकों को भारत रत्न, पद्मविभूषण, पद्मश्री आदि उपाधियों के माध्यम से सम्मानित करता है।

“यहाँ यह पुनः दोहराना होगा कि भारत में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था है, अतः राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल की सलाह और सहायता से करता है। राष्ट्रपति मनचाहे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त नहीं कर सकता क्योंकि दलगत राजनीति की माँग है कि वह लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करे। इस सम्बन्ध में संविधान की भी व्यवस्था है कि प्रधानमन्त्री और उसके मन्त्रिमण्डल को लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार, प्रधानमन्त्री को नियुक्त करने की राष्ट्रपतीय शक्ति संवैधानिक औपचारिकता मात्र है। पर यह औपचारिक शक्ति तब बहुत कुछ व्यावहारिक बन जाती है जब लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो। ऐसे अवसर पर राष्ट्रपति को अपने विवेक को प्रयोग में लाने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। 22 जुलाई, 1979 को मोरारजी देसाई सरकार के पतन के बाद चौधरी चरणसिंह को प्रधानमन्त्री नियुक्त करने में राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने अपने स्वविवेक का ही प्रयोग किया। अनुच्छेद 78 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री से मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से अवगत होने और सूचना माँगने का भी अधिकार प्राप्त है। वह केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए उप राज्यपालों और प्रशासकों की भी नियुक्ति कर सकता है। वह अनेक प्रकार के नियमों का भी निर्माण कर सकता है।

(ब) विधायी शक्तियाँ संविधान के अनुच्छेद 79 के अनुसार राष्ट्रपति संसद का एक अभिन्न अंग है। संघ की विधायी शक्तियों को इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति और संसद के दोनों सदनों में निहित माना गया है। राष्ट्रपति विधायी प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता है। राष्ट्रपति को संसद का अधिवेशन बुलाने, उसे स्थगित करने, उसमें भाषण देने और उसे सन्देश भेजने का अधिकार है। वह राज्यसभा में 12 सदस्यों को मनोनीत करता है, जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा में से किसी क्षेत्र में विषिष्ट और व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए। इस व्यवस्था की श्रद्धावली बड़ी लचीली है, अतः मनोनीत सदस्यों के चयन में कार्यपालिका के पास अपने विवेक का प्रयोग करने की काफी छूट है। राष्ट्रपति को लोकसभा के भी कुछ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है। वह अधिक से अधिक दो एंग्लो-इण्डियन समुदाय के सदस्यों को मनोनीत कर सकता है, यदि उसे विश्वास हो जाए कि इस सम्प्रदाय को सदन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है।

संसद द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। वह विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे अधिनियम का रूप दे सकता है। वह संविधान संशोधन विधेयक के अतिरिक्त किसी भी विधेयक पर स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता है अथवा विधेयक को अपने सन्देश या संशोधन सहित पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यदि ऐसा विधेयक संसद द्वारा पुनः पारित होकर स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत हो जाए तो राष्ट्रपति को उस पर स्वीकृति देनी ही पड़ती है। इस प्रकार राष्ट्रपति को निलम्बन निशेध अधिकार प्राप्त होता है, पूर्ण निशेधाधिकार नहीं। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना संसद में प्रस्तावित ही नहीं किए जा सकते, जैसे वित्त विधेयक, किसी राज्य की सीमा अथवा नाम को बदलने से सम्बन्धित विधेयक, व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित विधेयक। संविधान के अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत, संसद के विश्रान्तिकाल में राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। इन अध्यादेशों का वही बल और प्रभाव होता है जो संसद के अधिनियम का होता है। किन्तु ऐसे प्रत्येक अध्यादेश को संसद के सत्र के प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह के भीतर ही संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है और ऐसा न करने पर अथवा संसद द्वारा उसे 6 सप्ताह की अवधि के भीतर ही अस्वीकृत कर देने पर अध्यादेश अवैध हो जाता है। राष्ट्रपति अपने अध्यादेश को अपनी इच्छानुसार कभी भी वापस ले सकता है।

अध्यादेश कार्यपालिका को आकस्मिक परिस्थितियों से निपटने की शक्ति प्रदान करता है। इसमें न्यायालय द्वारा किसी विधि के अवैध घोषित किए जाने से उत्पन्न परिस्थिति भी शामिल है, जिसके निपटारे के लिए अध्यादेश जारी किया जा सकता है। अध्यादेश द्वारा कर—विधियों में संशोधन या परिवर्तन भी किया जा सकता है क्योंकि अध्यादेश जारी करने की राष्ट्रपति की शक्ति संसद की सह-विस्तारी है।

विषय की किसी भी लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका को ऐसी शक्ति नहीं प्रदान की गई है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 123 अभिव्यक्त रूप से राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति के बारे में काफी वाद-विवाद हुआ था और यह कहा गया था कि कार्यपालिका को ऐसी शक्ति देना अलोकतान्त्रिक है और वह उसका दुरुपयोग कर सकती है। कार्यपालिका को इस शक्ति का दिया जाना इस आधार पर न्यायोचित बतलाया गया कि गम्भीर परिस्थितियों में शीघ्रनिर्णय कार्यवाही करने के लिए राष्ट्रपति में ऐसी शक्ति का होना आवश्यक है। ऐसी परिस्थितियों की कल्पना करना असम्भव नहीं है जबकि कार्यवाही में विलम्ब होने पर देश को काफी क्षति हो सकती है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रपति अध्यादेश जारी करने की अपनी शक्ति का प्रयोग मन्त्रिपरिषद् की सलाह पर

करता है। राष्ट्रपति का व्यक्तिगत समाधान मन्त्रिपरिषद् का समाधान होता है। इसके बावजूद भी अध्यादेश जारी करने की शक्ति का दुरुपयोग किया जाना सम्भव है। इसको प्रबुद्ध जनमत द्वारा ही रोका जा सकता है।

भारतीय शासन राजनीति

राष्ट्रपति को अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, मिनिकाय और अमीनदीवी द्वीप समूह आदि संघीय क्षेत्रों की शान्ति, विकास और सुप्रशासन के लिए नियम बनाने का अधिकार है।

(स) वित्तीय शक्तियाँ

संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। वित्त विधेयक संसद के समक्ष केवल उसकी सिफारिश पर ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उसे आकस्मिक निधि पर भी नियन्त्रण प्राप्त है, क्योंकि वह किसी भी ऐसे व्यय के लिए इस निधि से धनराशि निकालने का अधिकार दे सकता है जिसके सम्बन्ध में संसद की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हुई हो, तथापि इस पर कालान्तर में संसद की स्वीकृति ली जानी आवश्यक है। राष्ट्रपति समय समय पर वित्त आयोग नियुक्त करता है जिसकी सिफारिशों के आधार पर आयकर का राज्यों में विभाजन किया जाता है। राष्ट्रपति ही यह निश्चित करता है कि पटसन के निर्यात करों की आय में से कुछ राज्यों (पश्चिमी बंगाल, बिहार और उड़ीसा) को बदले में क्या धनराशि मिलनी चाहिए।

(द) न्यायिक शक्तियाँ

राष्ट्रपति को न्यायिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। वह देश के सर्वोच्च न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। उसे क्षमादान करने की भी शक्ति प्राप्त है। वह अपराधियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने या माफ करने का अधिकार रखता है। वह संसद की स्वीकृति से देश में आम माफी की घोषणा भी कर सकता है।

राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियाँ

जर्मनी के वाइमर संविधान की भाँति भारतीय संविधान ने भी संकटकाल में राष्ट्रपति को अधिकार प्रदान किए हैं, जिन्हें राष्ट्रपति की आपात्कालीन अथवा संकटकालीन शक्तियाँ कहा जाता है। संविधान में तीन प्रकार के संकटों का वर्णन है और तदनुसार राष्ट्रपति तीन प्रकार की आपात घोषणाएँ कर सकता है—

1. युद्ध या बाह्य आक्रमण या 'सषस्त्र विद्रोह' से उत्पन्न संकट (अनुच्छेद 352), 2. राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने से उत्पन्न संकट (अनुच्छेद 356) एवम् 3. वित्तीय संकट (अनुच्छेद 360)।

राष्ट्रपति के अधिकारों और कार्यों की व्यवस्था का मूल्यांकन

□ हम देख चुके हैं, कि राष्ट्रपति के कार्य और अधिकार दो प्रकार के हैं— प्रथम, वे जिनका सम्बन्ध सामान्यकालीन परिस्थिति से है, एवम् द्वितीय वे जिनका सम्बन्ध संकटकालीन या आपात्कालीन परिस्थिति से है।

सामान्यकालीन कार्यों और अधिकारों का मूल्यांकन

राष्ट्रपति की शक्तियों अथवा कार्यों व अधिकारों की सामान्यकालीन व्यवस्था पर दृष्टिपात करने पर हमारा ध्यान संविधान के दो अनुच्छेदों की ओर जाता है। अनुच्छेद 53

1. भारतीय राष्ट्रपति का चुनाव 'अप्रत्यक्ष क्यों होता है?

2. राष्ट्रपति की पदावधि स्पष्ट करें।

में कहा गया है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा उसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के माध्यम से करेगा। दूसरा अनुच्छेद 74 है जिसका मूल पाठ यह था कि 'राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में

सहायता एवं परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रि परिशद होगी”, किन्तु जिसका पाठ संविधान के 42वें संशोधन के बाद यह हो गया कि “राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रि परिशद होगी और वह उसके परामर्श के अनुसार कार्य करेगा” तथा 44वें संशोधन के द्वारा जिसका पाठ अब यह हो गया है कि राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता व परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रिपरिशद होगी और वह उसके परामर्श के अनुसार कार्य करेगा। परन्तु राष्ट्रपति मन्त्रिपरिशद से सामान्यतः या अन्यथा, अपनी ऐसी मन्त्रणा पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकता है तथा फिर राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी हुई मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा।”

उपर्युक्त दोनों उपबन्धों के आधार पर ही राष्ट्रपति के कार्यों एवं अधिकारों की संवैधानिक व्यवस्था का मूल्यांकन किया जाता रहा है। जहाँ तक संविधान की भूल व्यवस्था का प्रश्न है, उसकी आलोचना इस आधार पर की जाती रही है कि उस व्यवस्था द्वारा राष्ट्रपति इस बात पर बाध्य नहीं था कि वह जनता के प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल की इच्छा पर ही अपने अधिकारों का प्रयोग करे। संविधान के 53वें अनुच्छेद की व्यवस्था के अन्तर्गत वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग अपने अधीन कर्मचारियों के माध्यम से न करके स्वयं भी कर सकता था। अतः यदि राष्ट्रपति स्वेच्छा से इन अधिकारों का प्रयोग करने लगता, तो वह तानाशाह बनकर जनतन्त्र के लिए चुनौती उपस्थित कर सकता था। ऐसी स्थिति में यह कहा जाता कि संविधान में इस बात की स्पष्ट व्यवस्था कर दी जानी चाहिए कि राष्ट्रपति अपने कार्यों के करने में मन्त्रिपरिशद के परामर्श पर चलने के लिए बाध्य हो। संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा यही किया गया और संविधान के 74वें अनुच्छेद को संशोधित करके यह प्रावधान कर दिया गया कि “राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता व परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रिपरिशद होगी तथा वह उसके परामर्श पर चलेगा।” इससे अब यह स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्रपति को अपने कार्यों के सम्पादन में मन्त्रिपरिशद की सहायता व उसके परामर्श पर निर्भर होना पड़ेगा। परन्तु इस व्यवस्था का भी एक दोषपूर्ण पक्ष है तथा वह यह है कि ऐसी दशा में प्रत्येक अवस्था में मन्त्रिपरिशद का परामर्श मानने पर बाध्य होने के कारण राष्ट्रपति की स्थिति एक रबर की मोहर की होगी तथा संविधान के पालन, संरक्षण एवं प्रतिरक्षण तथा भारत की जनता की सेवा सम्बन्धी अपने उस कर्तव्य के पालन के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि से वह कुछ भी करने में सक्षम नहीं होगा जिसके लिए राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने से पहले वह पथ लेता है। इस आलोचना को बिल्कुल महत्वहीन नहीं कहा जा सकता तथा राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री व मन्त्रिपरिशद के हाथों की रबर की मुहर बना देने को भी पूर्णतः उचित नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इस स्थिति का निराकरण करने का प्रयत्न अब संविधान के 44वें संशोधन द्वारा संविधान के 74वें अनुच्छेद में यह व्यवस्था की गई है कि “राष्ट्रपति मन्त्रि परिशद से सामान्यतः या अन्यथा अपनी ऐसी मन्त्रणा पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकता है तथा फिर राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद दी हुई मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा।” अब वर्तमान स्थिति यह है कि सामान्यतः राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिशद की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करना है, यद्यपि राष्ट्रपति के चाहने पर मन्त्रिपरिशद अपनी मन्त्रणा पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य है तथा राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद मन्त्रिपरिशद द्वारा दी गई मन्त्रणा को मानने के लिए बाध्य है। 44वें

संविधान संशोधन का मन्तव्य भी लगभग 42वें संशोधन जैसा ही है। इन संविधान संशोधनों साथ ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिशद का निर्णय मानने के लिए बाध्य है।

आपात्कालीन कार्यों एवं अधिकारों का मूल्यांकन

:भारतीय संविधान में राष्ट्रपति की आपात् कालीन शक्तियों की आलोचना संविधान निर्माण के समय से अब तक होती आ रही है। इस व्यवस्था की आलोचना मुख्यतः निम्नलिखित आधारों पर की जाती रही है।

भारतीय शासन राजनीति

1. राष्ट्रपति के अधिनायक होने की सम्भावना,
2. प्रधानमन्त्री तथा उसके दल के तानाशाह बनने की सम्भावना,
3. संविधान के संघात्मक स्वरूप की समाप्ति –
4. केन्द्र में सत्तारूढ़ दल द्वारा प्रतिपक्षी दलों की सरकारों के दमन की सम्भावना,
5. राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता की समाप्ति एवम्
6. मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित संवैधानिक उपचार की व्यवस्था को निरस्त किए जाने की संभावना ।

यद्यपि उपर्युक्त आधारों पर राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की आलोचनाएँ.

बहुत कुछ उचित प्रतीत होती हैं। लेकिन यदि हम इन शक्तियों के मूल उद्देश्य को ध्यान में रखकर उनकी व्यावहारिकता पर विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ये शक्तियाँ निरपेक्ष रूप से आलोच्य नहीं हैं। आपातकालीन उपबन्ध केवल विशेष परिस्थितियों के लिए हैं और इनमें भी ऐसे रक्षा कवच मौजूद हैं कि राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री स्थाई रूप से अधिनायक नहीं बन सकते। यदि कार्यपालिका अपनी आपातकालीन शक्तियों का दुरुपयोग करती है तो संसद उसे सबक सिखा सकती है और यदि संसद भी शक्तियों के दुरुपयोग में कार्यपालिका को सहयोग देती है तो आम चुनाव में जनता उसे सबक सिखा सकती है। इसके अतिरिक्त, आपातकाल में नागरिकों के अधिकारों की अपेक्षा देश की सुरक्षा का महत्व अधिक होता है। देश में वित्तीय संकट की स्थिति भी भयंकर ही होती है और यदि इससे निपटने के लिए आपातकालीन का प्रावधान किया गया है तो वह हमारे संविधान निर्माताओं की दूरदर्शिता का परिचायक ही है। यहाँ हम केवल टी. टी. कृष्णामाचारी के इस वक्तव्य का समर्थन करना चाहेंगे जो उन्होंने संविधान-सभा में दिया था – “हमें इन धाराओं को चाहें वे किसी भी प्रकार की हों, संविधान में स्थान देना ही होगा। सम्भवतया उसके बिना हमारे संविधान के निर्माण करने के प्रयत्न असफल हो जाएँगे। वास्तव में एक महत्वाकाँक्षी राष्ट्रपति संकटकालीन अधिकारों का प्रयोग करके अपनी स्थिति को अल्पकाल के लिए भले ही शक्तिशाली बना ले लेकिन वह इन अधिकारों के बल पर स्वेच्छाचारी नहीं बन सकता। उसके इन अधिकारों के प्रयोग को कुचलने के लिए पर्याप्त षस्त्र मौजूद हैं। साधारणतया स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को वैधानिक प्रधान की तरह आचरण करना पड़ेगा।”

राष्ट्रपति के अधिकार (जुलाई-अगस्त, 1979 की घटनाओं के प्रकाश में)

जुलाई, 1979 में प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के त्याग पत्र के बाद 22 अगस्त, 1979 को लोकसभा के विघटन और चौधरी चरण सिंह को कामचलाऊ प्रधानमन्त्री बने रहने तक जो घटनाएँ घटित हुई, उनके प्रकाश में राष्ट्रपति के अधिकारों और उसकी वास्तविक स्थिति पर बहुत कुछ कहा गया। विभिन्न संविधान विशेषज्ञों और विधिवेत्ताओं ने अपना अपना मत

व्यक्त किया। जुलाई और अगस्त, 1979 में कुछ अवसरों पर राष्ट्रपति को स्व विवेक के प्रयोग का पूर्ण अवसर मिला। राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने जिस प्रकार अपने स्व-विवेक के अधिकार का प्रयोग किया, ऐसे राष्ट्रपति पद पर्याप्त विवाद का विषय बन गया। भारतीय संविधान की अनेक व्यवस्थाओं के मौन होने के कारण जुलाई, 1979 में केन्द्र में राजनीतिक घटनाचक्र बड़ी तेजी के साथ घटित हुआ। तत्कालीन कांग्रेस के नेता श्री यशवन्तराव चव्हाण ने देसाई – मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव रखा। इसी बीच श्री राजनारायण के नेतृत्व में जनता पार्टी के अनेक संसद सदस्यों ने जनता पार्टी छोड़कर जनता (एस) पार्टी की स्थापना की। इससे केन्द्र में जनता सरकार का पतन अवश्यम्भावी हो गया। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्रपति के अधिकारों के बारे में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उद्विग्न हुए?

चौधरी चरणसिंह की जुलाई, 1979 में प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्ति

15 जुलाई, 1979 को प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार 28 महीने पुरानी जनता पार्टी की सरकार का पतन हो गया। राष्ट्रपति द्वारा वैकल्पिक व्यवस्था (नई सरकार के गठन) तक श्री देसाई से अपने पद पर बने रहने का अनुरोध किया गया।

जनता पार्टी (एस) के नेता चौधरी चरणसिंह और मोरारजी देसाई दोनों ने ही राष्ट्रपति के समक्ष अपने-अपने बहुमत का दावा किया। देसाई का कहना था कि उन्होंने प्रधानमन्त्री के रूप में त्यागपत्र दे दिया है, पर जनता संसदीय दल के वे अभी भी नेता हैं और बहुमत का विष्वास उन्हें प्राप्त है, अतः राष्ट्रपति द्वारा उन्हें पुनः सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। यह विवाद पैदा हो गया कि क्या ऐसे व्यक्ति को जो लोकसभा के अविष्वास प्रस्ताव का सामना किए बिना ही प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे चुका हो, पुनः सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता है?

राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने दोनों ही पक्षों से अपने-अपने समर्थकों की सूचियाँ माँगी। दोनों सूचियों में समर्थकों की संख्या एक समान 279 थी। अतः राष्ट्रपति ने सूचियों की जाँच-पड़ताल कराई। इस दौरान कुछ संविधान विशेषज्ञों द्वारा कहा गया कि यदि श्री देसाई या श्री चौधरी केन्द्र में स्थिर वैकल्पिक सरकार नहीं बना पाते तो राष्ट्रपति के सामने फिर यह रास्ता रह जाता है कि वह सम्प्रभु लोकसभा से भत और मार्गदर्शन प्राप्त करें। राष्ट्रपति लोकसभा के अध्यक्ष के मार्फत संदेश भेजकर लोकसभा की राय माँग सकते हैं। इसके बाद सदन किसी एक सदस्य को प्रधानमन्त्री बनाने की सिफारिश कर सकता है। यह सिफारिश सर्वसम्मति, आम राय या चुनाव पर आधारित हो सकती है। यदि सदन प्रधानमन्त्री के पद के बारे में कोई सिफारिश न कर सके तो वह लोकसभा भंग कर नए चुनाव कराने की सिफारिश कर सकता है। भारतीय संविधान में लोकसभा सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न संस्था है जिसमें जनता की सम्प्रभुता निहित है।

लेकिन यहाँ लोकसभा की सिफारिश मानने का प्रश्न ही नहीं उठा क्योंकि राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने दोनों सूचियों की जाँच पड़ताल कराई उसमें चौधरी चरणसिंह के 262 के मुकाबले जनता गुट (देसाई समर्थक) के 236 नाम प्रमाणित हुए। इसके पश्चात् ही राष्ट्रपति ने चौधरी चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। 28 जुलाई, 1979 को चौधरी

चरणसिंह ने नए प्रधानमन्त्री के रूप में शपथ ली।

राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने प्रधानमन्त्री के चयन में अपने विवेक का बहुत ही निष्पक्ष ढंग से प्रयोग किया। राष्ट्रपति को इस बात का अहसास सदैव बना रहा कि प्रधानमन्त्री ऐसा

व्यक्ति होना चाहिए जिसे लोकसभा के बहुमत का विष्वास प्राप्त हो और इसलिए श्री चौधरी को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करते हुए उन्होंने उनसे अनुरोध कर दिया था कि “लोकतन्त्र के ऊँचे सिद्धान्तों के अनुरूप और स्वस्थ परम्परा के नाते वह अधिक से अधिक अगस्त के तीसरे सप्ताह तक लोकसभा की बैठक बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध कर देंगे।” इस प्रकार से राष्ट्रपति ने उन पर विष्वास मत प्राप्त करने की नई शर्त लगा दी थी। लोकसभा का 22 अगस्त, 1979 को विघटन और श्री चरणसिंह को कामचलाऊ प्रधानमन्त्री बनाए रखना

चौधरी चरणसिंह काँग्रेस (इ) के समर्थन के कारण ही राष्ट्रपति के सामने अपना बहुमत सिद्ध कर सके थे। लेकिन 20 अगस्त, 1979 को श्रीमती गाँधी ने अपना समर्थन वापस ले लिया। इस दिन ही श्री चरणसिंह लोकसभा का विष्वास प्राप्त करने वाले थे। काँग्रेस (इ) द्वारा समर्थन वापस लेने के बाद लोकसभा में विष्वास मत प्राप्त करने के स्थान पर प्रधानमन्त्री चरणसिंह ने अपने पद से त्यागपत्र देकर (20 अगस्त को प्रातः) राष्ट्रपति से लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश कर दी। राष्ट्रपति ने त्यागपत्र स्वीकार कर लिया किन्तु अन्य व्यवस्था न होने तक चरणसिंह को कार्य करते रहने का

भारतीय शासन राजनीति

कहा। इसके बाद राष्ट्रपति ने विधिविधेशज्ञों से सलाह—मशविरा प्रारम्भ कर दिया। विपक्ष के नेता श्री जगजीवनराम ने (श्री देसाई की जगह श्री जगजीवनराम जनता पार्टी संसदीय दल के नेता बन चुके थे) राष्ट्रपति से भेंट करके उनसे उन्हें वैकल्पिक सरकार गठित करने का मौका देने का अनुरोध किया। जनता पार्टी के पीर नेताओं का स्पष्ट मत था कि चौधरी चरणसिंह को मध्यावधि चुनावों के आयोजन की सिफारिश करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि वे लोकसभा का विष्वास प्राप्त करने में विफल रहे हैं।

22 अगस्त, 1979 को राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने कामचलाऊ प्रधानमन्त्री की सलाह मानते हुए लोकसभा भंग करने और दिसम्बर, 1979 में मध्यावधि चुनाव कराने की घोषणा कर दी। राष्ट्रपति ने यह भी निर्णय किया कि चुनाव होने तक चरणसिंह मन्त्रिमण्डल ही कामचलाऊ सरकार के रूप में देश का शासन चलाएगा लेकिन वह कोई नई नीति सम्बन्धी फैसला नहीं करेगा और बड़ी रकम के खर्च वाली कोई योजना स्वीकार नहीं करेगा।

“राष्ट्रपति श्री रेड्डी के निर्णय ने राष्ट्रपति पद को गम्भीर विवाद का विषय बना दिया। जनता पार्टी ने उन पर महाभियोग चलाने तक की धमकी दी। राष्ट्रपति ने विधि विधेशज्ञों के विभिन्न मतों, संविधान की व्यवस्थाओं और राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अपने उपरोक्त निर्णय में ‘स्व विवेक’ का आश्रय लिया था। कुछ विधि—विधेशज्ञों का यह मत था कि श्री चरणसिंह को उस लोकसभा को भंग करने की सिफारिश करने का कोई अधिकार नहीं था जिसका उन्हें कभी विष्वास मत प्राप्त नहीं हुआ। श्री रेड्डी ने श्री चौधरी को इस पद पर प्रधानमन्त्री बनाया था कि वे लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करेंगे। श्री चरणसिंह ने इसी उद्देश्य से 29 अगस्त, 1979 को संसद का अधिवेशन भी बुलाया। किन्तु जब उन्हें विष्वास हो गया कि वे लोकसभा का विष्वास प्राप्त नहीं कर सकते तो उन्होंने सदन में उपस्थित होने की बजाय सीधे राष्ट्रपति को जाकर अपना त्याग पत्र दे दिया और लोकसभा को भंग करने की सिफारिश कर दी। श्री मुहम्मद करीम छागला तथा वी. एस. तारकुण्डे—जैसे संविधानविदों और भूतपूर्व न्यायाधीशों ने मत व्यक्त किया कि सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रपति श्री रेड्डी वर्तमान प्रधानमन्त्री श्री चरणसिंह की सलाह स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं। दूसरी ओर कुछ विधि विधेशज्ञों ने यह मत व्यक्त किया कि राष्ट्रपति के सामने निवर्तमान प्रधानमन्त्री श्री चरणसिंह की सिफारिश स्वीकार करने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं था। इस दलील का आधार संविधान का अनुच्छेद 74 रहा 142वें और 44वें संविधान संशोधन अधिनियम के बाद इस अनुच्छेद का वर्तमान स्वरूप यह व्यवस्था करता है कि

“राष्ट्रपति को अपने कार्यों का सम्पादन करने में सहायक और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। राष्ट्रपति अपने कृत्यों के निर्वहन में उसकी मन्त्रणा के अनुसार चलेंगे। यह व्यवस्था की जाती है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकते हैं। ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाती है। उसे वह उसी रूप में स्वीकार करेंगे।”

अनुच्छेद 74 की व्यवस्था के आधार पर दूसरे पक्ष का स्पष्ट मत था कि राष्ट्रपति यदि निवर्तमान प्रधानमन्त्री की सिफारिश को कबूल करते हुए मध्यावधि चुनावों का आदेश देते हैं तो कोई संवैधानिक व्यवस्था रास्ते में बाधक नहीं बनती। राष्ट्रपति ने इसी मार्ग को ग्रहण किया था। तत्कालीन विधि मन्त्री एस. एन. कक्कड़ ने भी संविधान के इस प्रावधान की दुहाई दी थी।

भारतीय संविधान एक विशद ग्रन्थ है जिसमें कार्यपालिका, न्यायपालिका, तथा संसद विधानमण्डलों की कार्य—प्रणाली तथा अधिकारों की विस्तृत रूप में व्याख्या की गई है। विध का दूसरा कोई भी संविधान षायद इतना विस्तृत और स्पष्ट नहीं है। फिर भी, कोई भी संविध न भविष्य में पैदा होने वाली समस्त संवैधानिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की कल्पना नहीं कर सकता है। इसलिए नई परिस्थिति पैदा होने पर राष्ट्रपति से उपेक्षा की जाती है कि वह अपनी बुद्धि और विवेक का उपयोग करते हुए स्वस्थ तथा न्यायसंगत परामर्श की स्थापना करेंगे। राष्ट्रपति पद की संस्था से के कुछ समय बाद संविधान—सभा

के अध्यक्ष तथा देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इस अवधारणा को चुनौती दी थी कि भारतीय संविधान में राष्ट्रपति की स्थिति मात्र रबर स्टाम्प वाली भूमिका है। उनका मत था कि अनेक परिस्थितियों में राष्ट्रपति को अपने विवेकानुसार कदम उठाने की छूट है। यदि राष्ट्रपति को किसी प्रकार के अधिकार नहीं हैं तथा वह अच्छा या बुरा कोई भी कदम उठाने की स्थिति में नहीं है तो फिर उसे हटाने के लिए संविधान में महाभियोग की व्यवस्था क्यों है ? डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लगभग 40 वर्ष पीछे जो कहा था, आज की परिस्थितियों ने उसकी सच्चाई सिद्ध कर दी है। परिस्थितियाँ ऐसी थी कि केन्द्रीय राजनीति पूर्णतः राष्ट्रपति श्री रेड्डी के विवेकसंगत निर्णय पर निर्भर हो गई और राष्ट्रपति ने चरणसिंह मन्त्रिमण्डल की सिफारिश को स्वीकार करना उपयुक्त समझा।

राष्ट्रपति के लिए लोकसभा भंग करना और नए चुनावों की घोषणा करना राजनीतिक परिस्थितियों की दृष्टि से भी आवश्यक हो गया था। कोई भी व्यक्ति सम्भवतः इस स्थिति में नहीं था कि लोकसभा का बहुमत प्राप्त कर पाता। राजनीतिक दलों में 'आयाराम-गयाराम' का बोलबाला शुरू हो गया था। इस प्रकार कोई दल स्थिर सरकार बनाने में समर्थ नहीं था। यदि कोई दल सरकार बना भी पाता तो वह कुछ ही दिन टिकती और राष्ट्र के सामने फिर 'सरकार-विहीनता' की स्थिति पैदा हो जाती। अतः राष्ट्रपति ने, राजनीतिक अस्थिरता के दौर को समाप्त करने के लिए, मध्यावधि चुनाव को ही उपर्युक्त मार्ग समझा। श्री चरणसिंह की मध्यावधि चुनाव की सिफारिश एक राजनीतिक पैतरेबाजी थी, किन्तु श्री रेड्डी ने परिस्थितियों के प्रकाश में उसे स्वीकार कर दूरदर्शिता का काम किया। " क्या राष्ट्रपति के लिए परामर्षदात्री परिशद की जरूरत है ?

.जुलाई और अगस्त, 1979 में जो समस्याएँ पैदा हुई, संविधान निर्माताओं ने उनकी 'कल्पना नहीं की थी। इन घटनाओं के प्रकाश में इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि यह जरूरी नहीं कि राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने वाला व्यक्ति सदा ही अत्यन्त बुद्धिमान और विलक्षण राजनीतिज्ञ होगा अथवा निजी आकाँक्षा या अन्य बाहरी विचारों से प्रभावित नहीं होगा।

राष्ट्रपति के लिए परामर्षदात्री परिशद की आवश्यकता के सम्बन्ध में अगस्त, 1979 के अपने एक लेख में जस्टिस एच. आर. खन्ना ने अत्यन्त महत्वपूर्ण और सामयिक विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा :

"संविधान की धारा 74 के अनुसार राष्ट्रपति को अपनी मन्त्रिपरिषद की सलाह पर ही कार्य करना है। परन्तु प्रश्न यह है कि राष्ट्रपति उस मन्त्रिपरिषद की सलाह कहाँ तक मानने को बाध्य है जो सदन में विष्वास खो चुकी है व कामचलाऊ रूप में काम कर रही हो। पुनः ऐसे मामले जो बहुत राजनीतिक महत्व के हों या विवादास्पद हों उनमें उक्त कामचलाऊ मन्त्रिपरिषद की सलाह कहाँ तक मानना उचित होगा।"

इसके अतिरिक्त ऐसी भी स्थिति आ सकती है जब प्रधानमंत्री की मृत्यु हो गई या उसने त्यागपत्र दे दिया व प्रधानमंत्री पद के लिए तब दो दावेदार सामने हों जिनके समर्थक लोकसभा में बराबर हों, तब राष्ट्रपति अपनी सलाह व विवेक से ही यह सब निर्णय करे।

अब लोकसभा भंग करने की बात लें। सामान्यतः राष्ट्रपति बाध्य है कि वह इस बारे में प्रधानमंत्री की सलाह माने, चाहे वह प्रधानमंत्री विष्वास मत में हार चुका हो। पर ऐसा भी हो सकता है कि राष्ट्रपति की राय हो कि वैकल्पिक टिकाऊ सरकार बन सकती है व देश को चुनावों के भार व व्यय से बचाया जा सकता है। इन सभी मामलों में राष्ट्रपति को निर्णय करना कठिन होता है। इन अवसरों पर आगे राष्ट्रपति को सलाह देने के लिए तन्त्र बनाना लाभकर हो सकता है। फिर भी राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह पर तो बाध्य होगा, पर अपने विवेक से काम लेने के लिए व असामान्य स्थितियों में उसे सलाह पाने के लिए एक उचित तन्त्र मिल जाएगा जो अनुभव व विचार शक्ति में विशेषज्ञ हो। इसमें एक लाभ यह भी होगा कि राष्ट्रपति का भार कम हो जाएगा।

भारतीय शासन राजनीति

उल्लेखनीय है कि संविधानसभा में संविधान सलाहकार ने भी राष्ट्रपति के लिए एक सलाह परिशद का सुझाव दिया था। लेकिन जून, 1947 में संविधान निर्माण समिति ने ऐसी परिशद की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं समझी। समिति का कहना था कि सरकार संसदीय प्रणाली की होगी जिसमें राष्ट्रपति को कोई अधिकार निहित न होंगे व सभी कार्य यहाँ तक कि लोकसभा भंग करने का कार्य भी वह मन्त्रियों की सलाह पर ही करेगा। राष्ट्रपति की कोई विशेष भूमिका नहीं रही तो उक्त परिशद का सुझाव लाना ही व्यर्थ है। राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

—

राष्ट्रपति की शक्तियों का सिद्धान्त और व्यवहारों में (पद जैमवतल दक च्त्तंबजपबम) जो विवेचन पूर्व पृष्ठों में किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि कुछ अवसरों पर राष्ट्रपति को स्वविवेक का प्रयोग करना पड़ता है, तथापि मूलतः वह एक संवैधानिक राज्याध्यक्ष (ब्यदेपजनजपवदंस भ्मंक) है जो अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद् की सलाह से करता है, अर्थात् वास्तविक कार्यपालिका — शक्ति राष्ट्रपति में नहीं बल्कि मन्त्रिपरिषद् में निहित है जिसका नेता प्रधानमन्त्री होता है। राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में संविधानसभा में भी अनेक बार वाद विवाद हुआ और प्रत्येक बार राज्याध्यक्ष के संवैधानिक गुणों पर ही बल दिया गया।

3. भारतीय संविधान में भारतीय राष्ट्रपति के पद के उत्तराधिकारी की क्या व्यवस्था की गई है?

4. भारतीय राष्ट्रपति पर भारतीय संविधान के अन्तर्गत महाभियोग लगाने की प्रक्रिया क्या है?

संविधानसभा के कार्यकाल के अन्तिम दिन, सभा के अध्यक्ष और बाद में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि—

“एक निर्वाचित राष्ट्रपति तथा निर्वाचित विधान मण्डल की परस्पर स्थिति का हमें, समाधान करना पड़ा है। इस विधान में हमने ब्रिटिश सम्राट की स्थिति, भारत के निर्वाचित राष्ट्रपति के लिए स्वीकार की है जो संवैधानिक राज्याध्यक्ष की स्थिति है। मन्त्रि मण्डल विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी है। मंत्री राष्ट्रपति को परामर्श देते हैं जो उक्त परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है। संविधान में, जहाँ तक मुझे विदित है, ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो राष्ट्रपति को मन्त्रियों द्वारा दिए गए परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता हो, किन्तु आशा है इस सम्बन्ध में ब्रिटेन की तरह निरुद्धि परम्परा स्थापित हो जाएगी। ब्रिटिश सम्राट के अनुरूप भारतीय राष्ट्रपति भी अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा— इसलिए नहीं कि संविधान उसे बाध्य करता है। बल्कि इसलिए कि यह एक स्वतन्त्र निरुद्धि होगी और इससे राष्ट्रपति संवैधानिक राज्याध्यक्ष बन जाएगा।”

राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए और यह देखने के लिए कि संविधान द्वारा उसे एक सांवेधानिक अध्यक्ष बनाया गया है अथवा वास्तविक अध्यक्ष, राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् के पारस्परिक सम्बन्धों की समीक्षा करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 74, 75, और 78 विशेष महत्व रखते हैं, जिनके अनुसार यह निर्धारित किया गया है कि

1. राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता एवं मन्त्रणा देने के लिए

एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका मुखिया प्रधानमन्त्री होगा।

2. राष्ट्रपति अपने कृत्यों के निर्वहन में मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा के अनुसार चलेगा। 3. राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकता है। ऐसे

पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाती है उसे वह उसी के रूप में स्वीकार करेगा ।

4. क्या मन्त्रियों ने राष्ट्रपति को मन्त्रणा दी ? और यदि दी तो क्या दी ? इस प्रश्न की न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी ।

5. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति

राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा ।

6. राष्ट्रपति के विष्वास पर्यन्त मन्त्री अपने अपने पद धारण करेंगे ।

7. मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से (ब्यससमबजपअमसल) उत्तरदायी होगी ।

8. प्रधान मन्त्री का कर्तव्य होगा कि वह—

(क) मन्त्रिपरिषद् के द्वारा संघ के कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी समस्त विनिष्चयों तथा प्रस्तावित विधान सम्बन्धी सभी सूचनाएँ राष्ट्रपति को दे ।

(ख) संघ के कार्य के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधानविशयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिन जानकारीयों को राष्ट्रपति माँगा, वह प्रदान करे ।

(ग) किसी ऐसे विषय को, जिसे एक मन्त्री ने विनिष्चय किया हो किन्तु जिस पर मन्त्रिपरिषद् ने विचार न किया हो, राष्ट्रपति की इच्छा पर मन्त्रिपरिषद् के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत करे ।

इन सब उपबन्धों के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय संविधान 'निर्माता भारत में ब्रिटिश शासन प्रणाली की संसदीय शासन व्यवस्था अपनाना चाहते थे और साथ ही ऐसी षब्दावली का प्रयोग भी करना चाहते थे । जिससे ब्रिटिश शासन प्रणाली का अनिवार्य गुण लचीलापन' (थ्सम•पइपसपजल) विनष्ट न हो जाए । जैसा कि डॉ० पायली ने लिखा है—

“ब्रिटिश सम्राट तथा मन्त्रिमण्डल के परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करने वाली प्रथाओं (परम्पराओं) को षब्दबद्ध करना संविधान निर्माताओं के सम्मुख एक जटिल कार्य था । इसीलिए हम देखते हैं कि कुछ उपबन्धों का तात्पर्य स्पष्ट है एवं असंदिग्ध भाषा में है और कुछ उपलब्ध पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाए हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को उसके कर्तव्यों का पालन करने में उसकी सहायता करने तथा परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में मन्त्रिपरिषद् आवश्यक है । क्या इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् का परामर्श लेने को बाध्य है तथा उनके परामर्श के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता । इसका उत्तर डॉ० अम्बेडकर ने इस प्रकार दिया था— सामान्यतः भारत संघ की राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों का परामर्श स्वीकार करने के लिए बाध्य होगा । उनकी सम्मति के विपरीत अथवा बिना परामर्श के वह कोई कार्य नहीं कर सकता । डॉ० अम्बेडकर के समर्थकों का कहना है कि मन्त्रिपरिषद् की सलाह से देश का शासन चलाना प्रधानमन्त्री का कार्य है । इस कार्य में समय—समय पर राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सहायता कर सकता है व परामर्श दे सकता है । इस प्रकार हमें यथार्थ को देखना चाहिए, षब्दाडम्बर को नहीं क्योंकि ये षब्द केवल प्रथाओं में व्यक्त हैं । तब इस समय राष्ट्रपति की स्थिति क्या है ? क्या यह मन्त्रिमण्डल द्वारा दिए गए, परामर्श का अनुसरण करने के लिए बाध्य है ? इसका उत्तर यही होगा, “हाँ” साधारणतः राष्ट्रपति बाध्य ही है । 42वें संशोधन द्वारा अब यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मन्त्रिपरिषद् के परामर्श को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य है । इस प्रकार अब यह विवाद समाप्त — प्रायः है । 44वें संशोधन में यह प्रावधान जोड़ दिया गया है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकता है । लेकिन साथ ही यह

भारतीय शासन राजनीति

भी स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाएगी उसे वह उसी के रूप में स्वीकार करेंगे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि पुनर्विचार में भी यदि मन्त्रिपरिषद मूल मन्त्रणा में कोई परिवर्तन नहीं करती तो उसे स्वीकारना राष्ट्रपति के लिए लाजमी होगा। इस प्रकार नवीनतम व्यवस्था भी राष्ट्रपति को संवैधानिक राज्याध्यक्ष ही बनाती है, हाँ साधारण अवसरों पर उसे 'स्वविवेक' के प्रयोग से वंचित नहीं करती।"

ये संवैधानिक प्रावधान राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष का ही दर्जा प्रदान करते हैं, वास्तविक शासक का नहीं। राष्ट्रपति की स्थिति और भूमिका का मूल्यांकन करते हुए ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. कृष्णकान्त मिश्र ने विदेशी विद्वानों के दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे पठनीय हैं :

"भारत की राजनीतिक प्रणाली में राष्ट्रपति की स्थिति और भूमिका का मूल्यांकन करते हुए दो परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार राष्ट्रपति एक नाममात्र का शासक है जो प्रधानमन्त्री के लिए रबर की मोहर का काम करता है। इसके विपरीत अन्य आलोचकों का विचार है कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों का उपयोग करते हुए एक प्रभावशाली शासक की भूमिका निभा सकता है। अब तक के राष्ट्रपतियों ने व्यवहार में इन अधिकारों का प्रयोग नहीं किया। इसका अर्थ यह नहीं कि वे भविष्य में भी इन शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे।

अलान ग्लेडहिल ने एक कल्पित उदाहरण देते हुए बताया है, मान लीजिए कि एक—महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति संवैधानिक नियमों का दुरुपयोग करते हुए तानाशाह बनना चाहता है:। संसद का एक सदन उसके विरुद्ध महाभियोग की प्रक्रिया शुरू करने के लिए 14 दिन का नोटिस देता है। राष्ट्रपति तुरन्त लोकसभा को भंग कर देता है और एक नए मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर लेता है, जो उसकी इच्छा के अनुसार शासन चलाता है। तदुपरान्त वह राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा कर देता है और आपात्कालीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए संघात्मक प्रणाली को एकात्मक प्रणाली में बदल लेता है। फिर राजनीतिक दलों पर पाबन्दी लगा देता है और समाचार पत्रों को समाचारों और विचारों के प्रकाशन की आजादी नहीं देता। वह मूल अधिकारों का भी निलम्बन कर देता है। दमन के वातावरण में चुनाव कराकर वह ऐसी संसद का निर्माण कर लेता है जो राष्ट्रपति और उसके द्वारा नियुक्त और उसी पर निर्भर मन्त्रिमण्डल का पूर्ण समर्थन करे। दमन के वातावरण में संसद और मन्त्रिमण्डल को राष्ट्रपति का विरोध करने का साहस नहीं हो सकता। जर्मनी के वाइमर संविधान की धाराओं का दुरुपयोग करते हुए इसी प्रकार हिंडनबर्ग और हिटलर ने नाजी अधिनायक तंत्र की स्थापना की थी। लेटिन अमेरिका में भी प्रायः तानाशाही की स्थापना उपर्युक्त ढंग से की गई है।

ग्रेनविल आस्टिन तथा अलेक्जेंड्रोविज ने अलान ग्लेडहिल के उपर्युक्त मत को कल्पना की उड़ान बताया है। उनके कथनानुसार कोई भी राष्ट्रपति भारत के संसदीय शासन के अन्तर्गत संसद की अवहेलना करते हुए तानाशाह नहीं बन सकता है। वह ऐसा केवल सेना के उच्च अधिकारियों की सहमति से ही कर सकता है। यह स्थिति तो क्रान्ति की स्थिति है और क्रान्ति के समय कोई भी संविधान काम नहीं देता है। क्रान्ति की स्थिति में तो सभी संवैधानिक नियम बेकार हो जाते हैं।

हमारे देश की राजनीतिक प्रणाली में अभी तक आपात्कालीन शक्तियों का प्रयोग वस्तुतः प्रधानमन्त्रियों ने ही किया है, राष्ट्रपतियों ने नहीं। आपात्कालीन शक्तियों के उपयोग से यदि किसी की शक्तियों का विस्तार हुआ है, तो वह व्यक्ति प्रधानमन्त्री है, न कि राष्ट्रपति। यदि भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में राष्ट्रपति की तुलना में प्रधानमन्त्री के पद में शक्तियों के केन्द्रीयकरण की कहीं अधिक सम्भावना है।"

संसदीय लोकतन्त्र का सर्वोपरि मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि राज्य का प्रधान शासन का प्रधान नहीं होता है। भारत का राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतीक है, राष्ट्र का शासक नहीं।

अनुच्छेद 75 (2) के अनुसार यद्यपि मन्त्रिगण राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही अपने पदों पर रहते हैं लेकिन राष्ट्रपति का 'प्रसाद' वास्तव में संसद का ही प्रसाद है और संसद के ही प्रसादपर्यन्त मन्त्रिगण पदासीन रहते हैं। मन्त्रिपरिषद को यदि लोकसभा का विष्वास प्राप्त है तो कोई भी राष्ट्रपति उसे अपदस्थ करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि यह कार्य असंवैधानिक होगा। राष्ट्रपति के इस दुस्साहस का परिणाम यह भी हो सकता है कि स्वयं राष्ट्रपति अपने पद को खो बैठे। संसद के लिए यह असहनीय स्थिति होगी कि राष्ट्रपति संसद की विष्वासपात्र मन्त्रि परिषद को अपदस्थ करके स्वयं संसद की राजनीतिक और संवैधानिक सत्ता को ही चुनौती दे दे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारत का राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों का आलोचक है, परामर्षदाता है और मित्र है। परामर्षदाता के रूप में वह अपने विचारों को मन्त्री के समक्ष बल के साथ रख सकता है। आलोचक के रूप में वह उस मन्त्रणा पर आपत्ति कर सकता है जो मन्त्री ने उसे किसी विषय पर दी हो किन्तु उसे जिंदा या हठ नहीं करना चाहिए और अन्तिम उपचार के रूप में यदि मन्त्री राष्ट्रपति की बात को न मानना चाहे जो उसे मान लेना चाहिए। मन्त्रिमण्डल के मित्र के रूप में राष्ट्रपति को इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि वह अपनी बात पर व्यर्थ के लिए ही अड़ा न रहे, जिसके फलस्वरूप शासन का स्थायित्व खतरे में न पड़ जाए। जब तक राष्ट्रपति ऐसी मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा पर चलता है जिसको लोकसभा का विष्वास प्राप्त है, वह कोई असंवैधानिक कृत्य नहीं कर सकता है।

सारांश – संसदीय लोकतन्त्र का सर्वोपरि मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि राज्य का प्रधान शासन का प्रधान नहीं होता है। भारत का राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतीक है, राष्ट्र का शासक नहीं। अनुच्छेद 75 (2) के अनुसार यद्यपि मन्त्रिगण राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही अपने पदों पर रहते हैं लेकिन राष्ट्रपति का 'प्रसाद वास्तव में संसद का ही प्रसाद है और संसद के ही प्रसादपर्यन्त मन्त्रिगण पदासीन रहते हैं। मन्त्रिपरिषद को यदि लोकसभा का विष्वास प्राप्त है तो कोई भी राष्ट्रपति उसे अपदस्थ करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि यह कार्य असंवैधानिक होगा। राष्ट्रपति के इस दुस्साहस का परिणाम यह भी हो सकता है कि स्वयं राष्ट्रपति अपने पद को खो बैठे। संसद के लिए यह असहनीय स्थिति होगी कि राष्ट्रपति संसद की विष्वासपात्र मन्त्रि परिषद को अपदस्थ करके स्वयं संसद की राजनीतिक और संवैधानिक सत्ता को ही चुनौती दे दे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारत का राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों का आलोचक है, परामर्षदाता है और मित्र है। परामर्षदाता के रूप में वह अपने विचारों को मन्त्री के समक्ष बल के साथ रख सकता है। आलोचक के रूप में वह उस मन्त्रणा पर आपत्ति कर सकता है जो मन्त्री ने उसे किसी विषय पर दी हो किन्तु उसे जिंदा या हठ नहीं करना चाहिए और अन्तिम उपचार के रूप में यदि मन्त्री राष्ट्रपति की बात को न मानना चाहे जो उसे मान लेना चाहिए। मन्त्रिमण्डल के मित्र के रूप में राष्ट्रपति को इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि वह अपनी बात पर व्यर्थ के लिए ही अड़ा न रहे, जिसके फलस्वरूप शासन का स्थायित्व खतरे में न पड़ जाए। जब तक राष्ट्रपति ऐसी मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा पर चलता है जिसको लोकसभा का विष्वास प्राप्त है, वह कोई असंवैधानिक कृत्य नहीं कर सकता है।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों ?

संविधान-सभा ने यह महसूस किया कि जब राष्ट्रपति को औपचारिक प्रधान मात्र बनाना है तो फिर उसका प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचन व्यर्थ का परिश्रम होगा। मन्त्रिमण्डलीय शासन-व्यवस्था में राष्ट्रपति संवैधानिक मुखिया होता है, अतः भारत में अमेरिका की भाँति सभी निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई, पर साथ ही यह भी प्रयत्न किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जहाँ तक हो सके जनता पर ही आधारित रहे। भारत में राष्ट्रपति की वर्तमान निर्वाचन-व्यवस्था से ये दोनों ही उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। पुनः राष्ट्रपति के निर्वाचन में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के साथ ही राज्यों

भारतीय शासन राजनीति

की विधान सभाओं के सदस्यों को निर्वाचक मण्डल में लिए जाने का एक विशेष महत्व है। यदि राष्ट्राध्यक्ष के निर्वाचन में संसद के दोनों ही सदन भाग लेते तो बहुसंख्यक दल द्वारा अपने प्रत्याषी का सरलता से निर्वाचन सदैव सम्भव रहता। किन्तु राज्यों की विधानसभाओं द्वारा निर्वाचन में भाग लेने से स्थिति बदल गई है। यह पूर्ण सम्भव है कि संसद में जो बहुमत प्राप्त दल हैं उसे अधिकांश राज्यों में बहुमत न मिला हो। ऐसी स्थिति में संसद में बहुमत रखने वाला दल राज्य विधानसभाओं के समर्थन के बिना अकेला ही अपने प्रत्याषी को राष्ट्रपति निर्वाचित करा सकता है।

राष्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद 56 (1) में उल्लेख है कि राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा, परन्तु –

(क) राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) संविधान का अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 61 में उपबन्धित रीति से लाए गए महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकेगा।

(ग) राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पदग्रहण तक पद धारण किए रहेगा।

अनुच्छेद 56 (2) में राष्ट्रपति अपने त्यागपत्र की सूचना अविलम्ब लोकसभा के अधक्षक को देगा।

3.

उत्तराधिकार

अनुच्छेद 62 में उत्तराधिकार की व्यवस्था की गई है। जब राष्ट्रपति का पद उसकी मृत्यु अथवा महाभियोग से खाली हो जाए तो उप राष्ट्रपति उस पद को धारण करेगा, लेकिन अगर उपराष्ट्रपति भी नहीं है तो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश उस पद को धारण करेगा। सन् 1969 में जस्टिस एम. हिदायतुल्ला ने ऐसा ही किया था।

राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

संविधान के अनुच्छेद 61 में राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया का उल्लेख है। तदनुसार, संविधान के अतिक्रमण के लिए राष्ट्रपति पर जब महाभियोग चलाना हो, तब संसद का कोई सदन दोशारोपण करेगा। महाभियोग सम्बन्धी प्रस्ताव पर उस सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए और प्रस्ताव का लिखित नोटिस कम से कम 14 दिन पूर्व प्राप्त होना चाहिए। यदि यह प्रस्ताव सदन के कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाए तो इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया गया है। जब संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार महाभियोग लगाया जा चुके तब दूसरा सदन उस महाभियोग का अनुसन्धान करेगा या कराएगा और इस अनुसन्धान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राष्ट्रपति को अधिकार होगा। यदि जाँच अथवा अनुसन्धान के फलस्वरूप राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया दोशारोपण सिद्ध हो जाए और अनुसन्धान करने वाला सदन भी अपने कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो इस प्रस्ताव का प्रभाव यह होगा कि उसके पारित होने की तिथि से राष्ट्रपति पदच्युत समझा जाएगा।

उल्लेखनीय है कि अमेरिका में भी राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है, लेकिन भारतीय और अमेरिकन संविधानों में इस सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ

भारत के राष्ट्रपति पर महाभियोग सविधान के उल्लंघन या अतिक्रमण के लिए लगाया जा सकता है वहीं अमेरिका के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'राजद्रोह', 'घूस लेने' तथा 'अपराध' करने के आधार पर लगाया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर आज तक किसी भी भारतीय राष्ट्रपति को आज तक महाभियोग का सामना नहीं करना पड़ा है।

अभ्यास—प्रश्न

यास— राष्ट्रपति पद की अहर्ताओं तथा निवाचन प्रक्रिया का उल्लेख करें। राष्ट्रपति की शक्तियों का वर्णन करें।

राष्ट्रपति के अधिकारों की समीक्षा करें।

'राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति की विवेचना करें।

भारतीय शासन राजनीति

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

भारतीय संसद का ब्रिटिश संसद से तुलना –

लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष

लोकसभा तथा राज्यसभा की शक्तियों और आपसी सम्बन्ध

संसद की शक्तियाँ और उनकी सीमाएँ

संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया

साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया

अध्ययन के उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात आप

भारतीय संसद का ब्रिटिश संसद से तुलना कर सकेंगे।

: लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की स्थिति समझ सकेंगे।

: लोकसभा तथा राज्यसभा की शक्तियों और आपसी सम्बन्ध समझ सकेंगे।

:

संसद की शक्तियाँ और उनकी सीमाएँ समझ सकेंगे।

: संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया समझ सकेंगे।

साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया समझ सकेंगे।

परिचय.

‘हमारे संविधान के अनुसार राष्ट्रपति और संसद को मिलाकर संघीय विधानमण्डल की रचना की गयी है। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के सदस्य नहीं रह सकता है परन्तु उसके हस्ताक्षर प्रत्येक कानून के लिए आवश्यक हैं। इसीलिए वह संघीय विधानमण्डल के भाग समझा जाती है। यहाँ पर हमने ब्रिटिश संविधान का अनुकरण किया है, जहाँ पर राजा और संसद दोनों केन्द्रीय विधानमण्डल के अंग माने जाते हैं। यहाँ पर हमारा संविधान अमेरिका के संविधान से भिन्न है क्योंकि अमेरिका में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (जिमवतल विमचंतजपवद वच्चूमत) के कारण राष्ट्रपति काँग्रेस (पार्लियामेंट) का अंग नहीं माना जाता है।

1. हमारी पार्लियामेंट की ब्रिटिश पार्लियामेंट से तुलना हमारी पार्लियामेंट की प्रायः ब्रिटिश पार्लियामेंट से तुलना की जाती है परन्तु हमारी पार्लियामेंट तथा ब्रिटिश संसद की शक्तियों में महान अन्तर है। हमारे देश में पार्लियामेंट राजसत्ताधारी (वअमतमपहद) नहीं है और इसकी शक्तियों पर अनेक संवैधानिक रुकावटें हैं परन्तु ब्रिटिश पार्लियामेंट राजसत्ताधारी है। इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट की राजसत्ताधारी शक्तियों को दिखाने के लिए डायसी ने लिखा है, “वह एक बालक को पूर्ण वयस्क (बालिग) घोषित कर सकती है, वह मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है, वह दंगली सन्तान (पसमहपजपउंजम बीपसक)

को औरस सन्तान (समहपजपउंजम बीपसक) बना सकती है और यदि वह उचित समझें, तो किसी भी व्यक्ति को अपने मामले में न्यायाधीष बना सकती है।”

ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बनाये हुए किसी भी कानून को वहाँ का कोई भी न्यायालय गैर कानूनी घोषित नहीं कर सकता है और पार्लियामेंट संवैधानिक कानूनों को भी उसी तरह से बनाती, और संशोधित (‘उमदक) करती है जिस तरह साधारण कानूनों को, परन्तु भारत में यह स्थिति नहीं है। हमारे देश में संविधान सर्वोच्च कानून हैं और पार्लियामेंट संविधान में सादा कानूनों की तरह कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। संविधान में संशोधन करने के लिए पार्लियामेंट के दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता है और उसका समर्थन आधे राज्यों के विध नमण्डलों द्वारा कराना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में सुप्रीम कोर्ट पार्लियामेंट के किसी कानून को गैर-कानूनी घोषित कर सकती है यदि वह संविधान के विरुद्ध हो ! अब हम संसद की रचना और कार्यों का वर्णन करते हैं। भारत की संसद के दो सदन राज्यसभा और लोकसभा हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, आस्ट्रिया, लंका, कैनेडा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और सोवियत संघ की भाँति भारत में भी दो सदन ही रखे गए हैं, जिनकी रचना और शक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

५ राज्यसभा

रचना (ब्वउचवेपजपवद) – राज्यसभा या परिशद संसद (पार्लियामेंट) का दूसरा या उपरि सदन (न्यचमत भवनेम) है। राज्यसभा के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक 250 हो सकती है। मार्च 1972 से यह संख्या 243 हो गई है। इन 243 सदस्यों में से 231 सदस्य विविध राज्यों की विधानसभाओं द्वारा एक विशेष प्रणाली के अनुसार चुने जाते हैं। इस प्रणाली को इकहरी मतपरिवर्तन प्रणाली (एकल संक्रमणीय मत – ‘पदहसम ज्तंदेमितंइसम टवजम) तथा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (त्तवचवतजपवदंस त्मचतमेमदजंजपवद‘लेजमउ) कहा जाता है। पेश बारह सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामजद किए जाते हैं। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिन्होंने कलाय साहित्य, विज्ञान, समाजसेवा और सहकारिता में विशेष अनुभव प्राप्त कर लिया है। चुने हुए सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह याद रखने योग्य बात है कि हमारे संविधान में राज्यों का प्रतिनिधित्व आबादी के आधार पर दिया गया है न कि छोटे-बड़े सभी राज्यों को बराबर का प्रतिनिधित्व। अतः यहाँ हमारा संविधान अमेरिका के संविधान से भिन्न है। अमेरिका पार्लियामेंट के उपरि सदन को सीनेट कहा जाता है। सीनेट में प्रत्येक बड़े और छोटे राज्य को बराबर का प्रातेनिधित्व दिया गया है और प्रत्येक राज्य को सीनेट में दो सदस्य भेजने का अधिकार है। वहाँ पर आजकल सीनेट के कुल 100 सदस्य हैं। भारत में अमेरिकन संघ के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया है और राज्यसभा में प्रत्येक राज्य की सीटों को संविधान में निश्चित कर दिया गया है।

राज्यसभा के सदस्य के लिए योग्यताएँ और कार्यकाल

सदस्य के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक हैं।

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. कम से कम तीस वर्ष की आयु का हो, तथा राज्यसभा के
3. ऐसी अन्य योग्यताएँ रखता हो जो संसद के किसी कानून द्वारा निश्चित की जाएँ। 1951 के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (त्मचतमेमदजंजपवद वजिीम च्मवचसम।बज, 1951) के अनुसार राज्यसभा के लिए चुने जाने वाले उम्मीदवार के लिए उन राज्य से संसद का निर्वाचक (मतदाता) होना आवश्यक है, जिसमें से वह चुनाव लड़ता है।

राज्यसभा एक स्थायी सदन होगा और इसकी अवधि 6 वर्ष होगी। इसको स्थायी सदन इस लिए माना गया है क्योंकि इस अवधि से पूर्व राष्ट्रपति इसको भंग नहीं कर सकते हैं। राज्यसभा के पश्चात् सेवानिवृत्त (त्मजपतम) हो जायेंगे।

भारतीय शासन राजनीति

राज्यसभा के अधिकारी (विपिबपंसे विल्लैं ईं) भारत का उपराष्ट्रपति (टपबम च्त्तमेपकमदज) राज्यसभा का अध्यक्ष होता है। इसको राज्यसभा के अध्यक्ष के रूप में 1,25,000 रुपये मासिक वेतन तथा अन्य भत्ते मिलता है। राज्यसभा को अपना एक उपसभापति (क्मचनजल बेंपतउंद) भी चुनने का अधिकार है। उपसभापति राज्यसभा के बहुमत से चुना जाता है। उसको 1,25,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। जब राष्ट्रपति की मृत्यु त्याग पत्र, महाभियोग द्वारा पदच्युति अथवा लम्बी बीमारी के कारण उसका स्थायी या अस्थायी रूप से खाली होगा, तो उपराष्ट्रपति उस समय राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। उस समय उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति की सभी शक्तियों व अधिकार प्राप्त होंगे। उसको उस समय उतना ही वेतन और भत्ते मिलेंगे जो राष्ट्रपति को मिलते थे। यदि राष्ट्रपति का स्थान स्थायी रूप से खाली है, तो उसे 6 महीने की भीतर चुनाव कराने पड़ेंगे।

जब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा, तो उसको राज्य सभा की बैठकों का सभापतित्व करने का कोई अधिकार नहीं होगा। उसे उस समय राज्यसभा के सभापति के रूप में वेतन नहीं मिलेगा बल्कि राष्ट्रपति का वेतन ही मिलेगा। उपराष्ट्रपति को राज्यसभा एक प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है, यदि उस प्रस्ताव से लोकसभा भी सहमत हो। जिस समय उप राष्ट्रपति को हटाने के लिए राज्यसभा में एक प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो तो उस समय उपराष्ट्रपति राज्यसभा की बैठकों का सभापतित्व नहीं करेगा बल्कि उपसभापति ही राज्यसभा की बैठकों की अध्यक्षता करेंगे। उपराष्ट्रपति को उस समय अपनी रक्षा के लिए बोलने का अधिकार होगा और सदन की अन्य कार्यवाहियों (चतवबममकपदहे) में भाग लेने का अधिकार होगा, परन्तु मतदान का अधिकार नहीं होगा। ऐसे प्रस्ताव को राज्यसभा के तत्कालीन सदस्यों की संख्या के बहुमत से पास करना आवश्यक है। उपसभापति को राज्यसभा अपने तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से हटा सकती है। इस हेतु लोकसभा का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। उप सभापति को हटाने का प्रस्ताव राज्य में चौदह दिन की पूर्व सूचना से सदन में पेश होगा, उस समय वह सदन की बैठकों की अध्यक्षता नहीं कर सकता है। राज्यसभा के सभापति और उप सभापति को भारत की संचित निधि (ब्यदेवसपकंजमक निदक) से वेतन दिया जाता है।

राज्यसभा में सभापति तथा उपसभापति की अनुपस्थिति में वह व्यक्ति सदन की अध्यक्षता करेगा जो सदन के नियमों के अनुसार निश्चित किया जाये। सभापति सदन में अनुशासन कायम रखता है और सदस्यों को बोलने की आज्ञा देता है। यह बिलों पर मतदान लेता है और फल घोषित करता है।

गणपूर्ति (फनवतनउ) – राज्यसभा की बैठकों के लिए इसकी समस्त संख्या का दसवाँ भाग उपस्थित होना आवश्यक है। इसके बिना सदन की बैठक नहीं हो सकती।

राज्यसभा के सदस्यों के विशेष अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ – राज्यसभा के सदस्यों को वे सब अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं जो प्रायः लोकतन्त्रात्मक देशों में संसद के सदस्यों को मिलती हैं। राज्य सभा के सदस्यों को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है और राज्य सभा की बैठकों में दिए गए भाषणों के कारण उनके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त अधिवेशन के दिनों में तथा उसके 40 दिन पूर्व अथवा बाद में भी किसी भी दीवानी मुकदमें के कारण उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

रचना संसद के निचले सदन को लोकसभा कहा जाता है। संविधान के चौदहवें संशोधन के अनुसार इसके निर्वाचित सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या 525 हो सकती है।

20 जनवरी 1972 को पूर्वी भारत में नए राज्य मेघालय और केन्द्रीय क्षेत्र अरुणाचल प्रदेश का प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने उद्घाटन किया। 21 जनवरी, 1972 को उन्होंने दो नए राज्यों मणिपुर तथा त्रिपुरा और केन्द्रीय क्षेत्र मिजोरम का उद्घाटन किया। मेघालय को लोकसभा में दो और मिजोरम को एक स्थान दिया गया है। अरुणाचल प्रदेश (नेफा) का

लोकसभा में सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होने की बजाय निर्वाचित बना दिया गया है। इसलिए मार्च, 1972 से लोकसभा में निर्वाचित सदस्यों की संख्या 522 हो गई है। एंग्लो इण्डियन सम्प्रदाय को प्रतिनिधित्व देने के लिए दो सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जायेंगे। इस तरह से मार्च 1972 से लोकसभा के कुल सदस्य 524 हो गए।

लोकसभा के सदस्यों के लिए योग्यताएँ – लोकसभा के उम्मीदवार के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ (फनंसपिबंजपवदे) रखी गयी हैं: ऐसी अन्य योग्यताएँ रखता हो जो संसद के किसी कानून द्वारा निश्चित की गई हों अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति लोकसभा के लिए उम्मीदवार के रूप में नहीं खड़ा हो सकता, यदि उसको निम्नलिखित कारणों से अयोग्य (क्वेनंसपिमिक) कर दिया गया हो। भारत या राज्यसरकार के किसी लाभ के पद (वैपिबम वचितवपिज) पर हो (मन्त्रियों के पद लाभ के पदों में शामिल नहीं हैं)। 2. वह किसी अधिकार प्राप्त (सक्षम) न्यायालय द्वारा पागल घोषित कर दिया गया हो। 3. वह दिवालिया हो। 4. संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून द्वारा वह अयोग्य ठहराया गया हो, जैसे चुनावों के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार या गैर कानूनी गतिविधियों का दोषी होने पर होता है।

लोकसभा के चुनावों के सम्बन्ध में सब झगड़ों और याचिकाओं (चमजपजपवदे) को चुनाव आयोग द्वारा नियुक्त किया हुआ एक अधिकरण (ज्त्पइनदंस) सुनता है।

अवधि (कार्यकाल) – लोकसभा की अवधि अथवा कार्यकाल पाँच वर्ष का है। इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात लोकसभा के चुनाव होंगे। पाँच वर्ष पूर्व भी राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की प्रार्थना पर लोकसभा को भंग कर सकता है। प्रधानमंत्री ऐसी प्रार्थना उस समय करता है, जबकि लोकसभा उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर दे, परन्तु सारे देश का जनमत उसके साथ हो। उस समय इस बात को जाँचने के लिए कि प्रधानमंत्री के साथ सारा देश है, या नहीं राष्ट्रपति लोकसभा को भंग करके सारे देश में नये चुनाव करवा सकता है। संकटकालीन अवस्था की घोशणा के समय संसद अपना कार्यकाल एक बार में एक वर्ष तक बढ़ा सकती है। और उस घोशणा के समाप्त होने के बाद अपना समय 6 माह से अधिक नहीं बढ़ा सकती जब ऐसी संकटकालीन घोशणा जारी है, तो संसद अपना कुल कार्यकाल 3 वर्ष तक बढ़ा सकती है।

चौथी लोकसभा भंग (क्वेवसनजपवद वी4जी स्वाँई) – 27 दिसम्बर, 1970 को राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि द्वारा लोकसभा भंग कर दी गयी। उन्होंने ऐसा प्रधानमंत्री की सिफारिश पर किया। चौथी लोकसभा का जीवन काल 3 वर्ष 285 दिन रहा। लोकसभा की अवधि पाँच वर्ष होती है। परन्तु प्रधान मंत्री इन्दिरा गाँधी तथा मन्त्रिमण्डल की सलाह पर राष्ट्रपति ने इसे अवधि से पूर्व ही भंग कर दिया। चौथी लोकसभा के लिए फरवरी, 1967 में आम चुनाव हुए थे और 3 मार्च, 1967 को नई लोकसभा को बुलाने के लिए अधिसूचना जारी की गयी थी। चौथी लोकसभा की पहली बैठक 16 मार्च, 1967 को हुई। चौथी लोकसभा के कार्यकाल में चौदह बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ तथा लोकसभा द्वारा राजाओं के प्रिवीपर्स खत्म करने के लिए विधेयक पास किया गया परन्तु राज्यसभा ने इसे पास नहीं किया। लगभग चार वर्षों में 219 विधेयक पास किये गये।

गणपूर्ति (फनवतनउ) – राज्यसभा के समान ही लोकसभा की गणपूर्ति भी कुल संख्या का दसवाँ भाग होगी। इसका यह अभिप्राय है कि यदि किसी लोकसभा की बैठक में 20 से कम सदस्य उपस्थित हों और वहाँ कोई फैसला किया जाए, तो वह कानून के विरुद्ध समझा जायेगा।

लोकसभा के सदस्यों के विशेष अधिकार – हमारी लोकसभा के सदस्यों को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हैं। उदाहरणस्वरूप उन्हें लोकसभा में अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और सरकार की आलोचना के कारण उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। लोकसभा के अधिवेशन के दिनों में और 'उसके चालीस दिन पहले तथा चालीस दिन बाद में किसी दीवानी अभियोग के बारे में उनको गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है। लोकसभा का अध्यक्ष सदस्यों के विशेष अधिकारों की रक्षा करता है।

भारतीय शासन राजनीति**प. लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष**

लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव – हमारे संविधान में लिखा है कि लोकसभा षीघ्र से षीघ्र अपना एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुनेगी। व्यवहार में प्रधानमंत्री लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के बारे में विरोधी दलों के नेताओं से विचार विमर्श करके तय कर लेते हैं कि किस व्यक्ति का नाम सदन के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के लिए पेश किया जाए। प्रायः अध्यक्ष या उपाध्यक्ष षासक दल में से विरोधी दलों के परामर्श से ले लिया जाता है। ऐसी रूढ़ि (परम्परा) अब हमारे देश में स्थापित हो गयी है। इसके बाद औपचारिक रूप से लोकसभा में षासक दल का कोई सदस्य इंग्लैण्ड की भांति हमारी लोकसभा के अध्यक्ष के लिए किसी सदस्य का नाम प्रस्तावित कर देता है और विरोधी दलों के सदस्य उसका अनुमोदन कर देते हैं। इस तरह से लोकसभा का अध्यक्ष सर्वसम्मति से चुन लिया जाता है। इस तरह से उपाध्यक्ष भी निर्विरोध चुन लिया जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि विरोध दल का कोई सदस्य उपाध्यक्ष का नाम प्रस्तावित कर देता है और षासक दल के सदस्य उसका समर्थन कर देते हैं। वास्तविकता यह है कि लोकसभा के ये दोनों अधिकारी लोकसभा द्वारा सर्वसम्मति से चुन लिए जाते हैं। यहाँ पर हमारे देश की रूढ़ि इंग्लैण्ड से मिलती-जुलती है और अमेरिका से भिन्न है जहाँ पार्लियामेंट के निचले सदन (भ्वनेम वॉ त्मचतमेमदजंजपअमे) के अध्यक्ष पद के लिए बहुमत दल तथा अल्पसंख्यक दल अपना-अपना उम्मीदवार खड़ा करते हैं और अध्यक्ष निर्विरोध (नदवचचवेमक) नहीं चुना जाता है। पाँच वर्ष के बाद जब लोकसभा की सदस्यता के लिए पहला अध्यक्ष चुनाव लड़ता है, तो प्रायः वह निर्विरोध ही चुन लिया जाता है। इसका कारण यह है कि अपने चुनाव के बाद इंग्लैण्ड की तरह हमारी लोकसभा का अध्यक्ष भी राजनीति से अपना सम्बन्ध पूर्ण रूप से तोड़ देता है 1 अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को हटाने का तरीका यदि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष लोकसभा के सदस्य न रहें, तो उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा। अध्यक्ष अपने हस्ताक्षर सहित अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष के पास और उपाध्यक्ष अपना त्यागपत्र अध्यक्ष के पास भेज सकता है।

। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष अपने पद से हटाए जा सकते हैं, यदि लोकसभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से इस हेतु एक प्रस्ताव पास हो जाए। परन्तु इस प्रकार का कोई प्रस्ताव लोकसभा में तभी पेश हो सकेगा जबकि कम से कम चौदह दिन की पूर्व ऐसे प्रस्ताव के पेश करने के लिए सूचना (छवजपबम) दी गई हो। यदि लोकसभा को भंग कर दिया हो, तो अध्यक्ष लोकसभा के भंग होने के बाद और नई लोकसभा की प्रथम बैठक के ठीक पहले तक अपने मंद को खाली नहीं करेगा।

जब अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष में से किसी को हटाने के लिए किसी प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो तो उस समय वह व्यक्ति जिसको हटाने के लिए प्रस्ताव पर बहस हो रही हो, लोकसभा का सभापतित्व नहीं करेगा। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष सभापतित्व करेगा। यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष दोनों के स्थान खाली हैं तो अध्यक्ष के कार्य लोकसभा के उसी सदस्य द्वारा किए जायेंगे, जिसको राष्ट्रपति इस हेतु नियुक्त करे। लोकसभा द्वारा 1956 ई. में स्वीकृत प्रक्रिया नियम (1) के अनुसार लोकसभा के प्रारम्भ पर या समय समय पर अध्यक्ष सदस्यों में से अधिक से अधिक 6 सभापतियों की एक तालिका निर्दिष्ट करेगा जिनमें से कोई एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में, उनके कहने पर लोकसभा का सभापतित्व करेगा। यह इसलिए किया गया है ताकि यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष लोकसभा में किसी कारण से उपस्थित न हो सके तो कोई कठिनाई उत्पन्न न हो। यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के हटाने के लिए लोकसभा में किसी प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो, तो उस समय अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को बोलने तथा दूसरे प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा और उसमें मत देने का अधिकार होगा। परन्तु अगर मत बराबर हैं तो निर्णायक मत (बिजपदह टवजम) देने का अधिकार नहीं होगा। भारत के संविधान में यह भी लिखा है कि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को वे सब वेतन और भत्ते मिलेंगे जो पार्लियामेंट निर्धारित करे।

अध्यक्ष के कार्य और शक्तियाँ 1. अध्यक्ष लोकसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है और इसकी कार्यवाही को चलाता है। 2 वह यह निर्णय करता है कि कौन सदन में बोलेगा और सभी लोग बोलने में अध्यक्ष को ही सम्बोधित करते हैं। 3. वह सदन में

अनुशासन और शांति कायम रखता है। वह किसी भी सदस्य को असंसदीय भाषा में बोलने

‘से को रोक सकता है और यदि कोई सदस्य, उसकी आज्ञा का पालन न करे तो वह उसे सदन से बाहर निकाल सकता है। इस हेतु सषस्त्र परिचारक (डंतींस वज्जीम भ्वनेम) अह युक्ष के कहने पर आज्ञा भंग करने वाले सदस्य को शक्ति प्रयोग द्वारा भी बाहर निकाल सकता है। 4. यदि सदन में अव्यवस्था इस हद तक पहुँच जाए कि सदन की कार्यवाही चलाना कठिन हो जाय तो वह (अध्यक्ष) सदन की कार्यवाही को स्थगित कर सकता है। 5. वह लोकसभा के नियमों का पालन करवाता है, मत गिनता है और फल बतलाता है। 6. वह यह निर्णय करता है कि कौन-सा बिल धन विधेयक हैं या नहीं। 7. जब कोई बिल संसद के दोनों सदनों से पास हो जाए, तो वह उस पर हस्ताक्षर करता है। 8. वह यह निर्णय करता है. कि कौन-से प्रश्न सदन में पूछे जा सकते हैं या नहीं। 9. संसद के दोनों सदनों का जब अधिवेशन होता है तो वह प्रधान पद धारण करता है। 10. वह लोकसभा के सदस्यों के विशेष अधिकारों की रक्षा करता है। 11. वह आमतौर पर अपना मत नहीं देता परन्तु यदि किसी प्रस्ताव के पक्ष तथा विपक्ष में समान मत हों, तो वह अपना एक निर्णायक मत (बँजपदह. टवजम) अवश्य दे सकता है। 12 वह राष्ट्रपति के सम्मुख लोकसभा का मुख्य प्रवक्ता होता है, अर्थात् वह राष्ट्रपति के सामने लोकसभा के निर्णयों को रखता है। 13. उसे यह भी निर्णय, करने की शक्ति प्राप्त है कि किसी सदस्य द्वारा पेश किया हुआ काम रोको प्रस्ताव नियम के अनुसार है या नहीं। 14. वह संसद की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को अपने विवेक के अनुसार निकाल सकता है जो उसकी समझ में अशुद्ध तथा असंसदीय हों। 15. यदि कोई सदस्य सदन की कार्यवाही में लगातार बाधा उपस्थित करे और अध्यक्ष के आदेशों को न मानें तो अध्यक्ष उसकी सदस्यता को निलम्बित कर सकता है।

‘16. वह प्रक्रिया सम्बन्धी विवादास्पद प्रश्नों पर अपना निर्णय देता है जो अन्तिम होता है। 17. वह दर्शकों के प्रवेश पर नियंत्रण लगा सकता है और सदन की दीर्घाओं (लससमतपमे) को खाली करा सकता है, यदि वहाँ से बहुत शोर आ रहा हो या सदन की कार्यवाही में अन्य कोई बाधा उपस्थित हो रही हो।

भारत के अध्यक्ष की स्थिति और उसकी इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के अध्यक्षों की स्थिति से तुलना भारत में लोकसभा के अध्यक्ष का दर्जा. बहुत सम्मान का है। उसको भारत का सातवाँ दर्जा प्राप्त है जो सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस के बराबर है। हमारे देश में लोकसभा अध्यक्ष के पद के बारे में काफी हद तक इंग्लैण्ड की परम्पराएँ अपनाने का यत्न किया गया है। इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ कामन्स (भ्वनेम वब्विउउवदे) के अध्यक्ष के बारे में ब्राइस ने लिखा है कि “ज्यों ही कोई व्यक्ति अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठता है, त्यों ही उससे यह आशा की जाती है कि वह सब दलों से अपना सम्बन्ध उ तोड़ लेगा। जब वह अध्यक्ष की पोशाक पहन लेता है, तो उसकी अपनी कोई राजनीतिक राय नहीं रहती है और उसको अपने राजनीतिक मित्रों तथा विरोधियों के साथ एक समान व्यवहार करना चाहिए।”

फ्रेडरिक आस्टिन ऑग ने लिखा है कि “सभा भवन के अन्दर ही नहीं, बल्कि बाहर भी अंग्रेजी स्पीकर दलबन्धियों की छाया मात्र से अलग रहता है। सार्वजनिक रूप से दलगत प्रश्नों पर वह अपना मत कभी व्यक्त नहीं करता है। वह अपने दल की सभा में कभी नहीं जाता है, उसका दल के समाचार पत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, वह अपने पुनर्निर्वाचन के लिए अभियान (बुचंपहद) नहीं करता है।” इसके विरुद्ध अमेरिका की प्रतिनिधि सभा (भ्वनेम वत्मिचतमेमदजंजपअमे) का अध्यक्ष बहुमत दल से सम्बन्धित होता है। वह बहुमत दल की सहायता से चुना जाता है और विरोधी दल उसके मुकाबले में अपना उम्मीदवार खड़ा करता है। जब वह अपने बहुमत दल की सहायता से चुना जाता है तो वह राजनीति

भारतीय शासन राजनीति

अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता और सदन में भी आवश्यकता के अनुसार अपने दल का पक्षपात करता है। भारत में अध्यक्ष की स्थिति अमेरिका और इंग्लैण्ड के अध्यक्षों के बीच की स्थिति है। इसका कारण यह है कि भारत में लोकसभा का अध्यक्ष न तो अपना सम्बन्ध राजनीति दलों से और राजनीति से इतना तोड़ लेता है जितना अमेरिका की प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष द्य भारत में अध्यक्ष अपने चुनाव के बाद अपने दल से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता है। बल्कि वह अपने दल की सदस्यता रखता है। परन्तु सक्रिय राजनीति (।बजपअम च्वसपजपबे) में भाग नहीं लेता है। वह सदन में सब दलों को बोलने का समान अवसर देता है और सदन की कार्यवाही अत्यन्त निष्पक्ष रूप से चलाता है।

जिस समय बाबू पुरुशोत्तम दास टण्डन उत्तर प्रदेश की विधानसभा के अध्यक्ष थे, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी “ अध्यक्ष पद के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि भारत में इंग्लैण्ड की प्रथा का अनुकरण किया जाए। सदन में स्पीकर निर्दलीय व्यक्ति के समान आचरण करे, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएँ रख सकता है।” इसी प्रकार के विचार स्वतंत्र भारत की लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष श्री जी. वी. मावलंकर के भी थे। लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री मावलंकर ने कहा था “भारत का स्पीकर इस समय उस प्रकार राजनीति से दूर नहीं रह सकता जिस प्रकार ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स का स्पीकर राजनीति से संन्यास ले लेता है। फिलहाल भारत का स्पीकर राजनीति में भाग लेता रहेगा यद्यपि राजनीतिक कार्यवाहियों में उसे सोच-समझकर थोड़ा और सीमित ही भाग लेना चाहिए। वह अपने दल का सदस्य बना रह सकता है किन्तु दल की विभिन्न कार्यवाहियों से उसे हाथ खींच लेना चाहिए, विशेषकर ऐसे मामलों में उसे विशेष रुचि नहीं लेनी चाहिए जो संसद में विचार के लिए आने वाले हों। संक्षेप में, उसे ऐसे किसी प्रचार कार्य में नहीं लगना चाहिए या अपने विचार इस प्रकार प्रकट नहीं करने चाहिए जिससे ऐसा प्रतीत हो कि स्पीकर किसी विशेष दल का आदमी है।” यही कारण है कि लोकसभा के अध्यक्ष की वह स्थिति हमारे देश में नहीं हो सकती जो इंग्लैण्ड में है। 18 दिसम्बर, 1954 ई. लोकसभा में अध्यक्ष के विरुद्ध प्रस्ताव पेश किया गया। प्रधानमन्त्री ने इस प्रस्ताव की निन्दा की और वह प्रस्ताव पास नहीं हो सका परन्तु इससे हमको इंग्लैण्ड और भारत में स्पीकर की स्थिति में अन्तर का पता लग जाता है। भारत में लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष और उनके पुनर्निर्वाचन (तम-मसमबजपवद) के बारे में भी रुढ़ियाँ स्थापित नहीं हुई हैं, जो इंग्लैण्ड में हुई हैं। इंग्लैण्ड में स्पीकर निर्विरोध चुना जाता है। सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के पुनर्निर्वाचन के समय विरोधी दल अपना उम्मीदवार खड़ा कर देते हैं। उदाहरणार्थ, एक बार लोकसभा के स्पीकर शण्मुखम चेट्टी को एक काँग्रेसी उम्मीदवार ने एक चुनाव में हरा दिया था। उसके बाद लोकसभा के अध्यक्ष के विरुद्ध सदैव अन्य दलों के उम्मीदवार चुनाव लड़ते रहे हैं। तीसरे आम चुनाव में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष अनन्त षयनम् आयंगर और उपाध्यक्ष सरदार हुक्मसिंह के विरुद्ध भी विरोधी उम्मीदवार खड़े हुए परन्तु अनन्त षयनम् आयंगर चित्तूर (आंध्र प्रदेश) और सरदार हुक्मसिंह पटियाला से लोकसभा के सदस्य तीसरे आम चुनाव में चुन लिए गए। इतना सब कुछ होते हुए भी हम कह सकते हैं कि लोकसभा के स्पीकर का पद बहुत सम्मान का है। स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, “वह सदन की शान है क्योंकि सदन राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतन्त्रता का प्रतीक बन जाता है। अतः यह ठीक है कि अध्यक्ष की सम्मानजनक स्थिति होनी चाहिए। उसकी स्वतन्त्र स्थिति होनी चाहिए और इस पद पर अत्यन्त योग्य तथा निष्पक्ष व्यक्ति आरुढ़ होने चाहिए।”

तीसरे आम चुनाव के बाद हुक्मसिंह को लोकसभा का अध्यक्ष चुन लिया और अनन्त

षयनम् आयंगर को बिहार का राज्यपाल (गवर्नर) नियुक्त कर दिया गया। मार्च 1971 के चुनाव के बाद श्री गुरबख्शसिंह ढिल्लों को लोकसभा का अध्यक्ष तथा श्री सीवेल को उपाध्यक्ष चुना गया।

अ. लोकसभा तथा राज्यसभा की शक्तियाँ और आपसी सम्बन्ध

भारतीय संसद की शक्तियाँ हमारी संसद राजसत्ताधारी नहीं हैं। क्योंकि राजसत्ता संविधान के पास है। हमारी संसद कोई ऐसा कानून नहीं बना सकती जो संविधान के विरुद्ध हो। यदि यह ऐसा कोई कानून गलती से बना दे तो सुप्रीम कोर्ट उस कानून को रद्द कर सकती है। संसद राज्य सूची पर भी कानून केवल उसी समय बना सकती है जब राष्ट्रपति संकटकालीन घोशणा कर दे या राज्यसभा 2/3 बहुमत से घोशणा कर दे कि राज्य सूची का कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का बन गया है। संसद संघसूची तथा समवर्तिसूची पर कानून बना सकती है।

संसद का बजट और मंत्रिपरिषद पर भी पूर्ण नियंत्रण रहता है। इसे संविधान में संशोधन करने और राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने में भाग लेने का अधिकार है। इसे उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट), हाई कोर्ट के जजों नियंत्रक महालेखा परीक्षक तथा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को हटाने का अधिकार है।

लोकसभा तथा राज्यसभा का धन (वित्त) विधेयक के बारे में सम्बन्ध (तमसंजपवद विसवा ईं दक त्रल ईं तमहतकपदह उवदमल इपससे) – लोकसभा तथा राज्यसभा की शक्तियाँ धन (वित्त) विधेयक के बारे में बराबर नहीं हैं। लोकसभा धन विधेयक सम्बन्धी मामलों में राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है। संविधान में लिखा है कि धन विधेयक केवल लोकसभा में ही सबसे पहले पेश किया जा सकता है। वित्त विधेयक लोकसभा में प्रायः वित्तमंत्री द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है किन्तु उसकी अनुपस्थिति में किसी अन्य मंत्री द्वारा धन विधेयक रखा जा सकता है, परन्तु उसे कोई भी ऐसा व्यक्ति पेश नहीं कर सकता है जो मंत्री नहीं है। धन विधेयक या बजट प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री द्वारा तैयार कराते हैं और राष्ट्रपति की सिफारिशों पर लोकसभा के सामने रखवाते हैं। धन विधेयक प्रायः नए टैक्स लगाने अथवा पुराने टैक्सों को बदलने, रद्द करने, क्षमा करने या संशोधित करने के बारे में होता है। सूद लेने या देने, ऋण लेने या देने अथवा धन सम्बन्धी और कोई गारण्टी देने का सम्बन्ध भी धन विधेयक से ही होता है। यदि लोकसभा ने बजट को पास कर दिया हो और राज्यसभा उसको चौदह दिन के अन्दर पास न करे तो भी बजट दोनों सदनों द्वारा पास समझा जाएगा। इससे पता चलता है कि धन सम्बन्धी मामलों में वास्तविक शक्तियाँ केवल लोकसभा के पास हैं। राज्यसभा तो बजट पर केवल वाद-विवाद कर सकती है और अपने उपयोगी सुझाव लोकसभा को दे सकती है। लोकसभा की इच्छा पर निर्भर हैं कि वह उनको माने या न माने। अतः यहां पर हमारी राज्यसभा की स्थिति इंग्लैण्ड के हाउस आफ लार्ड्स से मिलती-जुलती है जो राज्यसभा की तरह ही धन सम्बन्धी मामलों में निर्बल सदन है। अमेरिका की सीनेट हमारी राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है क्योंकि वहाँ सीनेट प्रतिनिधि

सभा द्वारा पास किए धन विधेयक में इच्छानुसार संशोधन कर सकता है।

लोकसभा और राज्यसभा का अवितीय या साधारण विधेयकों के बारे में आपसी सम्बन्ध – साधारण या अवितीय विधेयकों के बारे में दोनों सदनों की शक्तियाँ बराबर हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी में भी पहले पेश किए जा सकते हैं। उनके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वे मंत्रियों द्वारा ही पेश किए जाएँ। वे मंत्रियों द्वारा पेश किये जा सकते हैं और पार्लियामेंट के ऐसे सदस्यों द्वारा भी जो मंत्री नहीं हैं। यदि दोनों सदनों में किसी बिल के बारे में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो उस समय राष्ट्रपति उनकी संयुक्त बैठक बुला सकता है। संयुक्त बैठक में लोकसभा का अध्यक्ष प्रधान पद धारण करेगा। वहाँ पर दोनों सदन बहुमत से उस बिल को पास कर सकते हैं या संशोधन कर सकते हैं अथवा अस्वीकार कर सकते हैं। इस संयुक्त बैठक में लोकसभा को यह लाभ रहेगा कि उसकी संख्या राज्यसभा से दुगुनी से भी अधिक है। अतः यदि लोकसभा किसी मामले पर अड़ जाए तो यह साधारण मामलों में भी अपनी मनमानी कर सकती है। 1961 ई० में राज्यसभा और लोकसभा दहेज विधेयक के बारे में गतिरोध उत्पन्न हो गया था। इसे दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में हल किया गया। इस तरह से हम कह सकते हैं कि राज्यसभा का साधारण विधेयकों के बारे में शक्तियाँ लोकसभा के बराबर होते हुए भी व्यवहार में उसकी स्थिति इतनी मजबूत नहीं जितनी लोकसभा की है।

भारतीय शासन राजनीति

लोकसभा और राज्यसभा का कार्यपालिका पर नियंत्रण – जहाँ तक मंत्रिपरिषद् का सम्बन्ध है, वह केवल लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है न कि राज्यसभा के प्रति। पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क इत्यादि के नवीन संविधानों में भी मंत्रिपरिषद् को केवल निचले सदन के प्रति ही जिम्मेदार बनाया गया है। इंग्लैण्ड में यद्यपि अलिखित संविधान है, परन्तु वहाँ पर मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से केवल हाउस आफ कामन्स के प्रति ही जिम्मेदार है। इसका यह अर्थ है कि इंग्लैण्ड में हाउस आफ लार्ड्स के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं, परन्तु उन्हें मंत्रियों को हटाने का कोई अधिकार नहीं है। हमारे देश में भी यही स्थिति है। राज्यसभा के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मंत्रियों को हटाने का कोई अधिकार नहीं है। लोकसभा मंत्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकती है। वह मंत्रियों के विरुद्ध कामरोको प्रस्ताव तथा निन्दा प्रस्ताव पास कर सकती है और मंत्रियों के कार्यों अथवा शासन सम्बन्धी भ्रष्टाचार की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त कर सकती है। अतः मंत्रिपरिषद् पर जितना नियन्त्रण लोकसभा का रहता है उतना राज्यसभा का नहीं।

लोकसभा तथा राज्यसभा के अन्य कार्य तथा शक्तियाँ पार्लियामेंट के दोनों सदन राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनावों में भाग लेते हैं। उनको राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाने की भी शक्ति प्राप्त है। यदि राज्यसभा उपराष्ट्रपति के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर दे और लोकसभा उससे सहमत हो जाए तो उपराष्ट्रपति को हटाया जा सकता है। पार्लियामेंट को सुप्रीम कोर्ट तथा हाई कोर्ट के जज, नियंत्रक महालेखा परीक्षक और मुख्य चुनाव आयुक्तों तथा प्रादेशिक चुनाव आयुक्तों को भी हटाने का अधिकार है। राष्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति की घोषणा की मंजूरी भी पार्लियामेंट के दोनों सदनों

से लेनी पड़ती है। संविधान के संशोधन में भी दोनों सदन भाग लेते हैं।

राज्यसभा की उपयोगिता – ऊपर दिए गए विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्यसभा एक व्यर्थ सदन नहीं है। चाहे इसे धन सम्बन्धी और कार्यपालिका के नियंत्रण में थोड़ी शक्तियाँ प्राप्त हैं। गोपाल स्वामी आयंगर ने एक बार कहा था “संविधान के निर्माताओं का राज्यसभा को बनाये रखने का उद्देश्य यह था कि यह सदन महत्वपूर्ण मामलों पर शानदार वाद-विवाद करे और उन बिलों को पास करने में देरी उत्पन्न करे जो धीघ्रता से निचले सदन लोकसभा में जोष से पास कर दिए जाते हैं।” यद्यपि राज्यसभा में प्रत्येक राज्य को बराबर का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है तथापि इसकी अनुमति के बिना संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व अथवा केन्द्र और राज्यों में शक्तियों के बंटवारे में कोई तब्दीली नहीं हो सकती है। यदि राष्ट्रीय हित में संसद राज्यसूची पर शान्ति काल में

4 कानून बनाना चाहे तो भी ऐसा राज्यसभा की अनुमति से ही किया जा सकता है। राज्यसभा – इस हेतु 2६३ बहुमत से एक प्रस्ताव पास करती है। जब राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर देते हैं तो राज्यसभा उस समय भी रहती है और राष्ट्रपति को अपनी संकटकालीन घोषणा की मंजूरी उससे लेनी पड़ती है। अतः राज्यसभा लोकसभा द्वारा जल्दी पास किए हुए विधेयको पर नियंत्रण लगाकर राज्य के हितों का संरक्षण करके और राष्ट्रपति को संकटकालीन घोषणाओं पर अंकुष लगाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकती है। इसके अतिरिक्त राज्यसभा में 12 सदस्य विशेष योग्यता के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। हमारी राज्यसभा में इस आधार पर स्व. महाकवि मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर और स्व. सरदार पणिकर नियुक्त किए गए थे। जब लोकसभा राष्ट्रपति पर महाभियोग के समय आरोप लगाती है तो राज्यसभा उन आरोपों की जाँच करती है। उस समय राज्यसभा एक न्यायालय के रूप में कार्य करती है। राज्यसभा में बहस का स्तर लोकसभा से काफी ऊँचा रहता है। वहाँ पर प्रत्येक विधेयक पर शान्तिपूर्वक विचार होता है। अतः ऊपर लिखे हुए कारणों से राज्यसभा की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

टप. संसद की शक्तियाँ और उनकी सीमाएँ

1. कानूनी शक्तियाँ— हमारे देश में कानूनी मामलों में संसद के पास राज्यसत्ता नहीं है। हमारे देश में संसद का साधारण तरीके से संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। संसद को केवल साधारण कानूनों को संशोधित करने, बनाने और रद्द करने का अधिकार है।

राज्य सूची पर भी कानून बनाने का अधिकार प्रायः नहीं है — यह अधिकार केवल राज्य विधानमण्डलों को ही दिया गया है, परन्तु यदि राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दें कि राज्यसूची का कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का बन गया है तो संसद को कुछ समय के लिए उस विषय पर भी कानून बनाने का अधिकार होगा। यदि राष्ट्रपति संकटकालीन अवस्था की घोषणा कर दे तो भी संसद को राज्यसूची पर कानून बनाने का अधिकार हो जायेगा।

जब संसद किसी बिल को पास कर देती है तो यह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति या तो उस विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे अपनी स्वीकृति दे देता है या उस पर अपने निषेध अधिकार का प्रयोग करता है। इसका यह अभिप्राय है कि यदि राष्ट्रपति किसी विधेयक को पसन्द नहीं करता है तो वह उस विधेयक पर अपने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर देता है और उस विधेयक को अपने तर्कों सहित संसद के पास पुनर्विचार के लिए भेज देता है। यदि संसद उस बिल को मौलिक रूप से या संशोधित रूप से दुबारा पास करती है तो राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नहीं कर सकता।

2. वित्तीय मामलों पर नियन्त्रण संसद का वित्तीय मामलों पर भी बहुत नियन्त्रण है। प्रतिवर्ष 31 मार्च से पूर्व वित्तमंत्री संसद के सामने बजट पेश करता है। इसमें गत वर्ष की आय तथा खर्च के अतिरिक्त आगामी वर्ष के खर्च तथा आमदनी का अनुमान होता है। बजट के लिए संसद की स्वीकृति लेना परम आवश्यक है। भारत की संचित निधि. ज (बवदेवसपकंजमक निदक) से होने वाले खर्च में पार्लियामेंट कोई कटौती नहीं कर सकती है। इस खर्च के अतिरिक्त संसद की स्वीकृति के बिना सरकार द्वारा कुछ भी खर्च नहीं किया जा सकता और न ही नए टैक्स लगाए जा सकते हैं।

3. मंत्रिमण्डल पर नियन्त्रण — संसद का कार्यपालिका पर भी पूर्ण नियन्त्रण है। संविधान में कहा गया है कि मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। लोकसभा मंत्रियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव ला सकती है, उनके वेतन में कटौती प्रस्ताव ला सकती है तथा मंत्रियों के हटा भी सकती है। संसद मंत्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न भी पूछ सकती है।

4. संविधान में, कुछ विषय ऐसे रखे गये हैं, जिनके संशोधन के विषय में राज्यों के

विधानमण्डलों से स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं है और उन विषयों में संसद के दोनों सदन कुल संख्या के बहुमत और उपस्थिति तथा मतदात देने वाले सदनों के दो तिहाई बहुमत से संशोधन कर सकते हैं।

संसद

5. राष्ट्रपति के चुनाव और महाभियोग में भाग लेने का अधिकार राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनाव में संसद भाग लेती है। उपराष्ट्रपति के चुनाव में केवल संसद ही भाग लेती है, परन्तु राष्ट्रपति के चुनाव में संसद के अतिरिक्त विधान सभाएँ भी भाग लेती हैं। संसद का एक सदन राष्ट्रपति पर आरोप लगा सकता है और दूसरा सदन उसकी जांच-पड़ताल कर सकता है।

भारतीय शासन राजनीति

6. उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीशों तथा महानियन्त्रक लेखा परीक्षक (आडिटर जनरल) को भी संसद के विषेश बहुमत द्वारा हटाया जा सकता है। टप. संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया

विधेयक दो प्रकार के होते हैं— धन विधेयक तथा साधारण विधेयक । दोनों के बनने की अलग-अलग विधियाँ हैं । पहले हम धन विधेयक के बारे में विचार करते हैं ।

धन विधेयक अथवा बजट के पास करने की प्रक्रिया — यह पहले बताया जा चुका है कि धन विधेयक का सम्बन्ध किसी नए कर को लगाने, पुराने कर को हटाने और संशोधित करने से होता है। यदि भारत की संचित निधि या आकस्मिक नीधि में कुछ धन डालने या निकालने अथवा भारत सरकार के ऋण लेने या किसी आर्थिक भार में तब्दीली करने के सम्बन्ध में कोई नया नियम बनाया जाए, तो वह धन भी विधेयक कहलायेगा। इसके अतिरिक्त भारत की संचित नीधि से होने वाल खर्च भी इसमें शामिल हैं। यदि प्रश्न उठे कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उसके सम्बन्ध में लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम समझा जायेगा ।

हमारे संविधान में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि धन विधेयक या बजट सबसे पहले लोकसभा के सामने रखा जाए। प्रतिवर्ष नया वित्तीय वर्ष आरम्भ होने से पहले अर्थात् पहली अप्रैल से पूर्व बजट वित्तमंत्री द्वारा तैयार किया जाता है और राष्ट्रपति की सिफारिशों के अनुसार पहले लोकसभा के सामने रखा जाता है। वित्तमंत्री बजट तैयार करने से पहले प्रत्येक विभाग में मंत्री से उस विभाग के सम्बन्ध में अनुमानों या प्राक्कलनों को मंगवाता है ! यदि वित्तमंत्री और किसी अन्य मंत्री में इन मांगों के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाए तो यह मामला सारे मंत्रिमण्डल के सामने आता है और इस विषय में प्रधानमंत्री का निर्णय अन्तिम होता है।

बजट के दो भाग भारत में बजट या वार्षिक वित्त-विवरण लोकसभा के सामने दो भागों में पेश किया जाता है। इनमें एक तो रेलवे का बजट और दूसरा सामान्य बजट होता है। रेलवे बजट में केवल रेलों के आगामी वर्ष की अनुमानित आमदनी और खर्चों का वर्णन रहता है। रेलवे का बजट लोकसभा में रेल मंत्री द्वारा पेश किया जाता है। सामान्य बजट में रेलों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के सब मंत्रालयों के आगामी वर्ष के अनुमानित खर्चों और आमदनी शामिल होती है। सामान्य बजट लोकसभा में वित्तमंत्री द्वारा पेश किया जाता है। दोनों बजटों का स्वरूप और पास होने का तरीका एक ही प्रकार का है।

यद्यपि हमारे देश में बजट के बारे में प्रक्रिया इंग्लैण्ड से ली गई है परन्तु एक महत्वपूर्ण अन्तर अवश्य है इंग्लैण्ड में बजट के ऊपर सारे हाउस ऑफ कॉमन्स की एक समिति विचार करती है। उस समय वहाँ पर स्पीकर प्रधान पद धारण नहीं करता है, बल्कि सारे सदन की समिति का चेयरमैन ही अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठता है। हमारे देश में सारा

सदन एक समिति में रूप में बजट पर विचार करने के लिए नहीं बैठता है। बल्कि स्पीकर की अध्यक्षता में ही बजट पर सारे सदन में विचार होता है। सामान्य बजट के दो भाग होते हैं— 1. भारत की संचित निधि से होने वाला खर्च, जिसको भारित व्यय भी कहा जाता है। 2. अभांरित व्यय अर्थात् साधारण खर्च य अब हम इन दोनों प्रकार के खर्चों का वर्णन नीचे देते हैं।

भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च — निम्नलिखित खर्च भारित व्यय कहलाते हैं—

1. राष्ट्रपति के वेतन भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्ध रखने वाले अन्य खर्च ।
2. लोकसभा तथा राज्यसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते ।

3. उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीशों तथा भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के वेतन भत्ते और पेंशन ।

4. ऋण सम्बन्धी खर्च 1.

5. ऐसे अन्य खर्च जिनको संविधान अथवा संसद के किसी कानून द्वारा भारित व्यय में रख दिया गया हो, जैसे उच्चतम न्यायालय के संघटन का पूरा व्यय और रियासतों के राजाओं को दी जाने वाली निजी पेंशन ।

6. संघीय न्यायालय (फेडरल कोर्ट) के न्यायाधीशों की पेंशन (संघीय न्यायालय 1937 ई. से 1950 तक कार्य करता रहा । नये संविधान के लागू होने के बाद इसको सुप्रीम कोर्ट में बदल दिया गया) ।

7. ऐसी अन्य राशि जो किसी न्यायालय के निर्णय या आदेश को लागू करने के लिए आवश्यक हो ।

भारित व्यय पर संसद के दोनों सदन बहस तो कर सकते हैं, परन्तु मतदान नहीं कर सकते । संविधान के संशोधन के बिना इन खर्चों में पार्लियामेंट किसी प्रकार की कोई कटौती नहीं कर सकती है ।

अभारित व्यय — ऊपर लिखे हुए खर्चों के अतिरिक्त सरकार के पेश खर्च अभारित व्यय कहलाते हैं । इसके सम्बन्ध में पार्लियामेंट की स्वीकृति की आवश्यकता है । उन्हें लोकसभा के सामने वित्तमंत्री अनुदान के लिए मांगों के रूप में रख सकते हैं । बजट पर विचार वित्तमंत्री के भाषण से आरम्भ होता है । अपने बजट भाषण में वित्तमंत्री राष्ट्र की वित्तीय स्थिति और नीति का जिक्र करते हैं और पुराने टैक्सों में परिवर्तन या नए टैक्सों को लगाने का सुझाव रखते हैं ।

बजट पर साधारण वाद विवाद — वित्तमंत्री के भाषण के बाद बजट के सिद्धान्तों पर लोकसभा में बहस होती है । इस हेतु प्रायः तीन-चार दिन निश्चित कर दिए जाते हैं । इस समय आमदनी और खर्च की विस्तृत बातों के सम्बन्ध में विचार नहीं होता है और न ही किसी प्रकार का कटौती प्रस्ताव ही पेश किया जा सकता है । इस समय विरोधी दल के सदस्यों को सरकार की वित्तीय नीति और शासन की आलोचना करने का भी अवसर मिल जाता है ।

मारिस जोन्स ने लिखा है कि “यह ऐसा अवसर होता है जिस पर सदन अपने मन की बात खुलकर कह सकता है और इस अवसर पर सरकार को यह भी पता लग जाता है कि वित्तीय सुझावों के विभिन्न स्तरों पर सरकारी माँगों को किस प्रकार ग्रहण किया जाने वाला है ।” बाद में लोकसभा को यह अधिकार है कि अनुदान के लिए माँगों को स्वीकार कर दे या अस्वीकार कर दे या घटा दे । लोकसभा के निजी सदस्यों को किसी नए खर्च का प्रस्ताव करने या किसी खर्च का बढ़ाने का अधिकार नहीं है । इसीलिए किस मद पर कितना

खर्च किया जाए इस पर कार्यपालिका का नियन्त्रण है । हमारी ये परम्पराएँ इंग्लैण्ड से मिलती जुलती हैं । वहाँ पर भी हाउस ऑफ कॉमन्स के किसी निजी सदस्य को किसी नई रकम का प्रस्ताव रखने या अन्य रकम को बढ़ाने का अधिकार नहीं है ।

विनियोग विधेयक जब ये माँगें लोकसभा द्वारा स्वीकृत हो जाती हैं तो फिर संचित निधि पर भारित व्यय सहित अनुदानों के लिए ये माँगें (क्वमंडके वित्त ळतंदजे) एक विनियोग विधेयक के रूप में लोकसभा के सामने पेश की जाती हैं । इनमें संचित निधि पर भारित व्यय तथा अनुदान के लिए माँग स्पष्ट रूप से दिखाई जाती हैं और इसमें अब कोई ऐसा संशोधन नहीं किया जा सकता जिससे किसी अनुदान या भारित व्यय में कोई तब्दीली आ जाए । इसके पश्चात विनियोग विधेयक पास कर दिया जाता है । विनियोग विधेयक के पास होने के बिना संचित निधि से कुछ भी खर्च नहीं किया जा सकता ।

भारतीय शासन राजनीति

वित्तीय विधेयक इन माँगों के स्वीकार होने के बाद सरकार को लोगों पर टैक्स लगाने की आवश्यकता होती है। विशेष टैक्स लगाने, बढ़ाने या घटाने के सम्बन्ध में सरकारी प्रस्ताव लोकसभा के सामने वित्त विधेयक के रूप में रखे जाते हैं। इन करों के सुझावों को लोकसभा के सदस्य स्वीकार कर सकते हैं या अस्वीकार कर सकते हैं अथवा उनको घटा सकते हैं परन्तु उनको बढ़ा नहीं सकते। वे कोई नया टैक्स लगाने के लिए सुझाव भी नहीं रख सकते हैं। इस विधेयक के पास होने के बाद सरकार को जनता पर नए टैक्स लगाने अथवा पुराने टैक्सों को हटाने या उनमें बजट के अनुसार किसी प्रकार का अन्य परिवर्तन करने का अधिकार मिल जाता है, परन्तु नए टैक्स राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद ही लगाए जाते हैं।

राज्यसभा में धन विधेयक जब विनियोग विधेयक और वित्तीय विधेयक लोकसभा द्वारा पास हो जाते हैं तो ये राज्यसभा के पास भेजे जाते हैं। राज्यसभा के पास भेजने से पूर्व इन पर लोकसभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं। राज्यसभा में भी लोकसभा की तरह बजट पर विचार होता है। परन्तु धन विधेयक के बारे में वास्तविक शक्तियाँ लोकसभा के पास हैं। राज्यसभा को 14 दिन के अन्दर अपनी सिफारिशों सहित धन विधेयक लोकसभा के पास वापस भेजना पड़ता है। लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि राज्यसभा की उन सिफारिशों को मानें या न माने। यदि राज्यसभा किसी धन विधेयक को 14 दिन के अन्दर वापस नहीं करती है तो यह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास समझा जाता है।

राष्ट्रपति की अनुमति जब धन विधेयक (विनियोग विधेयक तथा वित्तीय विधेयक) संसद के दोनों सदनों द्वारा पास हो जाते हैं तो ये राष्ट्रपति के पास अनुमति के लिए भेजे जाते हैं। राष्ट्रपति को धन विधेयकों के बारे में किसी प्रकार का निशेधाधिकार प्राप्त नहीं है। अतः धन विधेयक पर उन्हें अपनी अनुमति देनी पड़ती है। राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों के बाद, ये विधेयक कानून बन जाते हैं। यदि बजट के पहली अप्रैल से पूर्व पास होने की आशा न हो तो सरकार के खर्चे चलाने के लिए पार्लियामेंट कुछ पेशगी रकम मंजूर कर देती है, इसको लेखानुदान कहा जाता है।

यदि बजट में प्रस्तावित करों से सरकार का काम न चले तो वह पार्लियामेंट से कुछ पूरक या अधिक अनुदान भी मंजूर करवा लेती है। इसके बाद आइये हम पार्लियामेंट में साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया समझें।

साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया (क्षेत्रबलमकनतम वचिच्यदह

क्षकपदंतल ठपससे)

जो विधेयक धन विधेयक नहीं होते हैं, उनको प्रायः साधारण विधेयक कहा जाता है। साधारण विधेयकों को पास करने का तरीका धन विधेयकों से बिल्कुल भिन्न है। साधारण विधेयक मंत्रियों अथवा संसद के निजी सदस्यों द्वारा संसद के किसी सदन में भी रखे जा सकते हैं। साधारण विधेयकों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे पहले लोकसभा में ही रखे जायें।

विधेयक की तैयारी – यद्यपि साधारण या अवितीय विधेयक निजी सदस्यों द्वारा भी सदन में पेश किये जा सकते हैं, परन्तु अधिकतर बिल सरकारी सदस्यों अर्थात् मंत्रियों द्वारा ही पेश किये जाते हैं। जिस मंत्रालय को किसी प्रकार के कानून की आवश्यकता होती

1. वह पहले विधेयकों की सहायता से उसे तैयार कराता है। बाद में उस बिल को मंत्रिपरिषद की बैठकों में अन्तिम रूप दिया जाता है। इसके बाद बिल पार्लियामेंट के किसी भी सदन में रखा जा सकता है। कुछ बिल ऐसे भी होते हैं जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रपति की पूर्व आज्ञा की आवश्यकता होती है। जो प्रायः मिल जाती है।

बिल को पास होने के लिए निम्नलिखित अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है— पुर्नस्थापना तथा प्रथम वाचन जिस सदन में भी बिल को पेश करना होता है, उस सदन के सचिवालय में उस बिल की कापी पहले भेजनी पड़ती है। बिल को

शुरू करने से पहले एक महीने का नोटिस सदन के अध्यक्ष को देना पड़ता है। सदन के काम-काज को ध्यान में रखकर अध्यक्ष एक तिथि निश्चित कर देता है। निश्चित तिथि को बिल का प्रस्तावक (पेश करने वाला सदस्य) अपनी सीट से उठकर बिल का शीर्षक पढ़ते हुए कहता है “ अध्यक्ष महोदय ! मुझे विधेयक की पुर्नस्थापना की आज्ञा दीजिए” । .

इस पर अध्यक्ष सदन से यह कहता है— प्रस्ताव पेश हो चुका है। अनुमति दी जाए। सामान्यतः सदन अपनी आवाज से विधेयक की पुर्नस्थापना की स्वीकृति दे देता है। इसके बाद प्रस्तावक उठकर कहता है, “श्रीमान्! मैं विधेयक की पुर्नस्थापना करता हूँ। आमतौर पर किसी बिल की पुर्नस्थापना या उसका प्रथम वाचन एक ही चीज है। वास्तव में वे केवल औपचारिकता मात्र हैं। इस समय प्रायः वाद-विवाद नहीं होता है। ऐसी परम्परा अब भारत में बन गई है, परन्तु एक-दो बार यह परम्परा टूट भी चुकी है। उदाहरणस्वरूप, 23 नवम्बर, 1954 ई. को निवारक निरोध संघोदन अधिनियम का इस आधार पर विरोध किया गया कि यह संविधान के विरुद्ध है। गत वर्षों में कुछ विधेयकों का इस आधार पर भी विरोध किया गया कि सदन को उन पर कानून बनाने का अधिकार नहीं है। ऐसी परिस्थिति में सदन का अध्यक्ष विधेयक के प्रस्तावक को और उस विधेयक के विरोध करने वाले सदस्य को विधेयक के सम्बन्ध में अपनी बात कहने का अवसर दे देता है। यदि सदन का कोई सदस्य किसी बिल के बारे में कोई वैधानिक आपत्ति उठाता है, तो सदन का अध्यक्ष पुर्नस्थापना के समय ही पूरे वाद-विवाद की आज्ञा दे सकता है। वाद-विवाद में भारत का महान्यायवादी भी भाग ले सकता है।

जब बिल की पुर्नस्थापना हो चुकती है तो बिल को भारतीय गजट में छापा जाता है। सदन का अध्यक्ष बिल के प्रस्तावक की प्रार्थना पर उस बिल को भारतीय गजट में पुर्नस्थापना से पहले भी छपवा सकता है। ऐसी स्थिति में बिल की पुर्नस्थापना की आवश्यकता नहीं रहती है ।

विधेयक का दूसरा वाचन — ज्यों ही किसी बिल की पुर्नस्थापना पूरी हो चुकती है और उस बिल की कापियाँ सदन के सदस्यों में बाँट दी जाती हैं। उसका दूसरा वाचन शुरू हो जाता है। आमतौर पर किसी बिल की पुर्नस्थापना तथा दूसरे वाचन में दो दिन का अन्तर रहता है । परन्तु यदि सदन के अध्यक्ष की तसल्ली हो जाए कि विधेयक अत्यावश्यक है तो वह उस बिल के दूसरे वाचन की तुरन्त आज्ञा दे देता है। उस समय विधेयक का

स्वप्रगति की जाँच करें : 3. भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च स्पष्ट करें?

4. भारतीय संसद में किसी बिल को पास हाहने के लिए कितनी अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है?

प्रस्तावक निम्नलिखित प्रस्तावों में से कोई भी एक प्रस्ताव रखता है—

विधेयक पर तुरन्त विचार किया जाए

विधेयक प्रवर समिति के पास भेजा जाए।

विधेयक पर जनमत जानने के लिए उसे प्रसारित किया जाए।

सदन के सदस्य प्रस्तावक की इच्छा के विरुद्ध ऊपर लिखे हुए तीन प्रस्तावों के अतिरिक्त कोई अन्य प्रस्ताव भी पेश कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप यदि बिल का प्रस्तावक बिल पर तुरन्त विचार करने का प्रस्ताव रख सकता है— यदि सदन द्वारा यह सत्य हो जाए कि बिल

भारतीय शासन राजनीति

को जनमत के लिए प्रसारित किया जाए तो सदन का सचिवालय राज्य सरकारों से उस बिल को राज्यों के गजट में छापने और उस बिल पर निश्चित तिथि तक सार्वजनिक संस्थाओं, स्थानीय संस्थाओं और अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के विचार लेने के लिए कहता है। जब महत्वपूर्ण लोगों और संस्थाओं की सम्मतियाँ इस तरह सदन के पास आ जाती हैं तो वे सम्मतियाँ संक्षिप्त रूप में सदन में प्रसारित कर दी जाती हैं। इसके बाद बिल का प्रस्तावक सदन में यह प्रस्ताव रखता है कि बिल को विचारार्थ किसी प्रवर समिति या किसी संयुक्त प्रवर समिति के पास भेजा जाये। इस प्रस्ताव के बाद बिल पर वाद विवाद होता है। इस अवस्था में केवल बिल के सिद्धान्तों पर वाद विवाद होता है और उसकी प्रत्येक धारा पर सूक्ष्म रूप से वाद विवाद नहीं होता। इस अवस्था में संशोधन नहीं किये जा सकते।

समिति स्तर – यदि सदन के विधेयक को प्रवर समिति में भेजने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो एक समिति विधेयक पर विचार हेतु नियुक्त की जाती है। समिति के सदस्यों के नाम प्रस्ताव में ही निश्चित कर दिए जाते हैं और समिति की रिपोर्ट के लिए भी तारीख निर्धारित कर दी जाती है। इस समिति में बिल का प्रस्तावक अवश्य होता है। प्रवर समिति का चेयरमैन सदन के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है और वह प्रायः बहुमत दल का सदस्य होता है। यदि सदन का उपाध्यक्ष किसी प्रवर समिति में होता है तो वही प्रवर समिति के चेयरमैन के रूप में कार्य करता है और उस समय सदन के अध्यक्ष को प्रवर समिति के चेयरमैन को नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रवर समिति के सदस्यों की संख्या 20 और 30 के बीच में रहती है, परन्तु कभी कभी यह 35 तक भी पहुँच जाती है। प्रवर समिति की बैठकों के लिए कम से कम 1 & 3 सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है।

प्रवर समिति विधेयक के सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुए बिल में कोई उपयोगी संशोधन न कर सकती है। (विधेयक के सिद्धान्त चूंकि सदन द्वारा पहले ही तय किये जा चुके होते हैं, इसलिए समिति उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकती है)। प्रवर समिति विधेयक पर बहुत सूक्ष्म रीति से विचार करती है। प्रवर समिति बिल के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए किसी की गवाही सुन सकती है और विपक्षों की सम्मति भी ले सकती है। जब प्रवर समिति बिल की प्रत्येक धारा पर विचार कर चुकती है तो यह अपनी रिपोर्ट सदन में पेश करती है। रिपोर्ट पर चेयरमैन के हस्ताक्षर होते हैं।

प्रतिवेदन स्तर

प्रवर समिति की रिपोर्ट इसके चेयरमैन तथा उसकी अनुपस्थिति में प्रवर समिति के किसी अन्य सदस्य द्वारा सदन में पेश की जाती है। इसके बाद प्रवर समिति की रिपोर्ट तथा संशोधित बिल छाप दिया जाता है और इसकी कापियाँ सदन के सभी सदस्यों को दे दी जाती हैं। इसके पश्चात बिल का प्रस्तावक निम्न प्रस्ताव रख सकता है:

1. प्रवर समिति द्वारा रिपोर्ट किये हुए बिल पर विचार किया जाय, अथवा 2. प्रवर समिति द्वारा रिपोर्ट किए हुए बिल को प्रवर समिति के पास सदन के अनुदेशों सहित या

उनके बिना विचार के लिए दुबारा भेजा जाय, अथवा 3. समिति द्वारा रिपोर्ट किए हुए बिल को जनमत के लिए पुनः प्रसारित किया जाए।

यदि सदन बिल पर उसी रूप में विचार करना स्वीकार कर लेता है जिस तरह वह प्रवर समिति द्वारा संशोधित रूप में पेश किया गया है तो फिर उसकी प्रत्येक धारा पर बहुत सूक्ष्म रूप में विचार होता है। सदन के सदस्य अपना कोई नया सुझाव भी दे सकते हैं। इस अवस्था में बहुत गरमागरम बहस होती है।

बिल की यह अवस्था सबसे महत्वपूर्ण है, इसके बाद बिल की प्रत्येक धारा पर मतदान लिया जाता है। जब बिल इस तरह पास हो जाता है तो कुछ समय बाद उसका तीसरा वाचन होता है।

बिल का तीसरा वाचन यह विधेयक की किसी सदन में अन्तिम अवस्था होती है। इस समय विधेयक की प्रत्येक धारा पर बहस तथा मतदान नहीं होता है। इस अवस्था में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर केवल बहस होती है और भाषा की अशुद्धियों को दूर करने के लिए कुछ संशोधन रखे जा सकते हैं। इसके पश्चात् सारे विधेयक पर मतदान होता है। इस अवस्था में या तो सारा विधेयक अस्वीकार किया जा सकता है या स्वीकार किया जाता है। परन्तु ऐसी परम्पराएँ या प्रथाएँ स्थापित हो गई हैं कि इस अवस्था में विधेयक प्रायः अस्वीकार नहीं किए जाते।

दूसरे सदन में बिल सदन में भेजा जाता है।

जब विधेयक एक सदन में पारित हो जाता है तो यह दूसरे विधेयक को वहाँ पर भी इन्हीं सब अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। जब दूसरा सदन भी इस विधेयक को पास कर देता है तो यह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है।

यदि किसी विधेयक को एक सदन ने पास कर दिया और दूसरा सदन इस विधेयक को अस्वीकार कर देता है या दूसरा सदन ऐसे संशोधन पेश करता है। जिनसे पहला सदन सहमत नहीं है अथवा दूसरा सदन छः मास तक इसे पास नहीं करता है तो उस समय दोनों सदनों में गतिरोध या असहयोग उत्पन्न हो जाता है।

चूँकि संविधान में कहा गया है कि साधारण विधेयकों के बारे में दोनों सदनों की शक्तियाँ बराबर हैं और कोई बिल तब तक कानून नहीं बन सकता, जब तक यह दोनों सदनों द्वारा पास न हो जाए। अतः राष्ट्रपति दोनों सदनों के गतिरोध को दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है। उस समय लोकसभा का अध्यक्ष दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का सभापतित्व करता है। जब कोई विधेयक ऐसे संशोधनों सहित जिनको संयुक्त बैठक में स्वीकार कर लिया गया हो, दोनों सदनों के उपस्थित तथा मत देने वाले समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित हो जाता है तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया हुआ समझा जाता है।

राष्ट्रपति की अनुमति – जब कोई बिल दोनों सदनों द्वारा पास हो जाता है तो उस पर राष्ट्रपति की अनुमति लेना परमावश्यक है वरना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता है। जब कोई विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है तो राष्ट्रपति या तो अपनी अनुमति दे देते हैं अथवा वे अपने संशोधन सहित विधेयक को संसद के पास पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं। राष्ट्रपति अपनी अनुमति देते हैं तो वह विधेयक कानून बन जाता है। यदि राष्ट्रपति विधेयक को संसद को पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं और संसद उसको अपने बहुमत से दुबारा पास कर देती है तो राष्ट्रपति को उस विधेयक पर अपनी अनुमति देनी पड़ेगी। राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के बाद यह विधेयक कानून बन जाता है। इसके पश्चात् उस विधेयक को सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

सारांश – जब कोई बिल दोनों सदनों द्वारा पास हो जाता है तो उस पर राष्ट्रपति की अनुमति लेना परमावश्यक है वरना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता है। जब कोई विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है तो राष्ट्रपति या तो अपनी अनुमति दे देते हैं अथवा वे अपने संशोधन सहित विधेयक को संसद के पास पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं। राष्ट्रपति अपनी अनुमति देते हैं तो वह विधेयक कानून बन जाता है। यदि राष्ट्रपति विधेयक को संसद को पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं और संसद उसको अपने बहुमत से दुबारा पास कर देती है तो राष्ट्रपति को उस विधेयक पर अपनी अनुमति देनी पड़ेगी। राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के बाद यह विधेयक कानून बन जाता है। इसके पश्चात् उस विधेयक को सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

भारतीय शासन राजनीति

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर – अवधि (कार्यकाल) – लोकसभा की अवधि अथवा कार्यकाल पाँच वर्ष का है। इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात लोकसभा के चुनाव होंगे। पाँच वर्ष पूर्व भी राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की प्रार्थना पर लोकसभा को भंग कर सकता है। प्रधानमंत्री ऐसी प्रार्थना उस समय करता है, जबकि लोकसभा उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर दे, परन्तु सारे देश का जनमत उसके साथ हो। उस समय इस बात को जाँचने के लिए कि प्रधानमंत्री के साथ सारा देश है, या नहीं राष्ट्रपति लोकसभा को भंग करके सारे देश में नये चुनाव करवा सकता है। संकटकालीन अवस्था की घोषणा के समय संसद अपना कार्यकाल एक बार में एक वर्ष तक बढ़ा सकती है। और उस घोषणा के समाप्त होने के बाद अपना समय 6 माह से अधिक नहीं बढ़ा सकती जब ऐसी संकटकालीन घोषणा जारी है, तो संसद अपना कुल कार्यकाल 3 वर्ष तक बढ़ा सकती है।

लोकसभा के सदस्यों के विशेष अधिकार हमारी लोकसभा के सदस्यों को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हैं। उदाहरणस्वरूप उन्हें लोकसभा में अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और सरकार की आलोचना के कारण उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। लोकसभा के अधिवेशन के दिनों में और उसके चालीस दिन पहले तथा चालीस दिन बाद में किसी दीवानी अभियोग के बारे में उनको गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है। लोकसभा का अध्यक्ष सदस्यों के विशेष अधिकारों की रक्षा करता है।

भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च – निम्नलिखित खर्च भारत व्यय कहलाते हैं—

1. राष्ट्रपति के वेतन भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्ध रखने वाले अन्य खर्च ।
2. लोकसभा तथा राज्यसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते !
3. उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीशों तथा भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के वेतन भत्ते और पेंशन ।
4. ऋण सम्बन्धी खर्च ।

ऐसे अन्य खर्च जिनको संविधान अथवा संसद के किसी कानून द्वारा भारत व्यय में रख दिया गया हो, जैसे उच्चतम न्यायालय के संघटन का पूरा व्यय और रियासतों के राजाओं को दी जाने वाली निजी पेंशन ।

6. संघीय न्यायालय (फेडरल कोर्ट) के न्यायाधीशों की पेंशन (संघीय न्यायालय 1937 ई. से 1950 तक कार्य करता रहा । नये संविधान के लागू होने के बाद इसको सुप्रीम कोर्ट में बदल दिया गया) !

7. ऐसी अन्य राशि जो किसी न्यायालय के निर्णय या आदेश को लागू करने के लिए आवश्यक हो ।

भारत व्यय पर संसद के दोनों सदन बहस तो कर सकते हैं, परन्तु मतदान नहीं कर सकते । संविधान के संशोधन के बिना इन खर्चों में पार्लियामेंट किसी प्रकार की कोई कटौती नहीं कर सकती है।

4. बिल पास होने के लिए पुनर्स्थापना तथा प्रथम वाचन से गुजरना पड़ता है है। इसके बाद विधेयक का दूसरा वाचन शुरू होता है। पुनः समिति स्तर स्तर पर भी विधेयक में उपयोगी संशोधन होता है इसके बाद प्रतिवेदन स्तर पर भी विधेयक पर गरमागरम बहस होती है। पुनः विधेयक का तीसरा वाचन शुरू होता है। इस तरह दोनों सदनों से पारित विधेयक सर्वसम्मति पारित विधेयक समझा जाता है जिसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करके कानूनी शक्ति दी जाती है और सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

अभ्यास-प्रश्न

1. धनविधेयकों के बारे में लोकसभा के अधिकारों की तुलना राज्यसभा के अधिकारों से कीजिए ।
2. एक साधारण बिल को कानून बनने के लिए किन-किन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है ?
3. भारतीय संसद की बनावट, शक्तियों और कार्यों का वर्णन कीजिए ।
4. लोकसभा के अध्यक्ष की नियुक्ति, कार्य और स्थिति का वर्णन कीजिए ।

संघीय कार्यपालिका : मन्त्रिपरिषद और

प्रधानमन्त्री

इस अध्याय के अंतर्गत : परिचय

संसदात्मक शासन की विशेषताएँ

मन्त्रिपरिषद का गठन

मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमंडल (कैबिनेट)

मन्त्रिमण्डल की शक्तियाँ और कार्य

प्रधानमंत्री, प्रधानमंत्री का चयन व नियुक्ति

प्रधानमंत्री की शक्तियाँ और विविध रूपों में उसकी भूमिका

प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद

प्रधानमंत्री और संसद

प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति

प्रधानमंत्री और राज्य सरकारें

प्रधानमंत्री और उसकी कृपा की शक्तियाँ

प्रधानमंत्री : देश का सर्वोच्च नेता और साक्षर प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति

अध्ययन के उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप

: संसदीय शासन की विशेषताएँ समझ सकेंगे ।

मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल का अन्तर समझ सकेंगे ।

: मन्त्रिमण्डल की शक्तियाँ और कार्य समझ सकेंगे ।—

: प्रधानमंत्री की शक्तियाँ और विविध रूपों में उनकी भूमिका समझ सकेंगे ।

प्रधानमंत्री की भूमिका संसद के साथ, राष्ट्रपति के साथ, राज्य सरकारों के साथ समझ सकेंगे ।

भारतीय शासन राजनीति

समझ सकेंगे कि प्रधानमंत्री की कृपा की शक्तियाँ क्या होती हैं?

: प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद का सम्बन्ध स्पष्ट कर सकेंगे।

जान सकेंगे कि प्रधानमंत्री देश का सर्वोच्च नेता है और वह वास्तविक शासन है।

आम चुनाव एक तरह से प्रधानमंत्री का होता है।

: मन्त्रिमण्डल तथा संसद के सम्बन्धों की व्याख्या कर सकेंगे।

परिचय

सैद्धान्तिक रूप में भारतीय संविधान द्वारा समस्त कार्यपालिका – शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गयी हैं, लेकिन राष्ट्रपति एक संवैधानिक शासक मात्र है। इसलिए वास्तविक रूप में कार्यपालिका की यह समस्त शक्ति मन्त्रिपरिषद में निहित है। राष्ट्रपति के नाम पर मन्त्रिपरिषद ही शासन की समस्त शक्तियों का उपयोग करती है। संविधान के अनुच्छेद 74 में उल्लेख है कि 'राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।' "

संसदात्मक शासन या मन्त्रिमण्डलात्मक शासन की विशेषताएँ

मन्त्रिमण्डलात्मक शासक व्यवस्था के कार्य करने के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त हैं, जिनका पालन भारतीय शासक व्यवस्था में भी किया गया है। इन सिद्धान्तों का उल्लेख निम्नलिखित बिन्दुओं में किया जा सकता है :

1. एक नाममात्र के कार्यपालिका – प्रधान की व्यवस्था !
2. व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में अभिन्न सम्बन्ध ।
3. मन्त्रिपरिषद की राजनीतिक एकता !
4. मन्त्रिपरिषद का संसद के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व है
5. समस्त शासन— व्यवस्था पर प्रधानमंत्री का नेतृत्व ।
6. मन्त्रिमण्डल के कार्य की गोपनीयता ।

मन्त्रिपरिषद का गठन

भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद की नियुक्ति तथा स्थिति के सम्बन्ध में बहुत कम उल्लेख किया गया है और अधिकांश में इस प्रकार की व्यवस्था परम्पराओं पर छोड़ दी गयी है । मन्त्रिपरिषद में एक प्रधानमंत्री तथा विभिन्न श्रेणियों के मन्त्री होंगे। मूल संविधान द्वारा मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई थी, लेकिन अब 91वें संवैधानिक संशोधन (2003 ई.) के आधार पर व्यवस्था की गई है कि प्रधानमंत्री सहित मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। संविधान के अनुच्छेद 75 के विभिन्न भागों में मन्त्रिपरिषद की रचना के सम्बन्ध में केवल निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया गया है :

1. प्रधानमंत्री की सलाह से राष्ट्रपति अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा ।
2. मन्त्रिगण राष्ट्रपति के प्रसाद – पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे !
3. मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी ।

4. प्रत्येक मन्त्री को अपने पद धारण करने के पूर्व राष्ट्रपति के सामने अपने पद और गोपनीयता की शपथ लेनी होगी ।
5. यदि कोई मन्त्री अपना पद धारण करने के 6 माह बाद तक संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं बन सका तो उसे मन्त्रिपरिषद से त्याग पत्र देना होगा ।
6. मन्त्रियों को वे सब वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे, जो समय समय पर संसद विधि द्वारा निर्धारित करे ।

मन्त्रिपरिषद के गठन के सम्बन्ध में केवल ये ही कुछ औपचारिक व्यवस्थाएँ हैं और

इन औपचारिक व्यवस्थाओं से यह पता नहीं चलता कि वास्तव में मन्त्रिपरिषद का गठन किस प्रकार होता है। व्यवहार में मन्त्रिपरिषद का गठन एक बहुत अधिक कठिन तथा जटिल प्रक्रिया है, जिसमें अनेक बातों को ध्यान में रखना होता है । मन्त्रियों को चुनते समय शासक दल में विभिन्न सदस्यों की स्थिति, राष्ट्र के विभिन्न समुदायों तथा भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व, संसद के दोनों सदनों को उचित प्रतिनिधित्व व विभिन्न अवस्था वाले विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने पर विचार करना होता है ।

मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट)

साधारणतया लोग मन्त्रिपरिषद तथा मन्त्रिमण्डल को एक ही संस्था मान लेते हैं। लेकिन इन दोनों में काफी अन्तर है । मन्त्रिपरिषद में राजनीतिक कार्यपालिका के सभी सदस्य (सामान्यतया 50 से लेकर 75 तक) होते हैं और इस कारण यह एक बड़ी संस्था है। इस मन्त्रिपरिषद में पाँच स्तर के सदस्य होते हैं, जिनमें से केवल प्रथम स्तर के सदस्यों को ही सामूहिक रूप से कैबिनेट कहा जाता है । मन्त्रिपरिषद में निम्नलिखित प्रकार से पाँच स्तर के सदस्य होते हैं:

प्रथम, मन्त्रिपरिषद के प्रथम स्तर के सदस्य मन्त्री कहलाते हैं और ये मन्त्रिमण्डल अर्थात् कैबिनेट के सदस्य होते हैं। भारत में इनकी संख्या विविध समयों में 12 से 32 तक रही है । साधारणतया ये मन्त्री किसी न किसी प्रमुख विभाग के अध्यक्ष होते हैं ।

द्वितीय, कुछ ऐसे मंत्री होते हैं जो मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मन्त्री होते हुए भी कैबिनेट के सदस्य नहीं होते हैं। वे मन्त्री भी विभागों के अध्यक्ष होते हैं और उन्हें मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के समान वेतन मिलता है, किन्तु मन्त्रिमण्डल की बैठकों में इनके द्वारा अधिकार के रूप में नहीं, बल्कि प्रधानमन्त्री द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर ही भाग लिया जाता है ।

तृतीय श्रेणी में राज्यमन्त्री आते हैं जिनकी स्थिति पूर्व मन्त्री तथा उपमन्त्री के बीच की होती है। ये विशेष महत्वपूर्ण विभाग से सम्बद्ध रहते हैं और कभी कभी इनके द्वारा विभाग के स्वतन्त्र प्रभारी के रूप में भी कार्य किया जाता है। प्रधानमन्त्री द्वारा इस श्रेणी के मंत्रियों को मन्त्रिमण्डल की उन बैठकों में आमन्त्रित किया जा सकता है, जिनमें उनके विभाग से सम्बन्धित प्रश्न मन्त्रिमण्डल के विचाराधीन होते हैं ।

चौथे, राज्यमन्त्रियों के बाद उपमन्त्रियों की श्रेणी आती है जो ज्येष्ठ मन्त्री के अधीन रहते हुए उस मन्त्री की सहायता करते हैं ।

पाँचवे, उपमन्त्रियों से नीचे के स्तर में संसदीय सचिव होते हैं। वे विभागीय मन्त्रियों को प्रशासनिक तथा विशेष रूप से संसदीय कार्यों के सम्बन्ध में सहायता पहुंचाते हैं ।

उपर्युक्त पाँचों श्रेणियों के मन्त्रियों को सामूहिक रूप से 'मन्त्रिपरिषद के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद एक वृष्ट संस्था है जिसमें सभी श्रेणियों के मन्त्री

भारतीय शासन राजनीति

सम्मिलित रहते हैं, लेकिन मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) मन्त्रिपरिषद के अन्तर्गत एक छोटासा समूह होता है जिसमें सिर्फ प्रथम श्रेणी के मन्त्री होते हैं, जो विभागों के प्रधान होते हैं और जिनके द्वारा सामूहिक रूप से सम्पूर्ण प्रशासनिक नीति का निर्धारण किया जाता है। रेम्जे म्योर ने मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में कहा है कि “यह मन्त्रिपरिषद का हृदय है, शासन का परिचालन यन्त्र है जिसमें सभी महत्वपूर्ण विभागों के राजनीतिक अधिकारी सम्मिलित रहते हैं।” इस प्रकार मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य मन्त्रिपरिषद का सदस्य होता है, लेकिन मन्त्रिमण्डल एक ऐसी संगठित इकाई है जिसके सदस्य मन्त्रिमण्डल के केवल कुछ ही लोग होते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट मन्त्रिपरिषद का भीतरी चक्र है, यह

1 मन्त्रिपरिषद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आन्तरिक समिति के रूप में होता है। — मन्त्रिमण्डल की शक्तियाँ और कार्य

“— मन्त्रिमण्डल को ब्रिटिश शासन-पद्धति की भाँति भारतीय शासन-प्रणाली का हृदय कहा जा सकता है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में कथित विविध उक्तियाँ भारतीय मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं। लावेल मन्त्रिमण्डल को ‘राजनीतिक वृत्तखण्ड के मेहराव के बीच का पत्थर कहता है और सर जॉन मेरियट का कहना है कि “मन्त्रिमण्डल वह धुरी है, जिस पर प्रशासन चक्र घूमता रहता है।” रेम्जे म्योर के शब्दों

मन्त्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक यन्त्र है।” ग्लैडस्टन का कहना है कि “मन्त्रिमण्डल वह सूर्य पिण्ड है जिसके चारों ओर अन्य पिण्ड घूमते हैं।” मन्त्रिमण्डल के लिए लगभग इसी प्रकार की शब्दावलियों का प्रयोग बार्कर, बैजहॉट, एमरी और सर आइवर जेनिंग्स जैसे लेखकों के द्वारा भी किया गया है। भारतीय मन्त्रिमण्डल के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना

प्रधानमंत्री का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना है। वह यह निश्चय करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रशासन के विभिन्न विभागों के द्वारा और वैदेशिक क्षेत्र में दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध के विषय में किस प्रकार की नीति अपनायी जायेगी। मन्त्रिमण्डल के द्वारा नीति निर्धारित कर चुकने के बाद सम्बद्ध विभागों के द्वारा इस नीति के आधार पर विभिन्न विधेयक संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार कानून निर्माण का कार्य बहुत कुछ सीमा तक मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार ही होता है। प्रशासनिक नियमों का निर्माण भी कैबिनेट ही करती है। आँग का यह कथन भारतीय मन्त्रिमण्डल पर लागू होता है कि “कैबिनेट के मन्त्री लोग नीति निर्धारित करते हैं, विनिश्चय करते हैं और प्रत्येक ऐसे आवश्यक विषय पर विधेयकों का प्रारूप तैयार करते हैं, जिन्हें वे विधि रूप में पास कराना चाहते हैं।”

इस प्रकार उपर्युक्त शक्ति के आधार पर कैबिनेट व्यवस्थापन पर भी नियन्त्रण रखती

(2) राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियन्त्रण — सैद्धान्तिक दृष्टि से संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में है, लेकिन व्यवहार में इस प्रकार की समस्त कार्यपालिका — शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिमण्डल में विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं। वे अपने विभागों का संचालन करते हैं और उनके कार्यों की देखभाल करते हैं।

मन्त्रिमण्डल ही सरकार की नीति को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से विभिन्न विभागों को एक सूत्र में बाँधता है। व्यवहारतः राष्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही करता है, इसलिए युद्ध, शान्ति या वैदेशिक नीति से सम्बन्धित प्रश्नों का निर्णय वही करता है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल देश की सर्वोच्च कार्यपालिका तथा राष्ट्रीय नीति का निर्देशक होता है। अध्यादेश तथा प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण मन्त्रिमण्डल के अधिकार और भी बढ़ गये हैं। अध्यादेश जारी करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है, लेकिन व्यवहार में इसका प्रयोग:

मन्त्रिमण्डल ही करता है। Online Education, MATS University

(3) मन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य – प्रशासनिक सुविधा के लिए सरकार के विभिन्न विभागों में विभाजित होने पर भी सरकार में एक प्रकार की आंगिक एकता पायी जाती है और सुशासन के लिए प्रशासन के विभिन्न विभागों में समन्वय नितान्त आवश्यक होता है। विभिन्न विभागों में इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल के

‘स्वप्रगति की जाँच करें :

1. क्या भारतीय प्रधानमंत्री ही . शासन प्रणाली के अन्तर्गत

राष्ट्रीय नीति निर्धारक है?

2. क्या आप समझते हैं कि प्रधानमंत्री का कैबिनेट ही देश के वैदेशिक सम्बन्धों पर निमंत्रण रखता है?

द्वारा ही किया जाता है । मन्त्रिमण्डल समस्त विभागों में नीति सम्बन्धी समन्वय स्थापित करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि मन्त्रिमण्डल के समस्त विभागों में नीति व अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न न हों तथा उनके द्वारा परस्पर सहयोग किया जाये । विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए ही वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल . समितियों की स्थापना की गयी है ।

(4) वित्तीय कार्य

देश की आर्थिक नीति निर्धारित करने का उत्तरदायित्व भी मन्त्रिपरिषद का ही होता है। इस हेतु उसके द्वारा प्रत्येक वर्ष संसद के सामने देश के सम्भावित आय – व्यय का ब्यौरा (बजट) प्रस्तुत किया जाता है। बजट मन्त्रिपरिषद द्वारा निघ रित नीति के आधार पर वित्तमन्त्री तैयार करता है और वही उसे लोकसभा में प्रस्तुत करता है। अन्य वित्त विधेयकों को भी मन्त्रिपरिषद ही लोकसभा में प्रस्तुत करता है।

(5) वैदेशिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण – कैबिनेट के द्वारा ही देश के वैदेशिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखा जाता है। विदेशी राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के साथ समस्त वार्ताओं का संचालन प्रधानमन्त्री या विदेशमन्त्री या प्रधानमन्त्री के किसी अन्य प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है और जब इस वार्ता के परिणामस्वरूप कोई सन्धि या समझौता हो जाता है तो संसद को उसके सम्बन्ध में सूचना दे दी जाती है और संसद से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है । वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में संसद की भूमिका बहुत ही गौण होती है, इसका प्रमाण यह है कि 1971 में सोवियत संघ के साथ मैत्री सन्धि से पूर्व लगभग 2 वर्षों से बातचीत चल रही थी, लेकिन संसद को इस सम्बन्ध में तभी सूचना मिली, जबकि अगस्त 1971 में सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। कई बार सरकार विदेशों के साथ गुप्त सन्धियाँ और समझौते करती है और संसद को इस सम्बन्ध में सूचना भी नहीं दी जाती । वैदेशिक सम्बन्ध

के संचालन में गुप्तता की आवश्यकता होती है और इसी कारण यह कार्य कैबिनेट के द्वारा ही किया जा सकता है, संसद के द्वारा नहीं ।

(6) नियुक्ति सम्बन्धी कार्य – संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन पदाधिकारियों को नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गयी है, व्यवहार में उन पदाधिकारियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल द्वारा ही की जाती है । मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही संसद के दोनों सदनों के मनोनीत सदस्य नियुक्ति किये जाते हैं। राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाध तीष, उच्च न्यायालय के न्यायाधीष, महाधिवक्ता, महालेखा परीक्षक और सेना के सेनापतियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही की जाती है ।

वास्तव में, मन्त्रिमण्डल बहुत अधिक शक्तिशाली होता है और देश की समस्त राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था पर उसका अधिकार होता है।

भारतीय शासन राजनीति

मन्त्रिमण्डल की बैठकें – मन्त्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमन्त्री की इच्छानुसार होती हैं और प्रधानमन्त्री के द्वारा ही इन बैठकों का कार्यक्रम निश्चित किया जाता है। साधारणतः, मन्त्रिमण्डल की बैठक सप्ताह में एक बार होती है, लेकिन विशेष परिस्थिति में सप्ताह में एक बार से भी अधिक ऐसी बैठकें हो सकती हैं। इन बैठकों में सभापति का स्थान प्रधानमन्त्री द्वारा ग्रहण किया जाता है। बैठकों की समस्त कार्यवाही गुप्त रखी जाती है। मन्त्रिमण्डल की बैठकों में जो कुछ भी निर्णय लिए जाते हैं, वे मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य रूप से मान्य होते हैं और मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य त्यागपत्र देकर ही इन निर्णयों का विरोध कर सकता है।

प्रधानमन्त्री

ब्रिटिश संविधान में प्रधानमन्त्री का पद परम्परा पर आधारित है, लेकिन भारत में प्रधानमन्त्री पद को संविधान द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। किन्तु भारतीय संविधान में

प्रधानमन्त्री पद का संक्षेप में ही संविधान के अनुच्छेद 74, 75 तथा 78 में उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 74 में कहा गया है कि राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा। अनुच्छेद 75 में कहा गया है कि “प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी और वह प्रधानमन्त्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा। अन्त में अनुच्छेद 78 में राष्ट्रपति के साथ

□ व्यवहार के विषय में प्रधानमन्त्री के तीन कर्तव्य बताये गये हैं। संविधान के ये संक्षिप्त प्रावध आन न तो प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की पद्धति को स्पष्ट कर पाते हैं और न ही उस महत्वपूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर पाते हैं जो देश की राजव्यवस्था में प्रधानमन्त्री को प्राप्त है। वास्तव में, प्रधानमन्त्री पद से सम्बन्धित समस्त अध्ययन सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार पर ही आधारित हो सकता है।

प्रधानमन्त्री का चयन व नियुक्ति

प्रधानमन्त्री का चयन उस दल द्वारा किया जाता है जिसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त हो और फिर उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इस प्रकार उसका दल द्वारा चयन पहले होता है और उसकी नियुक्ति बाद में होती है 1946 में प्रधानमन्त्री पद के लिए दो दावेदार हो सकते थे— पं नेहरू और सरदार पटेल। इनमें महात्मा गांधी द्वारा पं नेहरू को प्रधानमन्त्री पद के लिए चुना गया। इस प्रकार पं० नेहरू ने प्रधानमन्त्री पद महात्मा गांधी के आशीर्वाद से प्राप्त किया। लेकिन वे अपने ही अधिकार से इस पर बने रहे। 1950 में सरदार पटेल की मृत्यु के बाद कांग्रेस दल में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो पं० नेहरू की सत्ता को चुनौती दे सकता। अतः प्रथम, द्वितीय और तृतीय आम चुनाव के बाद दल के द्वारा पं० नेहरू का दल के नेता के रूप में चयन और राष्ट्रपति द्वारा उनकी प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्ति मात्र एक औपचारिकता ही थी।

1950 से लेकर आज तक प्रधानमन्त्री के चयन और नियुक्ति के प्रसंग में चार प्रकार की स्थितियाँ रही हैं। ये निम्न प्रकार हैं :

1. स्वयं जनता द्वारा प्रधानमन्त्री का चयन

जब किसी एक नेता के नाम पर

कोई राजनीतिक दल या दलीय गठबंधन लोकसभा में बहुमत प्राप्त करता है, चुनाव जीतता है, तब यह समझा जाता है कि स्वयं जनता ने प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर प्रधानमन्त्री का चयन किया है। 1952, 57 और 62 में स्वयं जनता ने प्रधानमन्त्री पद के लिए पं० नेहरू का चयन किया था। 1971 तथा 1980 में श्रीमती गाँधी और दिसम्बर '84 में राजीव गाँधी का इस पद के लिए चयन भी स्वयं जनता ने किया था। 1999 में प्रधानमन्त्री के चयन में भी जनता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

2. आम सहमति के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन 1964 में शास्त्री जी. 1967 में श्रीमती गाँधी, 1977 में मोरारजी देसाई, दिसम्बर 1989 में वी. पी. सिंह, जून 1991 में पी. वी. नरसिम्हा राव, मई '96 और अप्रैल '97 में क्रमशः देवगौड़ा और गुजराल ने आम सहमति के आधार पर प्रधानमंत्री पद प्राप्त किया था ।

3. लोकसभा के बहुमत दल या बहुमत वाले गठबंधन में नेता पद के लिए चुनाव संघर्ष और प्रधानमंत्री का चयन 1966 में शास्त्रीजी के निधन के बाद कांग्रेस संसदीय दल ने श्रीमती गाँधी और मोरारजी देसाई दो उम्मीदवारों में से श्रीमती गाँधी को नेता चुना था ।

4. लोकसभा में दलीय स्थिति स्पष्ट न होने या आकस्मिक रूप से प्रधानमंत्री का पद रिक्त हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा स्वविवेक के आधार पर 'प्रधानमंत्री का चयन 1979 में चरणसिंह और नवम्बर '90 में चन्द्रशेखर का प्रधानमंत्री पद पर चयन राष्ट्रपति द्वारा स्वविवेक के आधार पर ही किया गया। 1984 में श्रीमती गाँधी के देहावसान के बाद राजीव गाँधी का प्रधानमंत्री पद के लिए चयन लगभग इसी श्रेणी में आता है। लोकसभा चुनाव के तुरन्त बाद अप्रैल '96 में वाजपेयी की प्रधानमंत्री पद पर नियुक्ति भी इसी श्रेणी में आती है।

प्रधानमंत्री का चयन (मार्च 1998) – बारहवीं लोकसभा का सबसे बड़ा दल भाजपा थी और भाजपा ही अपने सहयोगियों के साथ मिलकर सरकार बनाने की स्थिति में थी। भाजपा ने चुनाव के पूर्व ही वाजपेयी को अपना संसदीय नेता घोषित कर दिया था और भाजपा को प्राप्त सफलता में वाजपेयी का निश्चित योगदान है। इस दृष्टि से वाजपेयी को 'प्रधानमंत्री के पद के लिए जनता की पसन्द कहा जा सकता है, लेकिन यह स्थिति आंशिक रूप से ही सत्य है, क्योंकि लोकसभा में भाजपा की स्थिति स्पष्ट बहुमत से बहुत दूर थी ।

प्रधानमंत्री का चयन (अक्टूबर 1999) राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन ने तेरहवीं लोकसभा का चुनाव श्री अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में लड़ा था। इस दृष्टि से 1999 में प्रथम प्रधानमंत्री के चयन जनता ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

प्रधानमंत्री का चयन (मई 2004 ई0) – चौदहवीं लोकसभा चुनाव के बाद प्रधानमंत्री का चयन विभिन्न स्थितियों से होकर गुजरा है। लोकसभा में एक दल के रूप में कांग्रेस और एक गठबंधन के रूप में कांग्रेस-गठबंधन के सदस्यों की संख्या सबसे अधिक थी तथा चुनाव परिणाम आने के लगभग तुरन्त बाद ही वामपन्थी गठबंधन ने स्पष्ट कर दिया कि वह सरकार के गठन में कांग्रेस दल को समर्थन देगा। इस प्रकार कांग्रेस गठबंधन को लोकसभा में बहुमत प्राप्त हो गया। कांग्रेस द्वारा सोनिया गाँधी को सर्वसम्मति से अपना नेता चुने जाने के बाद समर्थक दलों ने सोनिया गाँधी को अपने समर्थन – पत्र सौंप दिये . तथा इस प्रकार सोनिया गाँधी का प्रधानमंत्री बनना निश्चित समझा गया। लेकिन 18 मई को सोनिया गाँधी ने दलों की बैठक में घोषणा की कि 'मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मैं प्रधानमंत्री पद स्वीकार न करूँ।' कांग्रेस दल के भारी दबाव के बावजूद वे अपने निर्णय पर दृढ़ रहीं । 19 मई को कांग्रेस संसदीय दल की बैठक में स्वयं उन्होंने नेता पद के लिए डा० मनमोहन सिंह का नाम प्रस्तावित कर उन्हें नेता चुनवाया, समर्थक और सहयोगी दलों से उनके लिए समर्थन प्राप्त किया तथा 22 मई, 2004 ई. को अपने 68 सहयोगियों सहित डॉ. मनमोहन सिंह ने प्रधानमंत्री पद की शपथ ली।

प्रधानमंत्री का चयन (मई 2009 ई.) – 15वीं लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस दल की अध्यक्ष सोनिया गाँधी ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी थी कि प्रधानमंत्री पद के लिये हमारे उम्मीदवार डॉ. मनमोहन सिंह ही हैं। चुनावों में कांग्रेस दल ने अपनी स्थिति में भारी सुधार किया, कांग्रेस संसदीय दल ने सर्वसम्मति से डॉ. मनमोहन सिंह को अपना नेता चुना तथा 23 मई, 2009 ई. को डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में 'यूपीए सरकार' का गठन हुआ

प्रधानमंत्री के निर्वाचन का उसकी भूमिका और स्थिति पर महत्वपूर्ण रूप से प्रभाव पड़ता है। "यदि प्रधानमंत्री पदधारी अपना पद अपनी ही राजनीतिक शक्ति और जनता के सीधे समर्थन

भारतीय शासन राजनीति

के बल पर प्राप्त करता है। (पं० नेहरू ने अपने जीवन काल में तथा श्रीमती गाँधी ने 1971 तथा 1980 में इसी रूप में पद प्राप्त किया था), तो आत्म विश्वास के साथ शासन प्रमुख के रूप में कार्य करने में समर्थ होता है, लेकिन जब वह अपना पद अन्य तत्त्वों के समर्थन और सहयोग के बल पर प्राप्त करता है (1964, 1966, 1967, 1977, 1989, 1990, 1996, 1997 में यही स्थिति थी तथा 2004 ई. में भी यही स्थिति थी), तो प्रधानमंत्री पद की स्थिति स्वाभाविक रूप से निर्बल हो जाती है। प्रथम स्थिति ही प्रधानमंत्री पद और भारतीय राज-व्यवस्था के हित में है। 1989-91 तथा पुनः 1996-98 और 2004 ई. की राजनीति से स्पष्ट है कि विभिन्न राजनीतिक दलों के समर्थन से नियुक्त प्रधानमंत्री एक निर्बल प्रधानमंत्री होता है और राजनीतिक अस्थायित्व का कारण बनता है। श्रेष्ठ स्थिति निश्चित रूप से वही है जिसके अन्तर्गत लोकसभा में किसी एक राजनीतिक दल को या चुनाव पूर्व गठित किसी दलीय गठबन्धन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो तथा वह गठबन्धन विचार

रा पर आधारित एक सुदृढ़ गठबन्धन हों।

‘प्रधानमंत्री की शक्तियाँ और विविध रूपों में उसकी भूमिका

भारतीय राज व्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्थिति वही है जो ब्रिटेन की राज्य व्यवस्था में वहाँ के प्रधानमंत्री की है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की संसदीय या मन्त्रिमण्डल व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए हैं, उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि मन्त्रिमण्डल और संसद पर प्रधानमंत्री की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी है। बेजहॉट की प्रसिद्ध रचना ‘जिम म्दहसपी ब्दपजनजपवद’ के नवीन संस्करण की प्रस्तावना में आर. एस. एच. क्रॉसमैन लिखते हैं कि “युद्धोत्तरकाल ने कैबिनेट शासन को प्रधानमंत्री शासन में बदलते हुए देखा है।” मिली जुली सरकार की अपवाद स्वरूप परिस्थितियों को छोड़कर मि. क्रॉसमैन की यह बात भारतीय प्रधानमंत्री पर भी लागू होती है। भारतीय प्रधानमंत्री की शक्तियों और उसकी भूमिका का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं में किया जा सकता है।

प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद

: प्रधानमंत्री का प्रथम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य मन्त्रिपरिषद का निर्माण करना है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 75 में यही कहा गया है कि “अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री के परामर्श पर राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी।” वस्तुस्थिति यह है कि राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति केवल एक औपचारिकता है और इस सम्बन्ध में विभागों के उल्लेख सहित जो नाम प्रधानमंत्री के द्वारा राष्ट्रपति के सामने रखे जाते हैं, राष्ट्रपति के द्वारा उन्हें स्वीकार कर उन्हें उनके नाम के आगे अंकित विभागों का मन्त्री घोषित कर दिया जाता है।

1 प्रधानमंत्री को अपनी मन्त्रिपरिषद का निर्माण करते समय प्रशासनिक, राजनीतिक, क्षेत्रीय, धार्मिक और अन्य बातों को ध्यान में रखना होता है तथा कुछ उदाहरणों में प्रधानमंत्री किन्हीं विशेष व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद में लेने तथा उन्हें उनकी इच्छानुसार विभाग देने के लिए बाध्य होता है। उदाहरण के लिए, सरदार पटेल गृह विभाग लेना चाहते थे और पण्डित नेहरू को बाध्य होकर उन्हें गृह विभाग देना पड़ा। इसी प्रकार 1967 में श्रीमती गाँधी को अपनी इच्छा के विरुद्ध मोरारजी देसाई को उपप्रधानमंत्री तथा वित्तमन्त्री के पद पर नियुक्त करना पड़ा था। 1998 में पुनः 1999 में आडवाणी ने गृहमन्त्री पद स्वयं अपनी राजनीतिक स्थिति के बल पर प्राप्त किया था, लेकिन यह उदाहरण हैं तथा और सामान्यतया अपने सहयोगियों का चयन प्रधानमंत्री अपने विवेक के आधार पर ही करता है। प्रधानमंत्री ऐसे व्यक्तियों को भी मन्त्रिपरिषद में ले सकता है जिन्हें दल में कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो और देश में जिनका नाम बहुत थोड़े व्यक्ति ही जानते हों।

11 एक बार मन्त्रिपरिषद को निर्माण हो जाने के बाद प्रधानमंत्री मन्त्रिपरिषद के सदस्यों के विभागों को परिवर्तित करने के सम्बन्ध में लगभग पूर्ण स्वतन्त्र होता है। 1966 में श्री नन्दा ने गृह विभाग और 1967 में देसाई ने वित्त विभाग तथा उपप्रधानमंत्री पद प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध प्राप्त किया था, लेकिन उचित अवसर आने पर क्रमशः नवम्बर 1966 और

जुलाई 1969 में श्रीमती गाँधी ने उन्हें त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर दिया। जब कभी किसी मन्त्री के प्रथम मन्त्री से मतभेद हो जाते हैं तो सम्बन्धित मन्त्री को ही त्यागपत्र देना होता है। इस सम्बन्ध में नियोगी चेष्टी, डॉ. प्यामाप्रसाद मुखर्जी, जॉन मथाई, देशमुख, छागला, महावीर त्यागी, अषोक मेहता, नन्दा, टी. टी. कृष्णामाचारी और देसाई, 1978 में श्री चरणसिंह एवं राजनारायण तथा 1987 में वी. पी. सिंह के त्यागपत्रों और 1990 में उपप्रधानमन्त्री देवीलाल की बर्खास्तगी के उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् का निर्माण और मन्त्रिपरिषद् में परिवर्तन बहुत अधिक सीमा तक प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर करते हैं। संविधान-सभा में डॉ. अम्बेडकर ने ठीक ही कहा था कि प्रधानमन्त्री वास्तव में मन्त्रिमण्डल भवन के

वृक्षखण्ड की मुख्य षिला है और जब तक हम इस पदाधिकारी (प्रधानमन्त्री) को इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छा से मन्त्रियों की नियुक्ति या पदच्युति कर सके, तब तक मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।”

प्रधानमन्त्री न केवल मन्त्रिमण्डल के निर्माण और समापन, वरन् उसके संचालन में भी केन्द्रीय स्थिति रखता है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल में विभिन्न बातों का निर्णय मतदान के आधार पर होता है, लेकिन व्यवहार में प्रधानमन्त्री का परामर्श ही निर्णायक होता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व करता है और मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही का संचालन करता है। मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही पर उसका पूरा नियन्त्रण होता है और यह एक ऐसा महत्वपूर्ण तथ्य है जो एक औसत दर्जे के प्रधानमन्त्री को भी अपने सहयोगियों की तुलना में अधिक महत्व प्रदान कर देता है।” प्रधानमन्त्री को अपने सहयोगियों के विभिन्न विभागों पर नियन्त्रण रखने में ‘मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय और प्रधानमन्त्री सचिवालय से बहुत अधिक सहायता मिलती है, जो प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में कार्य करते हैं और जिनका अभी हाल ही के वर्षों में बहुत अधिक विकास हुआ है।

प्रधानमन्त्री तथा उसके सहयोगियों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार की उक्तियों का प्रयोग किया जाता रहा है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड मार्ले की षब्दावली समकक्षों में प्रथम तो बहुत बीते हुए समय की बात हो चुकी है। अब तो सर विलियम हार्कोर्ट उसे नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा और डॉ. जेनिंग्स ऐसा सूर्य बताते हैं जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते रहते हैं भारतीय प्रधानमन्त्री पद पर हार्कोर्ट और जेनिंग्स के कथन पूर्णरूप से लागू होते हैं। पं. नेहरू को प्रधानमन्त्री के रूप में अपनी मन्त्रिपरिषद् पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त था तथा श्रीमती गाँधी द्वारा अपने प्रधानमन्त्री काल में मन्त्रिपरिषद् में बहुत अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति का उपभोग किया गया।

पं. नेहरू और श्रीमती गाँधी के करिष्माई व्यक्तित्व और प्रधानमन्त्री के रूप में उनकी कार्यशैली को दृष्टि में रखते हुए 1984 तक आते आते यह सोचा गया कि ‘अब कैबिनेट की कुछ नहीं चलती, प्रत्येक फैसला प्रधानमन्त्री का है’ लेकिन 1989 में सम्पन्न नौवीं लोकसभा के चुनाव के बाद से परिस्थितियाँ पूर्णतया बदल गईं। नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में कोई एक राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। ऐसी स्थिति में कभी तो मिली-जुली सरकार का गठन हुआ और कभी एक दल की अल्पमत सरकार का गठन हुआ। इस काल में नरसिम्हा राव को तो अपने मन्त्रिमण्डल पर प्रभावी नियन्त्रण प्राप्त था, लेकिन 1989-2002 ई. काल के अन्य छह प्रधानमंत्रियों के सम्बन्ध

में यह कह पाना सम्भव नहीं है।

प्रधानमन्त्री और संसद, विपक्ष तथा लोकसभा

संसदीय व्यवस्था में प्रधानमन्त्री को दोहरा व्यक्तित्व प्राप्त होता है। एक ओर वह मन्त्रिपरिषद् का प्रधान है तथा दूसरी ओर वह लोकसभा का नेता भी होता है। मन्त्रिपरिषद् का कोई अन्य सदस्य प्रधानमन्त्री की भाँति संसद में समस्त मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। शासन की नीति से सम्बन्धित अन्तिम तथा अधिकृत भाषण प्रधानमन्त्री का

भारतीय शासन राजनीति

ही होता है। संसद में अपने सहयोगियों द्वारा दिये गये भाषण से उत्पन्न गलतफहमियों को दूर करना और अपने सहयोगियों के भाषण में आवश्यक संशोधन करने का कार्य प्रधानमंत्री का ही है।

व्यवस्थापन की समस्त कार्यवाही के संचालन में प्रधानमंत्री ही नेतृत्व प्रदान करता है। वार्षिक बजट सहित सभी सरकारी विधेयक प्रधानमंत्री के निर्देशानुसार ही तैयार किये जाते हैं। प्रधानमंत्री इस बात का निर्णय करता है कि शासन की नीति कार्यरूप में परिणत करने के लिए किन कानूनों का निर्माण किये जाने की आवश्यकता है। महत्वपूर्ण कानूनों के लिए विधेयक स्वयं प्रधानमंत्री या प्रधानमंत्री के सहयोगियों द्वारा प्रस्तावित किये जाते हैं। दलीय सचेतक द्वारा वह अपने दल के सदस्यों को आवश्यक आदेश देता है और कौल तथा षाकधर के षब्दों में, "सभी विधेयकों के भाग्य का निर्णय प्रधानमंत्री की इच्छानुसार ही होता है।" नेहरू, श्रीमती गाँधी के कार्यकाल और राजीव गाँधी के कार्यकाल के प्रथम ढाई वर्ष इस कथन की पुष्टि करते हैं और नरसिम्हा राव के कार्यकाल (1991-95) के सम्बन्ध में भी यह आंशिक रूप से सत्य है, लेकिन 1989-91 और 1996-2004 वर्षों के सम्बन्ध में यह कह पाना सम्भव नहीं है। इन वर्षों में जो पाँच प्रधानमंत्री पदार्हूद हुए, उनमें से किसी को भी संसद के दोनों सदनों में ठोस बहुमत प्राप्त नहीं था, सरकार के साझेदार दलों में भी मतभेद की स्थिती थी, अतः अनेक अवसरों पर सरकार अपनी इच्छानुसार कानूनों का निर्माण करवा पाने में असफल रही। कुछ अवसरों पर तो सरकार संसद के दोनों सदनों में अनावष्यक और घोर अपभनीय षोर षराबों की मूक एवं असहाय दर्षक मात्र बनकर रह गई

संसद का अधिवेशन बुलाने और स्थगित करने का कार्य राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के परामर्ष के अनुसार ही करता है और प्रधानमंत्री की एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण षक्ति लोकसभा को विघटित करने की है। यद्यपि औपचारिक रूप में यह कार्य राष्ट्रपति का है, लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री की इच्छानुसार ही कार्य कर सकता है। प्रधानमंत्री अपनी इस षक्ति के बल पर लोकसभा को अपनी इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य कर सकता है।

व्यवहार के अन्तर्गत अब तक 9 बार (दिसम्बर 1970, जनवरी 1977 अगस्त 1979, नवम्बर 1984 अक्टूबर 189 मार्च 91, दिसम्बर 197, अप्रैल 199 तथा फरवरी 2004 में) प्रध नमन्त्री के द्वारा लोकसभा को भंग करवाया जा चुका है। 1976 में ही दो बार प्रधानमंत्री के निर्देशन में प्रस्ताव पास कर लोकसभा के कार्यकाल को एक एक वर्ष के लिए बढ़ाया गया है। ये उदाहरण इस बात के प्रतीक हैं कि प्रधानमंत्री को लोकसभा और समस्त संसद पर कितना अधिक नियन्त्रण प्राप्त है। 1.

प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति

संविधान ने प्रधानमंत्री को मन्त्रिमण्डल तथा राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले पदाधिकारी की भूमिका प्रदान की है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 78 में प्रधानमंत्री के 3 कर्तव्य बताये गये हैं। 1. संघ के प्रशासन तथा कानून निर्माण से सम्बन्धित विधेयकों के विषय में मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की राष्ट्रपति को सूचना देना, 2. संघ के प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाले मामलों तथा कानून निर्माण से सम्बन्धित प्रस्तावों के बारे में राष्ट्रपति को ऐसी सूचना देना जिसे वह मांगे, 3. यदि राष्ट्रपति चाहे, तो मन्त्रिपरिषद के विचार के लिए कोई ऐसा मामला रखना जिस पर कोई मन्त्री अपना निर्णय ले चुका है, परन्तु जिस पर मन्त्रिपरिषद ने अब तक कोई निर्णय नहीं लिया है।

सार्वजनिक महत्व के मामलों पर राष्ट्र के प्रधान से केवल प्रधानमंत्री के माध्यम से ही सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। कोई भी अन्य मन्त्री प्रधानमंत्री की अनुमति से ही राष्ट्रपति से भेंट कर सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के बीच जो सम्बन्ध रहे हैं, यदि उनका अध्ययन किया जाय, तो यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति को एक संवैधानिक प्रधान की भूमिका तक सीमित रखा है।

3. क्या आप यह स्पष्ट कर सकते हैं कि मंत्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमंत्री की इच्छानुसार होती हैं और वही इन बैठकों के कार्यक्रम निश्चित करते हैं?

14. सर विलियम हारकोर्ट और डा० जेनिंग्स ने भारतीय प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में क्या अन्तर है?

प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और प्रधानमंत्री नेहरू के बीच हिन्दू कोड बिल, नियोजन, निजी सम्पत्ति के सीमाकरण और सरकारी कृषि, आदि विषयों पर तीव्र मतभेद थे। राष्ट्रपति द्वारा कुछ अवसरों पर अपने विचार व्यक्त किये गये। लेकिन अन्त में उन्हें लगभग सभी बातों में प्रधानमंत्री की इच्छाओं के सम्मुख झुकना पड़ा। डॉ० राधाकृष्णन ने राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र भूमिका निभाने की इच्छा और आकांक्षा के साथ राष्ट्रपति पद ग्रहण किया था और 1962 में चीन के आक्रमण के समय तथा 1965 में भाषा विवाद के समय उन्हें कुछ प्रभावशाली बनने का अवसर मिला, लेकिन अधिकांशतया वे इसमें असफल रहें। उदाहरण के लिए, 'लाहौर क्षेत्र में भारतीय सेनाओं के प्रवेश के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री पास्ट्री ने राष्ट्रपति से कोई परामर्श नहीं किया था और नवम्बर 1966 में कैबिनेट के पुनर्गठन के सम्बन्ध में श्रीमती गाँध

द्वारा राष्ट्रपति को पूर्ण अन्धकार में रखा गया था। द्वितीय राष्ट्रपति के बाद तो भारत में इस धारणा को अपनाया गया कि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री का व्यक्ति होना चाहिए। तीसरे, चौथे और पाँचवें राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के निजी प्रयासों के फलस्वरूप अपने पद पर आसीन हुए और उनके द्वारा अपने कार्यकाल में प्रधानमंत्री की प्रत्येक इच्छा को शिरोधार्य किया गया। अप्रैल 1977 में कार्यवाहक राष्ट्रपति जत्ती और मन्त्रिपरिषद् के बीच विवादपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई, लेकिन अन्त में श्री जत्ती को अपनी हठधर्मी छोड़कर संवैधानिक दृष्टिकोण अपनाना पड़ा। जुलाई-अगस्त 1979 में पहली बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिसमें राष्ट्रपति के द्वारा प्रधानमंत्री के चयन में अपने विवेक का प्रयोग किया जा सका और राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के साथ सम्बन्धों में अपने प्रभाव का परिचय दे सके। मार्च 1977 से जनवरी 1980 और पुनः 1989-91 तथा 1996-98 तक के भारतीय राजनीतिक घटना चक्र से यह निश्कर्ष निकलता है कि यदि प्रधानमंत्री कमजोर हो, उसे लोकसभा में समुचित बहुमत प्राप्त न हो अथवा शासक दल में अनुशासन और एकता का अभाव हो, तो राष्ट्रपति राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो सकते हैं और राजनीतिक पहल की शक्ति कुछ सीमा तक राष्ट्रपति के हाथों में आ सकती है। लेकिन सामान्य परिस्थितियों में द्वितीय श्रेणी का प्रधानमंत्री भी राष्ट्रपति पर छाया रहेगा। राष्ट्रपति के आर. नारायणन ने संविधान की समस्त मर्यादाओं का सम्पूर्ण अंशों में पालन करते हुए शासन के परामर्शदाता और राज्य के प्रधान की भूमिका प्रभावी रूप में निभाई। उन्होंने अपने आचरण से एक वर्ष में दो बार और दो टूक अंदाज में बता दिया है कि वे प्रधानमंत्री या मन्त्रिमण्डल के साथ सम्बन्धों में रबर स्टाम्प बनने के लिए तैयार नहीं हैं। 2002 ई. में निर्वाचित राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम ने मन्त्रिमण्डल के प्रभावशाली परामर्शदाता की भूमिका निभाई, लेकिन साथ ही अपने पद की मर्यादाओं को सदैव ही दृष्टि में रखा।

1 प्रधानमंत्री और राज्य सरकारें, विशेषतया मुख्यमंत्री

भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारों के सम्बन्ध में भी प्रधानमंत्री की भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। पं. नेहरू महान् व्यक्तित्व के धनी थे और उनके प्रधानमंत्री काल में सामान्यतया कोई राज्य सरकार या मुख्यमंत्री प्रधानमंत्री के निर्देशों की अवहेलना करने की बात सोच भी नहीं सकता था। लेकिन 1958 के बाद से ही पं० नेहरू का कांग्रेस संगठन पर प्रभाव कम होने लगा था। ऐसी स्थिति में विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने अपने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना प्रारम्भ किया, जिससे शक्ति – सन्तुलन काफी सीमा तक प्रधानमंत्री के विपरीत तथा मुख्यमंत्री की ओर हो गया। कांग्रेस कार्य समिति में कुछ मुख्यमंत्रियों को प्रभावशाली स्थिति प्राप्त होने और राज्यों के संसद सदस्यों की स्वामिभक्ति उनके प्रति

भारतीय शासन राजनीति

होने के कारण मुख्यमन्त्रियों ने महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली और अपनी इस शक्ति के बल पर उन्होंने प्रधानमन्त्री के उत्तराधिकारी के चयन में महत्वपूर्ण

भूमिका अदा की। किन्तु यह स्थिति अधिक से अधिक 1989 तक ही रही और उसके बाद पुनः राज्य सरकारों और मुख्यमन्त्रियों पर प्रधानमन्त्री का लगभग पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया। कांग्रेस के विभाजन के समय कर्नाटक, गुजरात और उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्रियों ने प्रधानमन्त्री का विरोध करते हुए संगठन कांग्रेस का साथ दिया था। उसके बाद उत्तर प्रदेश के राज्यपाल द्वारा सी. वी. गुप्ता को अपदस्थ कर चरणसिंह को सरकार बनाने का अवसर देना और फिर उसके बाद कर्नाटक व गुजरात की संगठन कांग्रेस के पतन, आदि घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया कि एक मुख्यमन्त्री को पदासीन होने तथा अपने पद पर बने रहने के लिए प्रधानमन्त्री की सहानुभूति बहुत अधिक आवश्यक होती है तथा एक विरोधी प्रधानमन्त्री एक मुख्यमन्त्री की राजनीतिक मष्टि का कारण बन सकता है। 1975-76 में उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु और गुजरात की घटनाओं ने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। 1984 में सिक्किम और जम्मू-कश्मीर के घटनाचक्र तथा उसके बाद की कुछ घटनाओं ने भी इसकी पुष्टि की है। प्रधानमन्त्री को राज्य सरकारों पर जो नियन्त्रण प्राप्त रही, उसका सबसे प्रमुख कारण प्रधानमन्त्री पदधारी का अत्यन्त प्रभावशाली राजनीतिक व्यक्तित्व तो था ही, अन्य कुछ संस्थागत कारण भी थे जिनके आधार पर प्रधानमन्त्री का राज्य सरकारों पर नियन्त्रण स्थापित हो गया। ये तत्व इस प्रकार हैं :

केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में राज्यपाल की भूमिका और राज्यपाल द्वारा समय – समय पर राज्य की संवैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना।

2. – भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 जिसके आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत केन्द्र में पदार्पण सभी सरकारों द्वारा इस अनुच्छेद का दुरुपयोग किया गया है।

3. राज्य सरकार के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप-पत्र होने पर केन्द्र को जाँच आयोग स्थापित करने या न करने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त होना।

4. भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता।

पिछले लगभग 60 वर्षों का राजनीतिक अनुभव यह सिखाता है कि प्रधानमन्त्री द्वारा राज्य सरकारों (अपने दल और विपक्ष शसित) के संदर्भ में अपनी शक्तियों का प्रयोग संयमित रूप में ही किया जाना चाहिए।

प्रधानमन्त्री और वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारतीय प्रधानमन्त्री का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चाहे विदेश विभाग प्रधानमन्त्री के हाथों में न हो, फिर भी अन्तिम रूप में विदेश नीति का निर्धारण प्रधानमन्त्री के द्वारा ही किया जाता है। इस सम्बन्ध में उसके शब्द ही अन्तिम तथा अधिकृत माने जाते हैं।

प्रधानमन्त्री पं. नेहरू ने विदेश नीति के क्षेत्र में पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। इसी प्रकार 1965 के भारत-पाक युद्ध के संचालन और ताश्कन्द समझौते में श्री वास्त्री की भूमिका ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। 1971 के प्रारम्भ से 1977 के प्रारम्भ तक तो प्रधानमन्त्री ने वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन का समूचा भार ही अपने ऊपर ले लिया। बांग्लादेश के मुक्ति युद्ध में भारत के द्वारा जो भूमिका निभायी गयी, वह श्रीमती गाँधी के व्यक्तिगत निर्णयों का परिणाम था और इस सम्बन्ध में कैबिनेट के सदस्यों से परामर्श नहीं लिया गया था। इसी प्रकार 1998 का परमाणु परीक्षण और 1999 में लाहौर की ऐतिहासिक बस – यात्रा प्रधानमन्त्री वाजपेयी के व्यक्तिगत निर्णय ही थे। वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन तत्परता के

साथ कार्यवाही और अनेक बार गोपनीयता की माँग करता है। अतः इस कार्य में प्रधानमन्त्री को अपने ही विवेक के आधार पर महत्वपूर्ण निर्णय लेने होते हैं।

प्रधानमन्त्री और कृपा की शक्तियाँ

1 संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है, व्यवहार में उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति स्वविवेक से नहीं करता, वरन् प्रधानमन्त्री के परामर्श से ही करता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री राज्यों में राज्यपाल, अन्य देशों में भारत के राजदूतों, महाधिवक्ता, नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश तथा अन्य अनेक आयोगों के सदस्यों की नियुक्ति करता है। प्रधानमन्त्री के हाथ में कृपा और अनुग्रह की इतनी व्यापक शक्तियाँ होने के कारण हर कोई प्रधानमन्त्री की कृपा प्राप्त करने के लालायित रहता है। कृपा की शक्तियों के परिणामस्वरूप समस्त शासन व्यवस्था पर प्रधानमन्त्री का नियन्त्रण बहुत अधिक मजबूत हो जाता है। । .

आम चुनाव : प्रधानमन्त्री का चुनाव

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त वर्तमान समय में एक अन्य कारण से प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत अधिक मजबूत हो गयी है। प्रधानमन्त्री अपने राजनीतिक दल का नेता होता है और आम चुनाव उसके नाम से लड़े जाते हैं। पं. नेहरू के जीवनकाल में सभी आम चुनावों का नारा यही था कि कांग्रेस को वोट देकर पं. नेहरू के हाथ मजबूत कीजिए" और 1971 के लोकसभा चुनावों तथा 1972 में पांचवें आम चुनाव सत्ता कांग्रेस ने श्रीमती गाँध

के नाम पर लड़े थे। चुनाव में जनता को "इन्दिरा हटाओ " या "इन्दिरा बचाओ" — इन दो में से किसी एक के पक्ष में मतदान करना था। प्रधानमन्त्री ने इस चुनावों में अपने विरोधियों को प्रतिक्रियावादी बताते हुए स्वयं को प्रगतिशील दृष्टिकोण वाला व्यक्ति सिद्ध किया और वे देश की सर्व साधारण जनता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने में सफल रही। ऐसे निर्वाचन में, जब उस दल को पर्याप्त सफलता प्राप्त हो जाती, तो स्वाभाविक रूप से प्रधानमन्त्री की प्रतिष्ठा में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है और वह देश का सर्वप्रथम शासक बन जाता है। यह निर्विवाद है कि 1971 और 1972 के चुनावों ने भारत में प्रधानमन्त्री के रूप में श्रीमती गाँधी की प्रतिष्ठा में बहुत अधिक वृद्धि की। 1977 के चुनाव भी कुछ सीमा तक तत्कालीन और सम्भावित प्रधानमन्त्री के व्यक्तित्व पर केंद्रित थे और जनवरी 1980 में लोकसभा के निर्वाचन तो प्रधानमन्त्री का चुनाव ही थे। 1984 के लोकसभा चुनाव और नवम्बर 89 के लोकसभा चुनाव भी प्रधानमन्त्री पद पर ही केंद्रित थे। तेरहवीं लोकसभा के चुनाव और चौदहवीं लोकसभा के चुनाव भी अधिकांश अंशों में प्रधानमन्त्री के चुनाव ही थे

प्रधानमन्त्री : देश का सर्वोच्च नेता और शासक

एक पंक्ति में, प्रधानमन्त्री देश का सर्वोच्च नेता और सर्वोच्च शासक होता है। सिद्धान्त रूप में न सही लेकिन व्यवहार में देश का समस्त शासन उसी की इच्छानुसार संचालित होता है। वह व्यवस्थापिका से अपनी इच्छानुसार कानून बनवा सकता है और संविधान में आवश्यक संशोधन करवाकर सर्वोच्च न्यायालय को भी बहुत कुछ सीमा तक अपनी 'इच्छानुसार चलने के लिए बाध्य कर सकता है। मन्त्रिपरिषद् में उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है। कभी-कभी परिस्थितियोंवश भले ही उसे अपने सहयोगियों के सामने झुकना पड़े, लेकिन अन्तिम रूप में प्रधानमन्त्री के निर्णय ही मान्य होते हैं। देश की जनता हो या संसद, राज्य सरकारें हों या प्रधानमन्त्री का अपना राजनीतिक दल, हर कोई नेतृत्व के लिए प्रधानमन्त्री

की ओर ही देखता है। व्यवहार के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री पदधारी व्यक्तियों ने इस पद की शक्तियों और सम्मान में बहुत अधिक वृद्धि की है।

प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति

भारतीय शासन राजनीति

प्रधानमन्त्री की शक्तियाँ अपार तथा असीमित हैं। समय स्थिति तथा व्यक्तित्व के अनुसार उसकी स्थिति घटती बढ़ती रहती हैं। प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति प्रमुख रूप से निम्न बातों पर निर्भर करती है :

प्रथमतः और सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व यह है कि प्रधानमन्त्री के दल को लोकसभा और राज्यसभा विशेषतः लोकसभा में कैसी स्थिति प्राप्त है। यदि प्रधानमन्त्री मिली जुली सरकार या बाहरी समर्थन पर टिकी अल्पमत सरकार का नेतृत्व कर रहा है तो प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर होती है और प्रधानमन्त्री पदधारी तथा प्रधानमन्त्री पद पर निरन्तर दबाव पड़ते हैं एकदलीय सरकार का प्रधानमन्त्री ही शासन में वास्तविक प्रधान के रूप में कार्य कर पाता है।

द्वितीयतः प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत अधिक सीमा तक उसके 'व्यक्तित्व' पर निर्भर करती है। लार्ड आक्सफोर्ड तथा एस्क्विथ ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के पद के सम्बन्ध में कहा भी है कि "प्रधानमन्त्री का पद वैसा ही बन जाता है, जैसा कि उस पद का अधिकारी उसको बनाना चाहता है।" स्वाभाविक रूप से एक प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला व्यक्ति शक्तिशाली प्रधानमन्त्री के रूप में और निर्बल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति एक कमजोर प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य करता है।

तृतीयतः प्रधानमन्त्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि अपने राजनीतिक दल या अपने राजनीतिक गठबन्धन में उसे किस प्रकार की स्थिति प्राप्त है। अपने राजनीतिक दल में निर्विवाद नेता होने पर उसकी स्थिति पर्याप्त शक्तिशाली हो जाती है। लेकिन यदि उसके दल या दलीय गठबन्धन में ही उसके नेतृत्व को चुनौती दी जाती है, तो उसकी स्थिति कमजोर हो जाती है। एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व वाले व्यक्ति के द्वारा भी उसी समय तक शक्तिशाली प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य किया जा सकता है, जब तक उसे अपने राजनीतिक दल में निर्विवाद नेतृत्व प्राप्त हो।

चतुर्थतः प्रधानमन्त्री की शक्ति तत्कालीन परिस्थिति पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर गम्भीर स्थिति होने पर प्रधानमन्त्री अधिक शक्तिशाली हो जाता है, लेकिन सामान्य स्थिति में वह अधिक शक्तिशाली नहीं हो पाता।

पंचमतः प्रधानमन्त्री पदधारी को घरेलू और वैदेशिक क्षेत्र की व्यावहारिक राजनीति में प्राप्त सफलताएँ – असफलताएँ प्रधानमन्त्री की स्थिति को सबल या दुर्बल बनाती हैं। भारत-चीन सीमा संघर्ष में भारत के लिए अपमानजनक स्थिति ने प्रधानमन्त्री नेहरू की स्थिति को कमजोर कर दिया था तथा 1965 के भारत-पाक संघर्ष में पाकिस्तान की पराजय तथा 1971 के संघर्ष में पाकिस्तान की निर्णायक पराजय ने तत्कालीन प्रधानमन्त्रियों श्री वास्ती और श्रीमती गाँधी की स्थिति को सबलता प्रदान की थी।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी अन्य कुछ तत्व हो सकते हैं। जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है प्रधानमन्त्री पद सामान्यतया बहुत अधिक शक्तिशाली रहता है यद्यपि कुछ ऐसे काल (1964 के मध्य से 1965 का मध्य व 1966 के प्रारम्भ से 1969 तक 1977-79 तथा 1987-91) भी रहे जिनमें प्रधानमन्त्री पद की शक्ति कम होते हुए भी देखी गयी है। 1991-96 (नरसिम्हा राव का कार्यकाल) के काल में प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिष्ठा और

शक्तियों में वृद्धि तथा प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिष्ठा को आघात: दोनों ही स्थितियाँ देखी गयीं। 1971 से 1976 के काल को भारत में प्रधानमन्त्री पद का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है। आपात काल के 19 महीनों ने जहाँ एक ओर प्रधानमन्त्री पद को नवीन ऊँचाईयाँ प्रदान की वहीं दूसरी ओर व्यक्ति और पद के रूप में प्रधानमन्त्री को अनेक विवादों से जोड़कर इस पद की गरिमा को गिराया। 1996, 97 98 99 और 2004 में जो 13, 15, 18, 24 या 14 दलों की मिली जुली सरकारों का गठन हुआ, इन सरकारों ने प्रधानमन्त्री पद की प्रतिष्ठा को कभी हल्का और कभी भारी आघात ही पहुँचाया है। निश्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सामान्यतः केन्द्र में एकदलीय सरकार होने पर प्रधानमन्त्री को शक्तिशाली स्थिति प्राप्त होती- है लेकिन मिली जुली सरकार में प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर होती है।



मन्त्रिपरिषद तथा संसद के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन भी दो रूपों में किया जा सकता है । – (1) सैद्धान्तिक दृष्टि से, और (2) व्यावहारिक दृष्टि से ।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था अपनायी गयी है और संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती है तथा कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) व्यवस्थापिका (संसद) के प्रति उत्तरदायी होती है। उत्तरदायित्व के प्रसंग में संसद का आषय लोकसभा से होता है। उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल लोकसभा के अधीन है, वह इसकी इच्छानुसार ही कार्य करेगा और मन्त्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर बना रह सकेगा, जब तक उसे लोकसभा के बहुमत का विष्वास प्राप्त हो । संसद के द्वारा मन्त्रिमण्डल पर निम्नलिखित साधनों से नियन्त्रण रखा जा सकता है:

1. प्रश्नोत्तर संसद को अधिकार है कि वह अपने अधिवेशन के दिनों में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछें। इन प्रश्नों के आधार पर संसद –सदस्य सरकार की विभिन्न प्रशासनिक त्रुटियों से परिचित हो जाते हैं और उनके द्वारा निन्दा – आलोचना के आधार पर सरकार को सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

2. काम रोको प्रस्ताव – यदि प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में कोई गम्भीर घटना घटित हो गई हों तो प्रत्येक संसद सदस्य को अधिकार है कि वह अपने संसदन में इस आषय का प्रस्ताव रखे कि पहले से चले आ रहे सभी विषयों पर विचार स्थगित कर सदन इस गम्भीर घटना पर विचार करे। इसे ही कामरोको प्रस्ताव कहते हैं। यह प्रस्ताव मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन होता है।

3. विधेयक या नीति की अस्वीकृति संसद को अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक या नीति को अस्वीकृति कर दे। यदि यह अस्वीकृति लोकसभा की ओर से होती है तो मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है। 4. बजट में कटौती मन्त्रिमण्डल संसद की स्वीकृति बिना आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं कर सकता । मन्त्रिमण्डल का बजट पर पूर्ण नियन्त्रण होता है और लोकसभा द्वारा बजट में कटौती का आषय होता है— अविष्वास का प्रस्ताव । “

5. प्रशासनिक जाँच – संसद मन्त्रिमण्डल के कार्य की जाँच पड़ताल के लिए एक जाँच समिति स्थापित कर सकती है। यह सरकार के हिसाब-किताब की जाँच के लिए लेखा परीक्षक नियुक्त कर उसकी रिपोर्ट पर विचार कर सकती है।

6. अविष्वास प्रस्ताव लोकसभा के द्वारा अविष्वास का प्रस्ताव पास कर सरकार को पदच्युत किया जा सकता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से संसद मन्त्रिमण्डल के सभी कार्यों का नियन्त्रण रखती है और यदि संसद मन्त्रिमण्डल के कार्य करने के ढंग से असन्तुष्ट हो तो लोकसभा के द्वारा अविष्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।

सारांश – उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी अन्य कुछ तत्व हो सकते हैं। जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है प्रधानमन्त्री पद सामान्यतया बहुत अधिक शक्तिशाली रहता है यद्यपि कुछ ऐसे काल (1984 के मध्य से 1965 का मध्य व 1966 के प्रारम्भ से 1969 तक 1977-79 तथा 1987 – 91) भी रहे जिनमें प्रधानमन्त्री पद की शक्ति कम होते हुए भी देखी गयी है। 1991-96 (नरसिम्हा राव का कार्यकाल) के काल में प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिष्ठा और शक्तियों में वृद्धि तथा प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिष्ठा को आघात: दोनों ही स्थितियाँ देखी गयीं। 1971 से 1976 के काल को भारत में प्रधानमन्त्री पद का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है । आपात काल के 19 महीनों ने जहाँ एक ओर प्रधानमन्त्री पद को नवीन ऊँचाईयाँ प्रदान



की वहीं दूसरी और व्यक्ति और पद के रूप में प्रधानमंत्री को अनेक विवादों से जोड़कर इस पद की गरिमा को गिराया। 1996 97 98 99 और 2004 में जो 13, 15, 18, 24 या 14 दलों की मिली जुली सरकारों का गठन हुआ, इन सरकारों ने प्रधानमंत्री पद की प्रतिष्ठा को कभी हल्का और कभी भारी आघात ही पहुंचाया है। निश्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सामान्यतः केन्द्र में एकदलीय सरकार होने पर प्रधानमंत्री को षक्तिषाली स्थिति प्राप्त होती है। लेकिन मिली जुली सरकार में प्रधानमंत्री की स्थिति कमजोर होती है।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

1. राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना

प्रधानमंत्री का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना है। वह यह निष्पक्ष करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रशासन के विभिन्न विभागों के द्वारा और वैदेशिक क्षेत्र में दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध के विषय में किस प्रकार की नीति अपनायी जायेगी। मन्त्रिमण्डल के द्वारा नीति निर्धारित कर चुकने के बाद सम्बद्ध विभागों के द्वारा इस नीति के आधार पर विभिन्न विधेयक संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार कानून निर्माण का कार्य बहुत कुछ सीमा तक मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार ही होता है। प्रशासनिक नियमों का निर्माण भी कैबिनेट ही करती है। आँग का यह कथन भारतीय मन्त्रिमण्डल पर लागू होता है कि “कैबिनेट के मन्त्री लोग नीति निर्धारित करते हैं, विनिष्पक्ष करते हैं और प्रत्येक ऐसे आवश्यक विषय पर विधेयकों का प्रारूप तैयार करते हैं, जिन्हें वे विधि रूप में पास कराना चाहते हैं।”

2. वैदेशिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण – कैबिनेट के द्वारा ही देश के वैदेशिक सम्बन्ध पर नियन्त्रण रखा जाता है। विदेशी राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के साथ समस्त वार्ताओं का संचालन प्रधानमंत्री या विदेशमन्त्री या प्रधानमंत्री के किसी अन्य प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है और जब इस वार्ता के परिणामस्वरूप कोई सन्धि या समझौता हो जाता है तो संसद को उसके सम्बन्ध में सूचना दे दी जाती है और संसद से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है। वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में संसद की भूमिका बहुत ही गौण होती है, इसका प्रमाण यह है कि 1971 में सोवियत संघ के साथ मैत्री सन्धि से पूर्व लगभग 2 वर्षों से बातचीत चल रही थी, लेकिन संसद को इस सम्बन्ध में तभी सूचना मिली, जबकि अगस्त 1971 में सन्धि ज पर हस्ताक्षर हो गये। कई बार सरकार विदेशों के साथ गुप्त सन्धियाँ और समझौते करती है और संसद को इस सम्बन्ध में सूचना भी नहीं दी जाती। वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन की आवश्यकता होती है और इसी कारण यह कार्य कैबिनेट के द्वारा ही किया जा सकता है, संसद के द्वारा नहीं।

3. मन्त्रिमण्डल की बैठकें – मन्त्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमंत्री की इच्छानुसार होती हैं और प्रधानमंत्री के द्वारा ही इन बैठकों का कार्यक्रम निश्चित किया जाता है। साधारणतः, मन्त्रिमण्डल की बैठक सप्ताह में एक बार होती है, लेकिन विषेश परिस्थिती में सप्ताह में एक बार से भी अधिक ऐसी बैठकें हो सकती हैं। इन बैठकों में सभापति का स्थान प्रधानमंत्री द्वारा ग्रहण किया जाता है। बैठकों की समस्त कार्यवाही गुप्त रखी जाती है। मन्त्रिमण्डल की बैठकों में जो कुछ भी निर्णय लिए जाते हैं, वे मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य रूप से मान्य होते हैं और मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य त्यागपत्र देकर ही इन निर्णयों का विरोध कर सकता है।

4. सर विलियम हारकोर्ट उसे ‘नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा और डॉ. जेनिंग्स ऐसा सूर्य बताते हैं जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते रहते हैं भारतीय प्रधानमंत्री पद पर हारकोर्ट और जेनिंग्स के कथन पूर्णरूप से लागू होते हैं। पं. नेहरू को प्रधानमंत्री के रूप में अपनी मन्त्रिपरिषद पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त था तथा श्रीमती गाँधी द्वारा अपने प्रधानमंत्री काल में मन्त्रिपरिषद में बहुत अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति का उपभोग किया गया।



1. मन्त्रिपरिषद के गठन की प्रक्रिया को स्पष्ट करें।
2. प्रधानमन्त्री की चयन, नियुक्ति की प्रक्रिया तथा उसकी शक्तियों का वर्णन करें।
3. आम चुनाव प्रधानमन्त्री का चुनाव होता है । व्याख्या करें।
4. मन्त्रिमण्डल तथा संसद के सम्बन्धों पर टिप्पणी लिखें।



इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

सर्वोच्च न्यायालय का गठन एवं रचना

न्यायाधीषों की नियुक्ति, इनके कार्यकाल एवं उन्मुक्तियाँ।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार

न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति और सीमाएँ

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व

अध्ययन के उद्देश्य

: सर्वोच्च न्यायालय की रचना

: न्यायाधीषों की नियुक्ति, कार्यकाल एवं उन्मुक्तियाँ

: सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार

: न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य

: भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति और सीमाएँ

: न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति और सीमाएँ

: न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व

परिचय

प्रत्येक लोकतंत्र राज्य में एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायापालिका का होना आवश्यक है प्रो० गार्नर के शब्दों में, न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी समाज बिना विधानमण्डल के रहता है, यह बात समझ में आ सकती है। लेकिन ऐसे किसी राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें न्यायापालिका की आवश्यकता और अधिक बढ़ जाती है। इसके अग्रलिखित कारण हैं।

(1) संघ शासन में केन्द्र तथा राज्यों के बीच शासन शक्ति का विभाजन होता है। अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों सरकारों के बीच विवाद उठ सकते हैं। संविधान के उपबन्धों के अनुसार ऐसे किसी प्रकार का फैसला करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता है।

(2) संविधान लिखित होता है। लिखित संविधान में कहीं-कहीं अनिश्चितता और अस्पष्टता पाई जाती है। अतः उसकी व्याख्या एक निष्पक्ष निकाय अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की जानी चाहिए।

भारतीय शासन राजनीति

किसी उच्च न्यायालय या न्यायालयों में लगातार 100 वर्ष तक अधिवक्ता (अवबंजम) है राष्ट्रपति के विचार में एक परंपरागत विधिवेत्ता हो ।

यह अन्तिम उपबन्ध वस्तुतः चुनाव के क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए रखा गया है। बन्ध के अनुसार किसी विष्वविद्यालय में पढ़ाने वाला कोई विख्यात विधिवेत्ता सर्वोच्च य. में न्यायाधीष के पद पर नियुक्त किया जा सकेगा।

कार्यकाल – सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष 65 वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर ते हैं। इससे पहले वह चाहें तो त्यागपत्र दे सकता है। कदाचार एवं असमर्थता के संसद महाभियोग पारित कर न्यायाधीषों को पदच्युत कर सकती है। यदि संसद के दन अपने अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत में उपस्थित व में भाग लेने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से किसी न्यायाधीष को हटाना होगा । अर्थ है कि संसद के प्रस्ताव से ही न्यायाधीष नहीं हट जाता उसे हटाने का आदेश जारी करता है। न्यायाधीष को हटाने का प्रस्ताव एक ही सत्र में पास होना चाहिए। ष को अपने बचाव के लिए स्वयं पैरवी करने या वकील के माध्यम से पैरवी करने का र है:

भारत में अब तक केवल एक बार 1992-93 में सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीष स्वामी के विरुद्ध संसद में महाभियोग प्रस्ताव लाया गया लेकिन जब संसद में अस पर विचार चल रहा था, तभी षासक दल के द्वारा वापस ले लिया गया। इस प्रकार के संवैधानिक इतिहास में अब तक किसी न्यायाधीष के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव नहीं किया गया है।

वेतन, भत्ते और अन्य सुविधाएँ – संविधान के अनुच्छेद 125 के अनुसार सर्वोच्च य के न्यायाधीषों को ऐसे वेतन दिए जाएंगे जो संसद कानून द्वारा कानून द्वारा निध करे। ये वेतन तथा भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जाते हैं और न्यायाधीष के कार्यकाल में 'उनके वेतन तथा भत्ते में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। संविधान के अनुसार मुख्य न्यायाधीष को 1,00,000 तथा अन्य न्यायाधीषों को 90,000 रु० प्रतिमाह वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें निःशुल्क निवास स्थान, मासिक भत्ते, यात्रा भत्ता, मनोरंजन भत्ता, स्टॉफ कार, सीमित मात्रा में पेट्रोल तथा कुछ आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीषों पर यह प्रतिबंध लगाया गया है कि अवकाष प्राप्ति के लिए बाद में भारत के किसी अन्य न्यायालय में या किसी अधिकारी के अधीन वकालत नहीं कर सकेंगे। किन्तु सरकार किसी अवकाष प्राप्त न्यायाधीष को विषिष्ट कार्य पर लगा सकती है।

षपथग्रहण – प्रत्येक न्यायाधीष को पद ग्रहण करते समय राष्ट्रपति के समक्ष या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष षपथ लेनी पड़ती है कि, "मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निश्ठा रखूंगा तथा मैं सम्यक प्रकार से और श्रद्धापूर्वक तथा अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों को भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूंगा तथा मैं संविधान और विधियों की मर्यादा बनाए रखूंगा।"

सर्वोच्च न्यायालय का स्थान – सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है किन्तु राष्ट्रपति के अनुमोदन से भारत का मुख्य न्यायाधीष समय-समय पर न्यायालय की बैठक अन्य स्थानों पर भी कर सकता है। अब तक हैदराबाद और श्रीनगर में ऐसी बैठकें हो चुकी हैं !

1. कर्मचारी वर्ग- सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संविधान निर्माताओं ने सर्वोच्च न्यायालय को अपना प्रथक कर्मचारी वर्ग रखने की तथा उस पर पूर्ण नियंत्रण करने की षक्ति दी है। न्यायालय के पदाधिकारी एवं कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीष या

उसके द्वारा नामित किसी अन्य न्यायाधीष अथवा प्राधिकारी द्वारा की जाती है। उनकी सेवा की शर्तें भी न्यायालय द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

उन्मुक्तियाँ— न्यायाधीष को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गई है। इसका अर्थ है कि न्यायालय के निर्णय अथवा किसी न्यायाधीष के मत का आलोचनात्मक विप्लेशन नहीं किया जा सकता। जिस बात का निषेध किया गया है वह केवल यह है कि निर्णयों को देने के सम्बन्ध में न्यायाधीषों की ईमानदारी में संदेह व्यक्त नहीं किया जा सकता। संसद के द्वारा भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीषों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता।

न्यायालय की कार्यविधि – सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि के सम्बन्ध में संविधान में कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। इसके अलावा संविधान भारतीय संसद को भी इस बारे में कानून बनाने का अधिकार देता है। पेश बातों में सर्वोच्च न्यायालय खुद ही राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करके अपनी कार्यप्रणाली सम्बन्धी नियम बना सकता है। संविधान में न्यायालय की कार्यप्रणाली के बारे में निम्नलिखित बातें दी गई हैं

(1) जिन बातों का सम्बन्ध संविधान की व्याख्या से हो या जिनके अन्तर्गत संवैधानिक प्रश्न उलझा हो या जिनमें कानून के अर्थ को स्पष्ट करने की जरूरत हो या जिन विषयों पर विचार करने का कार्य भारत के राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा हो, उनकी सुनवाई उच्चतम न्यायालय के कम से कम 5 न्यायाधीषों द्वारा की जाएगी। (2) सर्वोच्च न्यायालय के सामने किसी ऐसे मुकदमे की अपील रखी जा सकती है जिसकी सुनवाई के बाद यह विचार किया जाये कि इसमें संविधान की व्याख्या करना जरूरी है या कानून के अर्थ को तात्त्विक

रूप से प्रकट करना होगा। इस प्रकार के वाद-विवाद प्रारम्भ में 5 से कम न्यायाधीषों के सामने रखे जा सकते हैं लेकिन यदि वह जाहिर हो जाए कि इसमें संविधान की व्याख्या या कानून के रूप का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है तो उसे कम-से-कम 5 न्यायाधीषों के सामने रखा जायेगा और इसकी व्याख्या के अनुसार ही निर्णय होगा। (3) सर्वोच्च न्यायालय के सभी फैसले खुली अदालत में सुनाये जायेंगे। (4) सर्वोच्च न्यायालय के फैसले बहुमत के आधार पर होंगे। बहुमत के आधार पर होंगे। बहुमत की राय से सहमत न होने वाला न्यायाधीष अलग निर्णय दे सकता है। लेकिन बहुमत का ही निर्णय मान्य होगा। (5) 42 वें संविधान संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि जब न्यायाधीष किसी कानून की वैधानिकता के प्रश्न पर विचार करेगा तो कम से कम 5 न्यायाधीष बैठेंगे और 143 बहुमत से दिया गया फैसला मान्य होगा।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। यह विषय के सभी न्यायालयों से अधिक शक्तिशाली है इतना व्यापक क्षेत्राधिकार किसी अन्य न्यायालय को हो। इसमें क्षेत्राधिकारी को तीन भागों में रखा जा सकता है—

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (2) अपीलीय क्षेत्राधिकार (3) परामर्शीय क्षेत्राधिकार।

“ (2) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार, (अपहपदस) सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव

क्षेत्राधिकार को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(अ) प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार, (अपहपदस) मन्त्रिमण्डल मन्त्रपरामर्श (अपहपदस) – प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार का अर्थ उन विवादों से है जिनकी सुनवाई भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की जा सकती है। उन्हें इससे पूर्व किसी अन्य न्यायालय में पेश नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के विवाद निम्नलिखित हैं



भारतीय शासन राजनीति

(1) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्य और दूसरी तरफ या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद ।

(2) एक तरफ भारत सरकार और एक या एक से अधिक राज्य और दूसरी तरफ एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद ।

(3) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच ऐसे विवाद जिनका सम्बन्ध किसी तथ्य एवं विधि । सम्बन्धी प्रश्न से हो और जिसका प्रभाव किसी विधि के अधिकार पर पड़ता है। व्यक्तियों, समुदायों तथा स्थानीय निकायों से सम्बन्धित विवादों में सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं है।

(ब) समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (बदबनततमदज वतपहपदंस श्रनतपेकपबजपवद) मौलिक अधिकार सम्बन्धी विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के साथ-साथ यह अधिकार उच्च न्यायालयों को भी प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 32 (1) द्वारा विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय के उत्तरदायी ठहराया गया है कि वह "मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे।" सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेरण और अधिकार पञ्छन का लेख निकाल सकता है।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार (।चचमससंजम श्रनतपेकपबजपवद) – सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ-साथ संविधान ने समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का भी अधिकार प्रदान किया है। अपीलीय क्षेत्राधिकारी को

1. सर्वोच्च न्यायालय के

न्यायाधीशों के कार्यकाल और पदच्युति की प्रक्रिया स्पष्ट करें।

2. सर्वोच्च न्यायालय के अपालीय क्षेत्राधिकार क्या हैं?

निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा जा सकता है

(अ) असंवैधानिक (बदजपजपवदंस) – संविधान अनुच्छेद 132 के अनुसार, "यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रश्न अर्न्तग्रस्त है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। "यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाण-पत्र देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय में संविधान की व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है।

(ब) दीवानी (ब्यअपस) – संविधान की मूल व्यवस्था के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में उन्हीं दीवानी विवादों की अपील की जा सकती थी जिनका सम्बन्ध 20 हजार रुपये की नराषि या जायदाद से हो तथा सर्वोच्च न्यायालय में तत्सम्बन्धी प्रमाण-पत्र दिया गया हो। सन् 1970 में संसद के अधिनियम द्वारा धनराषि को बढ़ाकर 1 लाख रुपये कर दिया लेकिन विधि । आयोग ने दीवानी विवादों में धनराषि की इस समय सीमा को हटा देने का सुझाव दिया । फलस्वरूप संविधान में 30वां संशोधन सन् 1972 में किया गया । और धन सम्बन्धी सीमा हटा दी गई । इसके अनुसार अनुच्छेद 133 को संशोधित करते हुए यह व्यवस्था की गई कि उन समस्त विवादों की सर्वोच्च न्यायालय में अपील हो सकेगी जिनके बारे में उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि इस विवाद में विधि की व्याख्या सम्बन्धी सारभूत प्रश्न निहित है।

(स) फौजदारी (बतपउपदंस) – फौजदारी विवादों में उच्च न्यायालयों के निर्णयों की अपील निम्नलिखित परिस्थितियों में की जा सकती है यदि –

(1) उच्च न्यायालय में अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुक्ति का आदेश रद्द कर उसे मष्युदंड दे दिया हो। (2) उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को मष्युदंड दिया हो (3) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है।

(द) विषिष्ट (चमबपंस) यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की व्यवस्था है फिर भी कुछ मामलों ऐसे हो सकते हैं जो इनके अन्तर्गत नहीं आते अतः अनुच्छेद 136 की व्यवस्था की गई है जिसके अनुसार, “इस सम्बन्ध में किसी भी उपबन्ध के होते हुए सर्वोच्च न्यायालय भारत के किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा लिए गए निर्णय, आज्ञाप्ति, निर्धारण, दण्ड या आदेश के विरुद्ध अपील करने की अनुमति प्रदान कर सकता है।” इसका एकमात्र अपवाद सषस्त्र सेना से सम्बन्ध कानून के अधीन स्थापित न्यायालय के निर्णय है। सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।

सर्वोच्च न्यायालय को राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष, और प्रधानमंत्री सहित भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव सम्बन्धी विवादों पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है।

(3) परामर्षीय क्षेत्राधिकार (अपेवतल श्रनतपेकपबजपवद) – संविधान सर्वोच्च न्यायालय को परामर्ष देने का भी अधिकार देता है। अनुच्छेद 143 के अनुसार यदि किसी समय राष्ट्रपति यह महसूस करता है कि कानून का एक ऐसा प्रश्न पैदा हो गया है जो सार्वजनिक महत्व का है तो वह उस प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय की राय मांग सकता है ऐसी स्थिति में न्यायालय का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह परामर्ष दे परन्तु परामर्ष को स्वीकार करना या न करना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है।

अनुच्छेद 143 (2) राष्ट्रपति को यह अधिकार देता है कि वह संविधान लागू होने से पूर्व की किसी संधि, इकारार नामा आदि के सम्बन्ध में उठे विवादों को इस न्यायालय के पास उनकी सम्मति जानने के लिए भेज सके। ऐसे विवादों में न्यायालय को परामर्ष देना अनिवार्य है परन्तु उसको मानना या न मानना राष्ट्रपति पर निर्भर है।

इस क्षेत्र के बारे में प्रो० पायली ने लिखा है, “उच्चतम न्यायालय का परामर्ष सम्बन्ध क्षेत्राधिकार मुकदमेबाजी को रोकने और उसे काफी देने समय तक कम करने में सहायक होता है।”

इन कार्यों के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के कुछ और भी कार्य हैं—

(अ) अभिलेख न्यायालय अनुच्छेद 129 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय माना गया है। अभिलेख न्यायालय के दो अर्थ हैं—

(1) इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप में स्वीकार किये जायेंगे और किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने पर उनकी प्राथमिकता के विषय में प्रश्न नहीं उठाया जायेगा।

(पप) जब विधि द्वारा न्यायालय को अभिलेख न्यायालय बना दिया जाता है तो उससे वह न्यायालय अवमानना (बदजमउचज वब्विनतज) के लिए दण्ड देने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। सर्वोच्च न्यायालय अवमान के लिए दण्ड देने का अधिकार संविधान द्वारा विशेष रूप से स्वीकार किया गया है।

(ब) पुनर्विचार की शक्ति – अनुच्छेद 137 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों, अपीलों के आदेशों के पुनर्विचार का अधिकार है। यदि सर्वोच्च न्यायालय को यह संदेह हो

भारतीय शासन राजनीति

कि निर्णय से किसी पक्ष के साथ अन्याय हुआ है या कोई नवीन तथ्य प्रकाश में आया है। तो आवश्यकतानुसार पुनः सर्वोच्च न्यायालय अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर सकता है।

(स) संविधान का रक्षक

संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षण का कार्य सौंपा गया है इसका अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय को कानून की वैधता की जाँच का अधिकार है अनुच्छेद 131 व 132 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार है यदि संघीय संसद या राज्य विधान मण्डल कोई ऐसा कानून बना देता है जो संविधान के विरुद्ध है या मौलिक अधिकारों के विरुद्ध है तो सर्वोच्च न्यायालय उस कानून को उसी सीमा तक अवैध घोषित कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वषट्ति अनुच्छेद 138 द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह विधि द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वषट्ति कर सकती है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका से जनता न्याय की आशा करती है। यही जनता की कार्यकारिणी व व्यवस्थापन अत्याचारों से सुरक्षा करती है। जनता को इससे बड़ी आशाएं रहती हैं। भारत में भी न्यायपालिका को स्वतंत्र रखने का यथा सम्भव प्रयत्न किया गया है। निम्नलिखित बातें इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं

(1) नियुक्ति की विधि – न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है जो नियुक्त करते समय मुख्य न्यायाधीश व अन्य न्यायाधीशों से भी राय लेता है। राष्ट्रपति इस बात की पूरी जाँच कर लेता है कि योग्य व्यक्ति ही न्यायाधीश नियुक्त हों।

(2) लम्बा कार्यकाल – सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की उम्र तक पदासीन रहते हैं। उन्हें एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के द्वारा उनके पद से हटाया नहीं जा सकता है। उनके हटाने की प्रक्रिया बहुत कठिन है। संसद के दोनों सदनों में उपस्थित तथा : मतदान करने वालों के 2/3 बहुमत से ही उन्हें हटाया जा सकता है। इससे न्यायाधीशों उनके पद की सुरक्षा मिलती है।

(3) पर्याप्त वेतन न्यायाधीशों को सम्मानित जीवन बिताने के लिए काफी वेतन मिलता है यह वेतन उनके कार्यकाल के दौरान कम नहीं किया जा सकता है। उनका वेतन संचित निधि I से दिया जाता है जिस पर संसद का नियंत्रण होता है। अतः उन्हें वेतन व भत्तों की सुरक्षा प्राप्त होती है।

(4) कार्य प्रणाली सम्बन्धी नियम बनाने की शक्ति न्यायालय को अपनी कार्यप्रणाली स्वयं तय करने का अधिकार है परन्तु ये नियम संसद द्वारा बनाये गए कानून और संविधान की व्यवस्थाओं के अधीन बनाए जाते हैं। राष्ट्रपति उनका अनुमोदन करता है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय पूरे भारत के भीतर सभी न्यायालयों को मान्य होते हैं।

(5) अपने कर्मचारियों की नियुक्ति

सर्वोच्च न्यायालय अपने कर्मचारियों की नियुक्ति स्वयं करता है। इन कर्मचारियों की सेवा शर्तें भी वही तय करता है। वह अपने समस्त कर्मचारियों पर अनुशासनात्मक नियंत्रण रखता है।

अवकाश ग्रहण करने के बाद वकालत पर प्रतिबंध (6)

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अवकाश ग्रहण करने पर न तो सर्वोच्च न्यायालय में वकालत कर सकते हैं और न ही किसी अन्य न्यायालय में हों उनकी सेवाएं विशेष जांच के लिए ली जा सकती हैं।

(7) उन्मुक्तियाँ – न्यायाधीशों के अधिकारिक तौर पर किये गये कार्यों व निर्णयों की आलोचना नहीं की जा सकती। ऐसा करना न्यायालय का अपमान करना माना जाता है।

(8) पेंशन की व्यवस्था. अवकाश ग्रहण करने पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधियों को आजीवन पेंशन दी जाती है। इस कदम ने उनके भविष्य को सुरक्षित बना दिया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता व निष्पक्षता को कायम रखने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है। इस प्रकार भारत का सर्वोच्च न्यायालय अत्यधिक शक्तिशाली व निष्पक्ष है।

न्यायिक अवलोकन का तात्पर्य

न्यायिक पुनर्विलोकन अथवा न्यायिक समीक्षा अंग्रेजी भाषा के जस्टिस के श्रनकपबपंस त्मअपमू का हिन्दी अनुवाद है। इसका अभिप्राय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान तथा उसकी सर्वोच्चता की रक्षा करने की व्यवस्था से है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि न्यायालय की व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों और कार्यपालिका के आदेशों को संवैधानिक निश्चितता करने का अधिकार प्राप्त होता है यदि संघीय या राज्य विधान मण्डलों द्वारा संविधान का अतिक्रमण किया जाता है या मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कानूनों का निर्माण किया जाता है तो संघीय संसद या राज्य विधान मण्डल द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि अथवा संघीय या राज्य प्रशासन द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को ही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहा जाता है। राज्यों के सम्बन्ध में इस शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय के द्वारा किया जा सकता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन का आधार संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्तों को अपनाया था। वास्तव में न्यायिक पुनर्विलोकन अमेरिका की देन है। यद्यपि अमरीकी संविधान में कहीं भी स्पष्ट रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति नहीं दी गई फिर भी संविधान में कहीं भी स्पष्ट रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति नहीं दी गई फिर भी संविधान के अनुच्छेद 80 के शब्दों की व्याख्या करते हुए न्यायालय ने यह शक्ति प्राप्त कर ली है। 1803 में माखरी बनाम मैडीसन के मामले में निर्णय देते हुए अमरीकन उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने कहा था, “संविधान देश का सर्वोच्च और मूलभूत कानून है। कोई भी अधिनियम जो संविधान के विरुद्ध है, असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है” इस निर्णय के बाद से उच्चतम न्यायालय निरन्तर इस अधिकार का प्रयोग करता आ रहा है।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था – भारतीय संविधान में भी संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है तथा स्वयं संविधान में इसकी घोषणा कर दी गई है। भारत में शासन के सभी अंग अपनी शक्तियाँ भी संविधान द्वारा निर्धारित हैं अतः न्यायालय को उन सीमाओं का संरक्षक बनाया गया है। न्यायामूर्ति बी. के. मुकर्जी के अनुसार, “भारत में संविधान ही सर्वोच्च है और संसद तथा राज्यों में विधानमण्डलों को न केवल संविधान आन में सातवीं अनुसूची में दी गई सूचियों द्वारा सीमांकित अपने-अपने क्षेत्रों के अन्दर रहकर काम करना होगा, अपितु संविधान के भाग 3 में नागरिकों को कुद मौलिक अधिकारों की गारन्टी दी गई है। विधायी सत्ता जिनका उल्लंघन किसी भी दशा में नहीं कर सकती। किसी अधिनियम के वैध होने के लिए यह आवश्यक है कि वह सब मामलों में संवैधानिक शर्तों के अनुरूप हो और यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक अधिनियम असंवैधानिक है अथवा नहीं।”

इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायिक पुनर्विलोकन शक्ति का तात्पर्य है— कानूनों को देखना कि वे संविधान के अनुकूल हैं अथवा प्रतिकूल और यदि प्रतिकूल हैं तो उन्हें असंवैधानिक घोषित करके लागू होने से रोकना। यह बात मन्त्रिपरिषद् के कार्यों और आदेशों पर लागू होती



भारतीय शासन राजनीति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 और 132 उच्चतम न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 13 और 32 मौलिक अधिकारों के बारे में उच्चतम न्यायालय को ऐसी ही शक्ति प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 246 व 254 का भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है जिनके द्वारा केन्द्र और राज्यों में विधि निर्माण की शक्तियों के विभाजन को निश्चित शक्तियों के विभाजन को निश्चित किया गया है— संघात्मक शासन के नागरिकों के मौलिक अधिकार । उच्चतम न्यायालय को इन दोनों स्थितियों को बहाल रखने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को नियंत्रण करने का अधिकार प्राप्त है ।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन : प्रकृति और सीमाएँ

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है। इसके निम्नलिखित कारण हैं

(1) अमरीकी संविधान अत्यधिक संक्षिप्त है और संविधान की इस संक्षिप्तता के कारण संघीय शासन और इकाइयों के बीच विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन शक्ति के क्षेत्र इसलिए अपेक्षाकृत सीमित है कि भारत के संविधान में संघ और राज्यों के मध्य संघर्ष की स्थिति को

कम करने के लिए एक समवर्ती सूची की व्यवस्था की गई है। इन विस्तृत उपबन्धों के कारण— न्यायाधिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है।

(2) अमेरिका का अधिकार—पत्र निरपेक्ष षड्दावली में लिखा गया है। इन अधिकारों के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए पुलिस शक्ति और सामान्य कल्याण जैसे शब्दों को आश्रय लिया गया है। कार्यपालिका पुलिस शक्ति और सामान्य कल्याण के आधार पर अधिकार की सीमा निश्चित कर सकती और सर्वोच्च इस बात की जांच करता है कि कार्यपालिका ने अपनी शक्ति का प्रयोग उचित रूप में किया अथवा नहीं। इस प्रकार अमरीकी संविधान के 'पुलिस शक्ति' और 'सामान्य कल्याण जैसे शब्दों ने सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बहुत व्यापक कर दिया है। भारतीय संविधान में दिये गये मौलिक अधिकार निरपेक्ष नहीं हैं। अधिकारों के साथ उनकी सीमाओं का भी उल्लेख है ।

(3) भारत की अमेरिका की न्यायिक पुनर्विलोकन की पद्धति में भी अन्तर है । अमेरिका में विधि की उचित प्रक्रिया के सिद्धान्त को अपनाकर इस पुनरावलोकन का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक बना दिया है परन्तु भारत में विधि राज्य स्थापित प्रक्रिया को अपनाया गया है। इसका अर्थ है कि न्यायालय संघ अथवा राज्यों द्वारा निर्मित कानून को तभी असंवैधानिक घोषित कर सकता है जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में, संविधि

न द्वारा प्रदान की गई अपनी कानून निर्माण क्षमता का उल्लंघन किया हो ।

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना – सर्वोच्च ने अपने इस अधिकार का प्रयोग सामान्यतः विवेकपूर्ण ढंग से कार्य किया है किन्तु 1969 ई. में गोकुलनाथ विवाद के निर्णय से लेकर 1971 ई. तक ऐसी प्रवृत्तियाँ उभरी जिनकी आलोचना की कई है। इनमें से मुख निम्नलिखित हैं

(1) अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य न्यायालय ने अनेक निर्णयों द्वारा सरकार द्वारा सम्पत्ति के सम्बन्ध में बनाये गये प्रगतिशील तथा जन कल्याणकारी कानूनों को असंवैधानिक घोषित कर अनुदारवादी संस्था के रूप में कार्य किया है। विशेषतः 1950—51 में जमींदारी उन्मूलन को रद्द करना, कुन्हीकोनम मामले में कृषि अधिनियम को अवैध घोषित करना, गोकुलनाथ मामले में निर्णय, बैंक राष्ट्रीयकरण व पिटीपर्स उन्मूलन को असंवैधानिक घोषित करना आदि ।

(2) सर्वोच्च न्यायालय को अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन □ यद्यपि न्यायालय को अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन का अधिकार है और कुछ सीमा तक यह आवश्यक भी है। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णयों में अधिक परिवर्तन किये कि इससे सम्पूर्ण संवैधानिक विधि के संदर्भ में भ्रम और अस्पष्टता को जन्म मिला। उदाहरणार्थ –

(1) षंकर प्रसाद व सज्जन सिंह षेखावत मामलों के निर्णय, 1967 ई. गोकुल नाथ मामले में बदले गये। तथा गोकुलनाथ मामले के निर्णय को 1973 ई. में केषवानन्द मामले में उलट दिया गया (पप) 1967 ई. में गुजराज राज्य बनाम षान्तिमल मंगलदास मामले के निर्णय को 1969 ई. में ही बैंक का राष्ट्रीयकरण अधिनियम के संदर्भ में बदल दिया गया।

चवाम 1967–71 के कार्यकाल में का प्रयोग किया, उसमें संवैधानिक

(3) संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण न्यायालय ने जिस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन की षक्ति सीमाओं का अतिक्रमण हुआ तथा न्यायालय ने भारत की अदा करने की कोषिष की जो संविधान निर्माता उसे देना नहीं चाहते थे।

(4) राजनीतिक व्यवस्था में वह भूमिका

सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता – न्यायिक

पुनर्विलोकन के कारण इस बात का निरन्तर भय रहता है कि कोई नीति किसी भी स्थिति या स्तर पर संवैधानिक घोषित की जा सकती है। अतः उपर्युक्त क्षेत्रों में अस्थिरता को जन्म मिलता है तथा विकास व परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र नहीं हो पाती।

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व

. उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस अवस्था की महत्ता एवं आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता अपने इस अधिकार के कारण न्यायालय ने संविधान के व्याख्याता तथा रक्षक की भूमिका का प्रभावी ढंग से निर्वाह किया है तथा षासन की षक्ति पर अंकुष लगाने एवं व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की है।

‘संविधान के 42 वे संषोधन में 1976 द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार को सीमित कर दिया गया था परन्तु 1977 ई. में 42 संषोधन द्वारा उन सीमाओं को समाप्त कर 42वें संविधान संषोधन के पूर्व की स्थिति की पुर्नस्थापना की।

हमारी न्याय व्यवस्था न्याय की परम्परागत धारणा पर आधारित रही है। इस धारण के अनुसार न्यायालयों को कार्य है— उनके सामने आने वाले विवादों का कानूनों के अनुसार फैसला देना, संविधान की रक्षा करना, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना। न्यायालय का मुख्य कार्य उन विवादों का निर्णय करना है जो इसके समक्ष लाये जाते हैं। भारत में संविधान लागू होने के बाद लगभग 3 दषक तक परम्परागत धारणा के अनुरूप ही न्यायापालिका मकार्य करती रही। परन्तु परिवर्तन और गतिषीलता प्राकृतिक नियम है। अतः राज व्यवस्था में इस तथ्य का होना स्वाभाविक है। 1970 ई. के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बनीं जिनके आधार पर न्यायानीषों और समस्त न्यायधीषों और समस्त न्याय व्यवस्था से जुड़ा वर्ग यह सोचने के लिए बाध्य हुआ कि कानून को अधिक सक्रिय होना चाहिए तथा संविधान की आत्मा की रक्षा के लिए कानूनी प्रक्रियाओं के दायरे से बाहर निकलकर अधिक सक्रियता से कार्य करना चाहिए। दूसरे षब्दों में, परम्परागत धारणा के स्थान पर संविधान की रचनात्मक व्याख्या का मार्ग अपनाया जाना चाहिए।

यदि हमारी व्यस्थापिकायें और कार्यपालिकायें अपने कत्तव्यों के प्रति जागरूक बनी. रहती है, तथा संविधान के आदर्षों के प्रति आस्था और जनहित के प्रति संवेदनषील बनी रहतीं और वे सामयिक निर्णय लेतीं तो षायद न्यायिक सक्रियता की स्थिति उत्पन्न नहीं होती परन्तु विधायिका और कार्यपालिका का अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन होना ही न्यायिक सक्रियता

भारतीय शासन राजनीति

का कारण बना। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक के अधिकांश पदाधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त रहे। पदाधिकारियों पर कारोड़ों अरबों रुपये की धनराशि से सम्बन्धित आरोप लगे।

दूसरी और महारथियों के रोकथाम का प्रश्न या पर्यावरण की रक्षा या सामान्य कानून और व्यवस्था का प्रश्न सभी मामलों में कार्यपालिका असफल रही ऐसी स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों द्वारा कार्यपालिका को कर्तव्य पालन के लिए निर्देश दिये जाने लगे। 1980 ई. के आस पास न्यायिक सक्रियता का उदय हुआ। 20वीं सदी के अन्तिम दशक में तो न्यायिक सक्रियतावाद 'भारतीय संविधान और राज व्यवस्था का एक प्रमुख तत्व बन गया।

आधुनिक भारतीय इतिहास में सन् 1995 में विभिन्न प्रकार के घोटालों के प्रकाश में आने तथा विधायिका एवं कार्यपालिका के अक्षमताओं पर न्यायपालिका द्वारा किए गए प्रहारों के लिए याद किये जायेंगे। इस दौरान देश में न्यायिक सक्रियता पर वाद-विवाद होते रहे हैं। जन-साधारण उत्साहित हुआ है तथा भ्रष्ट प्रशासकों की मण्डली में बैचनी दिखाई दी है। वस्तुतः न्यायिक सक्रियता कोई नवीन अवधारणा नहीं है बल्कि भारत में इन दिनों विभिन्न प्रकार स्वप्रगति की जाँच करें : 3. सर्वोच्च न्यायालय को संविधान का रक्षक क्यों कहा जाता है?

4. भारतीय संविधान के कौन से अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देता है।

के जनहित याचिकाएँ तथा राजनीतिक-प्रशासनिक अनैतिकता से सम्बद्ध अनेक मुकदमों में उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ आये और न्यायाधीशों ने उनके निस्तारण के क्रम में निष्पक्षता तथा गम्भीरता प्रदर्शित करते हुए व्यवस्था में व्याप्त न्यूनताओं पर कड़े प्रहार किये तो राजनेताओं तथा प्रशासकों में घबड़ाहट व्याप्त हुई।

न्यायिक सक्रियता (श्रनकपबपंस |बजपेउ) का अर्थ सक्रियता के अर्थ को परिभाषित करते हुए बेवेस्टर न्यू 20वीं सदी डिक्शनरी में कहा गया है, "किसी कार्य का निर्णय अथवा सक्रियता के साथ सम्पन्न करने की नीति या मान्यता सक्रियता कहलाती है" जब यही सक्रियता न्यायपालिका में देखने को मिले तो इसे न्यायिक सक्रियता कहते हैं। दूसरे शब्दों में न्यायिक सक्रियता का तात्पर्य है, "संविधान, कानून और अपने दायित्वों के प्रसंग में कानूनी व्याख्या से आगे बढ़कर सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और न्याय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए संविधान और कानून की रचनात्मक व्याख्या करते हुए जनसाधारण के हितों की रक्षा के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना।

इसके अन्तर्गत यह बात सम्मिलित है कि जन-सामान्य के हित की दृष्टि से आवश्यक होने पर शासन को निर्देश देना और शासन की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाना न्यायपालिका का दायित्व है। अमेरिका न्यायाधीश जॉन मार्शल को न्यायाधीश जॉन मार्शल को न्यायिक सक्रियता का जनक माना जाता है। उन्होंने 1803 में अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर कार्यरत रहते हुए 'मरकरी बनाम मैडीसन के मामले में ऐतिहासिक निर्णय देते हुए न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा का अधिकार दिया था। उन्होंने कहा था, "यह न्याय विभाग का अधिकार क्षेत्र और दायित्व है कि वह यह बताये कि कानून क्या है तथा विशेष मामलों में लागू नियमों की स्पष्ट व्याख्या भी करे तथा संविधान के विरुद्ध यदि है तो उसे अवैध घोषित करे।" इसी मान्यता को भारत के उच्चतम न्यायालय, राज्यों के उच्च न्यायालय, राज्यों के उच्च न्यायालयों के सक्रियता का परिचय दिया गया है। भारत में न्यायिक सक्रियता के मूल में अनेक कारण निहित हैं जिसमें नौकरशाही तथा राजनीतिज्ञों का मनमाना व्यवहार, त्रस्त जनता द्वारा न्यायपालिका में गुहार स्वयंसेवी संगठनों का प्रयास तथा न्यायाधीशों द्वारा प्रदर्शित निष्पक्षता प्रमुख है। शिक्षा तथा जागरूकता के प्रसार सहित मानवाधिकार और उपभोक्ता संरक्षण प्रवृत्तियों का भी महत्व देखने को

मिलता है लेकिन भारतीय सन्दर्भ में विधायिका व कार्यपालिका द्वारा अपने कार्यों को पूरा नहीं करना है। अतः न्यायपालिका को सक्रिय होना पड़ा है।

भारत में न्यायिक सक्रियता भारत में न्यायाधीष भगवती द्वारा नब्बे के दशक में पर्यावरण विषयक प्रकरणों पर प्रदर्शित न्यायिक तत्परता तथा संजयदत्त की टाडा कानून में गिरफ्तारी के वाद के घटना चक्र में नागरिक उत्सुकता बढ़ी तथा न्यायपालिका ने दृढ़तापूर्वक भूमिका निभाई। अनेक ऐसे निर्णय हुए जो भारतीय इतिहास में पहली बार दिखाई दिये। इन निर्णयों में पेट्रोलियम मंत्री कैप्टन शर्मा पर अनियमतापूर्वक पेट्रोल पम्प आवंटन के आरोप के कारण 50 लाख रुपये का जुर्माना तथा पूर्व शहरी आवास मंत्री श्रीमती पीला कौल पर दुकान आवंटन में 60 लाख का जुर्माना उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाना प्रमुख है। इसी प्रकार प्रभावशाली व्यक्तियों को गिरफ्तारी, आई.ए.एस. तथा आई.पी.एस. अधिकारियों को कैद और आर्थिक दण्ड के अनेक निर्णय न्यायालयों द्वारा लिये गये। न्यायिक सक्रियता के कुछ चर्चित प्रकरण निम्नलिखित हैं—

(1) झूठा मुकदमा बनाकर एक व्यापारी को तंग करने के आरोम में हरियाणा के आई.पी.एस. अधिकारी को जेल । (2) केन्द्रीय कर्मचारियों बिना बारी के आवास आवंटन की

1 जाँच सी.बी.आई. को निर्देश । (3) 6 माह से अधिक समय से विचाराधीन मामलों के कैदियों को जमानत पर छोड़ने का निर्देश द्य (4) लखू भाई धोखाधड़ी सेन्ट किड्स जालसाजी तथा— ' झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के सांसदों की खरीद फरोख्त में पूर्व प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव पर मुकदमा तथा अदालत में पेपी । (5) प्रदूषण फैलाने वाली औद्योगिक इकाइयों को दिल्ली से हटाने का. फैसला (6) बालश्रम पूर्णतः निषिद्ध घोषित । (7) कल्पनाथ राय, सुखराम, चन्द्रास्वामी, लालू प्रसाद यादव तथा जयललिता की गिरफ्तारी । (8) हवाला घोटाला, यूरिया घोटाला तथा पशु चारा घोटाला बिहार में निष्पक्ष जाँच के सी.बी.आई. को आदेश तथा ठिलाई दिखाने पर फटकार । (9) दिल्ली की सफाई व्यवस्था में सुधार न होने पर अधिकारियों को फटकार । (10) पुलिस हिरासत में हुई मौत के लिए पुलिस अधीक्षक को उत्तरदायी मानते हुए जेल में भेजा, (मार्च 1997 में अहमदाबाद के अतिरिक्त सेशन जज एम. बी. जानी ने गोधरा जिले के जीवा नामक आदमी के मुकदमे में) ।

न्यायिक सक्रियता की कुछ मान्यताएँ हैं, जैसे 7 जनहितकारी अभियानों में सक्रियता, कानूनी न्याय के साथ सामाजिक, आर्थिक न्याय पर बल, शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण तथा शासन को आवश्यक निर्देश देना ।

सारांश — आधुनिक भारतीय इतिहास में सन् 1995 में विभिन्न प्रकार के घोटालों के प्रकाश में आने तथा विधायिका एवं कार्यपालिका के अक्षमताओं पर न्यायपालिका द्वारा किए गए प्रहारों के लिए याद किये जायेंगे। इस दौरान देश में न्यायिक सक्रियता पर वाद-विवाद होते रहे हैं। जन-साधारण उत्साहित हुआ है तथा भ्रष्ट प्रशासकों की मण्डली में बैचेनी दिखाई दी है। वस्तुतः न्यायिक सक्रियता कोई नवीन अवधारणा नहीं है बल्कि भारत में इन दिनों विभिन्न प्रकार के जनहित याचिकाएँ तथा राजनीतिक- प्रशासनिक अनैतिकता से सम्बद्ध अनेक मुकदमों उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ आये और न्यायाधीषों ने उनके निस्तारण के क्रम में निष्पक्षता तथा गम्भीरता प्रदर्शित करते हुए व्यवस्था में व्याप्त न्यूनताओं पर कड़े प्रहार किये तो राजनेताओं तथा प्रशासकों में घबड़ाहट व्याप्त हुई । स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

1. कार्यकाल, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष 65 वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर रह सकते हैं। इससे पहले वह चाहें तो त्यागपत्र दे सकता है। कदाचार एवं असमर्थता के कारण संसद महाभियोग पारित कर न्यायाधीषों को पदच्युत कर सकती है। यदि संसद के दोनों सदन अपने अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत में उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से किसी न्यायाधीष को हटाना होगा। इसका अर्थ है कि संसद के प्रस्ताव से ही न्यायाधीष नहीं हट जाता उसे हटाने का आदेश राष्ट्रपति जारी करता है। न्यायाधीष को हटाने का प्रस्ताव एक ही सत्र में पास होगा



भारतीय शासन राजनीति

चाहिए। न्यायाधीश को अपने बचाव के लिए स्वयं पैरवी करने या वकील के माध्यम से पैरवी करने का अधिकार है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार (।चमससंजम श्रनतपेकपबजपवद)

सर्वोच्च न्यायालय को

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ-साथ संविधान ने समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का भी अधिकार प्रदान किया है। अपीलीय क्षेत्राधिकारी को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा जा सकता है

3. संविधान का रक्षक – संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षण

का कार्य सौंपा गया है इसका अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय को कानून की वैधता की जाँच का अधिकार है अनुच्छेद 131 व 132 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राजप सरकारों द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार है यदि संघीय संसद या राज्य विधान मण्डल कोई ऐसा कानून बना देता है जो संविधान के विरुद्ध है या मौलिक अधिकारों के विरुद्ध है तो सर्वोच्च न्यायालय उस कानून को उसी सीमा तक अवैध घोषित कर सकता है ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 और 132 उच्चतम न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 13 और 32 मौलिक अधिकारों के बारे में उच्चतम न्यायालय को ऐसी ही शक्ति प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 246 व 254 का भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है जिनके द्वारा केन्द्र और राज्यों में विधि निर्माण की शक्तियों के विभाजन को निश्चित शक्तियों के विभाजन को निश्चित किया गया है— संघात्मक शासन के नागरिकों के मौलिक अधिकार द्य उच्चतम न्यायालय को इन दोनों स्थितियों को बहाल रखने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को नियंत्रण करने का अधिकार प्राप्त है।

अभ्यास—प्रश्न

सर्वोच्च न्यायालय के गठन एवं कार्य तथा शक्तियों की समीक्षा कीजिए।

न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकारों का विस्तार से उल्लेख करें ।

न्यायिक पुनर्विलोकन के महत्व की विवेचना करें।

राज्यपाल एवं राज्य विधान मण्डल

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

राज्यपाल की नियुक्ति, अर्हताएँ एवं इनकी नियुक्तियों के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ

राज्यपाल की शक्तियाँ एवं इनके लिए निर्देश – पत्र

राज्यपाल के राष्ट्रपति के साथ सम्बन्ध

अध्ययन के उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप

: राज्यपाल की नियुक्ति अर्हताएँ एवं इनकी नियुक्तियों के सम्बन्ध में

कुछ परम्पराएँ

: राज्यपाल की शक्तियाँ एवं इनके लिए निर्देश – पत्र

राज्यपाल के राष्ट्रपति के साथ सम्बन्ध अर्थात् राज्यपाल केन्द्रीय अभिकर्ता की भूमिका में

परिचय

भारतीय संघ में केन्द्र की तरह राज्यों के शासन-व्यवस्था भी संसदीय है और सभी राज्यों का प्रशासनिक ढाँचा लगभग वैसा ही है जैसा केन्द्र में। केन्द्र में राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद्, संसद और उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था है तथा राज्यों में राज्यपाल, मंत्री-परिषद्, विधिमण्डल (जहाँ एक सदन हो वहाँ विधानसभा) और उच्च न्यायालय की व्यवस्था है। राज्यों में राज्यपाल का लगभग वही स्थान है जो भारत में राष्ट्रपति का है। इस सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यही है कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में राज्य की कार्यपालिका का सांविधानिक प्रधान होता है। राज्य में वास्तविक कार्यपालिका, केन्द्र की भाँति ही मंत्री-परिषद् होती है। प्रत्येक राज्य में उच्च न्यायालय के अधीन राज्य के अन्य न्यायालय होते हैं।

इस समय भारत संघ में 28 राज्य हैं, केन्द्र प्रशासित 7 क्षेत्र हैं। जम्मू कश्मीर ही एक ऐसा राज्य जिसकी शासन व्यवस्था अन्य राज्यों से भिन्न प्रकार की है। और उसके लिए विशेष परिस्थितियोंवष, प्रथक संविधान व्यवस्था है जो भारत के संविधान के परिशिष्ट 2 में दिया गया है। इसका नाम है 'संविधान (जम्मू कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1954 यह मई, 1954 के दसवें दिन से प्रवृत्त हुआ। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 तथा अनुच्छेद 370 के अतिरिक्त उसके अन्य उपबन्ध जम्मू कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में कुछ अपवादों और परिवर्तनों के साथ लागू है। राज्यपाल की नियुक्ति, अर्हताएँ (योग्यताएँ), आदि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था है, तथापि दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल हो सकता है। राज्यपाल राज्य का औपचारिक प्रधान है। उसे राष्ट्रपति द्वारा 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है और वह उसके प्रसाद पर्यन्त तक अपने पद पर बना रहता है। राष्ट्रपति किसी भी समय उसे पद मुक्त कर सकता है। इस मामले में वह केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की राय के अनुसार कार्य करता है। राज्यपाल लिखित रूप से, यदि वह चाहे तो अपना त्याग-पत्र राष्ट्रपति को प्रेषित कर



भारतीय शासन राजनीति

सकता है। राज्यपाल की नियुक्ति भी राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रि-परिशद के परामर्श से ही करता है अर्थात् व्यवहार में राज्यपाल केन्द्रीय सरकार द्वारा नामांकित होता है।

अनुच्छेद 157 एवं 158 के अनुसार राज्यपाल पद का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों—

(अ) वह भारत का नागरिक हो ।

(ब) उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो।

(स) वह संसद या विधान— मण्डल का सदस्य न हो। यदि कोई ऐसा व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त कर दिया जाए तो संसद या विधान — मण्डल का सदस्य हो तो उसे नियुक्त होने की तारीख से अपनी सदस्यता त्याग देनी होगी ।

(द) यह भी आवश्यक है कि वह व्यक्ति सरकार के किसी लाभ के पद पर काम न करता हो ।

राज्यपाल के वेतन, भत्ते आदि को उसके कार्यकाल में घटाया नहीं जा सकता। उसे सरकारी निवास, सवारी आदि की विभिन्नप्रदान की जाती हैं। भत्तों तथा विशेषाधिकारों आदि का निश्चय समय-समय पर संसद विधि द्वारा करती है। प्रारम्भ में राज्यपाल का वेतन 5,500 रु० प्रतिमाह था। लेकिन केन्द्र सरकार ने अधिनियम पारित करके राज्यपालों के वेतन में भारी वर्षद्धि की है। इस समय भारत के राज्यपाल का वेतन 1,10,000 रु० है । इसके साथ ही उन्हें अन्य भत्ते और सुविधाएँ प्रदान की जाती है।

राज्यपाल अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अथवा उनकी अनुपस्थिति की दषा में वरिष्ठतम न्यायाधीश की उपस्थिति में षपथ ग्रहण करता है नियुक्ति राज्यपाल, निर्वाचित क्यों नहीं?

संविधान सभा में यह प्रश्न उठा था कि राज्यपालों की प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति की जाए या राज्यपालों को जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से चुना जाएं? परन्तु संविधान सभा में निर्वाचित राज्यपाल का प्रस्ताव इन आधारों पर अस्वीकार कर दिया गया

1. निर्वाचित राज्यपाल की अवधारणा षासन व्यवस्था से मेल नहीं खाती है। यह सम्भव है कि राज्यपाल साँवैधानिक राज्याध्यक्ष के रूप में कार्य न करके राज्य सरकार का प्रमुख ही बन जाए।

2. एक निर्वाचित राज्यपाल में और राज्य के मुख्यमंत्री में संघर्ष की संभावनाएं उत्पन्न हो जाएँगी क्योंकि मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रियों का निर्वाचन भी जनता द्वारा ही होता है।

3. एक निर्वाचित राजपाल राजनैतिक दलबन्दी के वातावरण में फंस जायेगा और निरपेक्ष रूप से साँवैधानिक कार्यपालिका के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा।

4. राज्यपाल के निर्वाचन की व्यवस्था भारत के केन्द्रीयभूत संघीय व्यवस्था के अनुकूल सिद्ध नहीं होगी। संघ और राज्य में विवाद की स्थिति में राज्यपाल संघ सरकार का हितसाधक नहीं होगा और न ही संघ सरकार का कार्य करने के लिए विष्वसनीय उपकरण सिद्ध होगा ।

5. यदि राज्यपाल का चुनाव किया गया तो वह साधारणतया अल्पसंख्यक जाति से नहीं होगा जबकि अल्पसंख्यक जाति के उन व्यक्तियों को भी राज्यपाल बनने के अवसर मिलना चाहिए जो इस पद के योग्य हों।

6. प्रत्यक्ष चुनाव इस दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं है कि दूसरे राज्यों में रहने वाले उन प्रतिष्ठित व्यक्तियों को राज्यपाल बनाना अधिक अच्छा होगा जिन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लिया हो। ऐसे व्यक्ति दिन-प्रतिदिन के साधन में कम से कम कम हस्तक्षेप करेंगे और सरकार को अधिक से अधिक सहयोग दे सकेंगे।

7. भारतीय संविधान निर्माता राज्यपालों की नियुक्ति सम्बन्धी व्यवस्था के प्रावधानों को निर्धारण करते समय कनाडियन संविधान से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। कनाडा में केन्द्र अत्यंत शक्तिशाली बनाया गया है और गवर्नर जनरल प्रान्तीय गवर्नरों को नियुक्त तथा

पद-मुक्त पद – मुक्त करता है।

राज्यपालों की नियुक्ति की वर्तमान पद्धति कम खर्चीली है और अल्पसंख्यक जाति के लोगों को भी राज्यपाल बनाया जा सकता है। इसमें केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व तथा प्रभाव बना रहता है तथा राज्य के बाहर के व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जा सकता है। लेकिन इन लाभों के होते हुए भी यह अनुभव किया जाता रहा है कि नियुक्ति की इस पद्धति में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता अवश्य है। संसद में तथा संसद के बाहर, बार-बार यह मांग की जाती रही है तथा इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं— (प) राज्यपाल की नियुक्ति केवल राज्य सरकार की सहमति से होनी चाहिये ! (पप) उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति राज्य सरकार द्वारा तैयार की गई नामावली में से करें। (पपप) उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उस नाम सूची में से की जानी चाहिए जो केन्द्रीय

सरकार ने संसदीय विपक्ष के परामर्श से तैयार की हो ।

(पअ) राज्य पाल की नियुक्ति का अनुमोदन संसद द्वारा किया जाना चाहिए

(अ) राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उस नामावली में से की जानी चाहिए जो राष्ट्रपति की उस परामर्शदात्री समिति द्वारा तैयार की जाए जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश सम्मिलित हों।

(अप) राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति, मंत्रियों के परामर्श से न करे बल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति की सलाह से करें।

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने विवेक से करे और इस बारे में उसे मंत्रिमण्डल का परामर्श नहीं मानना चाहिए।

राज्यपाल का चुनाव राज्य की विधानपालिका द्वारा किया जाना चाहिए ।

(प•) उसका चुनाव एक ऐसे निर्वाचन मण्डल द्वारा होना चाहिए जिसमें विधानसभा, विधेयज्ञान परिशद (जहाँ हो), तथा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के सदस्य भी शामिल हों। डा० जे. आर. सिवाच के मतानुसार वह सुझाव सबसे अच्छा है जो भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के सुब्बाराव ने दिया है। पूना विध्वविद्यालय में बोलते दिया है। पूना विध्वविद्यालय में बोलते हुए उन्होंने कहा था कि राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिमण्डल के परामर्श से नहीं की जानी चाहिए, बल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति की सलाह से की जानी चाहिए !' उन्हें उनके पद से तब हटाया जाना चाहिए जब सर्वोच्च न्यायालय उनके दुराचरण की घोषणा कर दे और जिस राज्यपाल को इस प्रकार पद से हटाया जाए उसे केन्द्र तथा राज्य सरकार में अन्य कोई पद नहीं दिया जाना चाहिए ।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ

भारतीय शासन राजनीति

संविधान लागू किए जाने के बाद से अब तक राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ कायम हो गई हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. राज्यपाल पद पर अधिकांशतः ऐसे व्यक्ति नियुक्ति किए जाते हैं जो अनुभवी हों, राजनीतिक क्षेत्र में जिनका प्रभाव हो और उन्हें राजनीति तथा प्रशासन की बारीकियों का ज्ञान हो। इसलिए राज्यपाल पद पर कभी कुशल सिविल सेवक आये हैं तो कभी कुशल राजनीतिज्ञ ।

2. किन्तु साथ ही यह अस्वस्थ परम्परा भी रही है कि राज्यपाल पद को सांत्वना पुरस्कार (ब्रह्मदेवसंजपवद च्त्तप्रम) बना दिया गया है। चुनावों में पराजित प्रमुख दलीय व्यक्तियों (सत्तारूढ़ दल के) को राज्यपाल पद सांत्वना रूप में दिया जाता है। कभी-कभी रिजर्वेटेड, बर्नआउट (ठनतद व्ज) राजनीतिज्ञों को भी राज्यपाल पद पर थोप दिया गया है।

3. राज्यपाल पद प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्ति किया जाता रहा है। जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विष्वासपात्र व्यक्ति राज्यपाल न होगा तो राज्य की गतिविधियों की सही सूचना केन्द्र को नहीं मिल सकेगी और इस प्रकार संविधान की व्यवस्था को आघात पहुँचेगा । संविधान में व्यवस्था है कि राज्यपाल द्वारा यदि राज्य में संवैधानिक . या वित्तीय संकट की रिपोर्ट दी जाए तो राष्ट्रपति आपात शक्ति का प्रयोग कर सकता है। फिर इस बात की क्या गारन्टी है कि राज्यपाल के पद पर विरोधी दलों के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाएगा। तो वे अपने दलीय हितों के लिए कार्य नहीं करेंगे।

4. यह स्वस्थ परम्परा स्थान लेती जा रही है कि राज्यपाल पद पर उसी राज्य के निवासी की नियुक्ति प्रायः नहीं की जाती है। अपवाद स्वरूप ही कोई नियुक्ति ऐसी होती है। राज्यपाल पद प्रादेशिक निष्ठा से युक्त रहे और संदेह जैसी बात न उठे, इसलिए प्रायः उत्तरी राज्यों में दक्षिणी राज्यों में उत्तरी राज्यों के व्यक्तियों को राज्यपाल बनाया जाता है !

5. यह स्वस्थ परम्परा भी स्थापित हो गई है कि सामान्यतया सम्बन्धित राज्य सरकार से सलाह के बाद ही राष्ट्रपति उस राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करता है। वैसे, परिस्थितियोंवश, इस परम्परा का उल्लंघन भी किया गया है। बिहार में वहाँ के मुख्यमंत्री महामाया प्रसाद के विरोध के बावजूद, श्री कानूनगो की नियुक्ति राज्यपाल के रूप में की गई थी ।

राज मन्मार समिति तथा प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव

कुछ वर्ष पूर्व राजन्मार समिति ने यह उपयोगी सुझाव दिया था कि

(प), राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बन्धित राज्य सरकार की राय लेने का अभिसमय जारी रखना चाहिए।

कृ(पप) संविधान में एसी : व्यवस्था की जानी चाहिए कि राष्ट्रपति राज्यपालों की नियुक्ति ख्याति पं प्राप्त न्यायविदों, वकीलों और प्रसाषकों की समिति की सलाह पर करें।

प्रशासनिक सुधार आयोग का सुझाव था कि—

(क) राज्य सरकार की सलाह से ही राज्यपाल की नियुक्ति कह जानी चाहिए, अन्यथा राज्यपाल का कार्य कठिन हो जाएगा।

1(ख) राज्यपाल के चयन में संरक्षण तथा राजनीति का स्थान योग्यता को मिलना चाहिए, और दृष्टि से सिविल सेवकों को राज्यपाल बनाना उचित है क्योंकि वे निडर और तटस्थ रहकर कार्य कर सकेंगे।

(ग) स्पीकरों को भी राज्यपाल बनाया जा सकता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग के पहले और तीसरे सुझाव तो उचित हैं लेकिन सिविल सेवकों को ही राज्यपाल बनाने सम्बन्धी सुझावों की उपयुक्तता संदेहास्पद है यह आवश्यक नहीं है कि निडरता और तटस्थता का बिल्ला सिविल सेवक ही लगा सकते हैं, दूसरे नहीं। सहकारिया आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में यह स्पष्ट किया है, दूसरे नहीं कि राज्यपाल की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्य मंत्री से परामर्श लिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि सक्रिय राजनीतिज्ञों की राज्यपाल पद पर नियुक्ति नहीं की जानी चाहिए।

राज्यपाल की शक्तियाँ

संविधान के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गादास बसु ने लिखा है कि राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं – सिर्फ कूटनीतिक सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर। संविधान द्वारा राज्यपाल को अपने कार्य-क्षेत्र में व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति होती है, जो केन्द्र में राष्ट्रपति की।

राज्यपाल राज्य का प्रधान होता है और कार्यपालिका सम्बन्धी सभी कार्य उनके नाम से किए जाते हैं। सौविधानिक रूप से उसे अपने अधिकारों का उपयोग अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। राज्यपाल की सहायता और परामर्श के लिए एक मंत्री-परिशद के परामर्श से ही कार्य करता है। फलस्वरूप राज्यपाल के अधिकार और कर्तव्य में मंत्री-परिशद के अधिकार और कर्तव्य वास्तव में मंत्री-परिशद के अधिकार और कर्तव्य भी होते हैं। कार्यकारी शक्तियाँ

राज्य की समस्त कार्यकारी शक्तियाँ राज्यपाल में निहित होती हैं जिन्हें वह स्वयं कृ अथवा अधीनस्थ अधिकारियों सम्पादित करता है। वह विधान-मण्डल में बहुमत दल के नेता अथवा सबसे बड़े दल के नेता को, अथवा सबसे बड़े गुट के नेता को, अथवा विधान में सर्वाधि कि संख्या का समर्थन रखने वाले नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है और तत्पश्चात मुख्यमंत्री की सलाह के अनुसार अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। व्यवस्थापिका में किसी दल का बहुमत न होने पर मुख्यमंत्री के चयन में राज्यपाल को अपने विवेक से निर्णय लेने का अवसर मिलता है। मुख्यमंत्री की सलाह से ही वह मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है। मुख्यमंत्री की सलाह से ही वह मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है। मुख्यमंत्री के परामर्श पर वह मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है। मुख्य मंत्री के परामर्श पर वह मंत्रियों को बर्खास्त भी कर सकता है।

राज्यपाल की कार्यकारी शक्तियाँ राज्य सूची में उल्लिखित विशयों से सम्बन्धित हैं। समवर्ती सूची के विशयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति से वह अपने अधिकारों का प्रयोग करता है।

राज्य ही राज्य के महाधिवक्ता तथा राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और उसके सदस्यों की नियुक्ति करता है। राज्य सेवाओं में सभी महत्वपूर्ण नियुक्ति के सम्बन्ध में उससे परामर्श लिया जाता है। वह राज्यों के विष्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में भी कार्य करता है। राज्यपाल शासन के विशय में मन्त्रि-परिशद से किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त कर सकता है। मुख्य मंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से अवगत कराए। संघ सरकार की आज्ञाओं के पालन का दायित्व राज्यपाल पर है। अतः वह समय – समय पर राज्य प्रशासन के बारे में संघ सरकार को आवश्यक जानकारी देता रहता है। राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न होने या उसकी सम्भावना पर राज्यपाल राष्ट्रपति को इस बारे में अपना प्रतिवेदन भेजता है। इसकी सूचना के आधार पर राष्ट्रपति संकटकाल की घोशणा करता है। राज्यपाल को अपने मंत्रियों को चेतावनी, सलाह और प्रोत्साहन देने का अधिकार है।

भारतीय शासन राजनीति

विधायी शक्तियाँ राज्यपाल राज्य विधान मण्डल का अनिवार्य अंग हैं। वही विधान – मण्डल का अधि वेषण बुलाता है और स्थगित करता है। विधानसभा को भंग करने का उसे अधिकार है। वह विधान मण्डल में भाषण दे सकता है और संदेश भेज सकता है वह राज्य विधान मण्डल के दोनों सदनों—विधान सभा और विधान परिषद का संयुक्त अधिवेशन भी सम्बोधित करता करता है। विधान मण्डल में पारित कोई भी विधेयक तब कानून का रूप धारण नहीं कर सकता जब तक राज्यपाल उस पर अपनी स्वीकृति न दे दे पर वह वित्त विधेयक को अस्वीकार नहीं कर सकता है। वित्त विधेयक को छोड़कर अन्य कोई भी विधेयक विधान – मण्डल के पास सुझावों को स्वीकार कर दे अथवा विधान— मण्डल द्वारा राज्यपाल के सुझावों को स्वीकार करके या मूल रूप में पुनः पारित करके राज्यपाल को उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति अनिवार्य रूप से देनी पड़ती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्यपाल विधेयक को समाप्त नहीं कर सकता उसके पास होने में देरी कर सकता है।

जिन विधेयकों को राज्यपाल राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रेषित करता है, उन्हें स्वीकार करने का अधिकार राष्ट्रपति को है। उसे यह भी अधिकारियों के साथ राज्य विधान – मण्डल को पुनः विचार के लिए लौटाए हुए विधेयकों पर राज्य विधानमण्डल की 6 माह के अन्दर – अन्दर विचार करना होता है। यदि वे विधेयक राज्य विधान मण्डल को 6 माह के अन्दर – अन्दर विचार करना होता है। यदि वे विधेयक राज्य विधान – मण्डल द्वारा पुनः पारित कर राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए लौटाए जाते हैं, तो भी राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह उन पर अपनी स्वीकृति दे या न दे। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक ऐसे हैं जिन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, राज्यपाल की सम्मति में यदि किसी विधेयक के स्वीकृति होने से उच्च न्यायालय की शक्ति और स्थिति में कमी हो जाने की संभावना हो तो यह आवश्यक है कि ऐसा विधेयक राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजे जाते हैं जिनका प्रयोजन व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य द्वारा बाधित रूप से हस्तगत करना हो अथवा जिनका सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं के क्रय—विक्रय पर कर लगाने से हो जिन्हें संसद ने आवश्यक वस्तु घोषित किया हो। राज्यपाल को राष्ट्रपति के समान ही अध्यादेश जारी करने का भी विधान – मण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो और कोई भी असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसका सामना करने के लिए राज्य सरकार के पास कोई कानूनी प्रबन्ध न हो रहा हो और कोई भी असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसका सामना करने के लिए राज्य सरकार के पास कोई कानूनी प्रबन्ध न हो। अध्यादेश विधान—मण्डल का अधिवेशन पुनः आरम्भ होने के बाद 6 सप्ताह तक के लिए लागू रह सकते हैं। यदि विधान – मण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो और कोई भी असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसका सामना करने के लिए राज्य सरकार के पास कोई कानूनी प्रबन्ध न हो। अध्यादेश विधान – मण्डल उन्हें स्वीकार कर लेता है तो वे अधिनियम का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। विधान – मण्डल अपने सामने प्रस्तुत किए जाने पर

किसी भी अध्यादेश को समाप्त कर सकता है। कुछ अध्यादेशों के लिए राज्यपाल को राष्ट्रपति की पूर्वानुमति लेनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई अध्यादेश जारी नहीं किया जा सकता यदि उसी प्रकार का विधेयक विधान मण्डल में प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती अथवा उसी प्रकार के विधेयक का राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा विचार किया जाना आवश्यक समझा अथवा विधान – मण्डल का उसी प्रकार का विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रोका जाता है तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिलने पर वह अमान्य समझा जाता है।

राज्यपाल को विधान सभा में आंग्ल—भारतीय सम्प्रदाय का एक प्रतिनिधि मनोनीत करने का अधिकार है, यदि वह समझे कि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। जिन राज्यों में दो सदनीय व्यवस्थापिका है वहाँ पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। जिन राज्यों में सदनीय व्यवस्थापिका है वहाँ विधान परिषद् के कुल सदस्यों के 16 सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत कर सकता है। वे मनोनीत सदस्य साहित्य, कला, विज्ञान, समाज सेवा अथवा सहाकरी आन्दोलनों के अनुभवी व्यक्ति होने चाहिए।

वित्तीय शक्तियाँ – राज्यपाल की वित्तीय शक्तियाँ भी बहुत कुछ उसी प्रकृति की हैं जैसी राष्ट्रपति की वित्तीय शक्तियाँ हैं। राज्यपाल की शिफारिश के बिना कोई भी वित्त कि यक विधान-सभा से प्रस्तावित या पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता है। उसकी शिफारिश के बिना वित्त विधेयकों में ऐसे संशोधन प्रस्तावित नहीं किए जा सकते हैं जिनका वित्तीय विषयों पर प्रभाव पड़ता हो। किन्तु यदि किसी संशोधन अथवा विधेयक द्वारा किसी कर में कमी अभीष्ट है तो उस स्थिति में राज्यपाल की शिफारिश की आवश्यकता नहीं है। यह राज्यपाल का उत्तरदायित्व है कि वार्षिक वजत का विवरण विधान – मण्डल के समक्ष रखा जाए तथा उसे पारित किया जाए। राज्यपाल को राज्य विधान – मण्डल से पूरक, अतिरिक्त या विशेष माँग का अधिकार है। संचित निधि उसके अधिकार में रहती है और विधान – मण्डल की स्वीकृति की अपेक्षा में वह इस निधि उसके अधिकार में रहती है और विधान मण्डल की स्वीकृति की अपेक्षा में वह इस निधि में से व्यय की अनुमति दे सकता है। राज्य के खर्च की जाँच में वह इस निधि में से व्यय की अनुमति दे सकता है। राज्य के खर्च की जाँच की हुई वार्षिक रिपोर्ट भी उसी के द्वारा विधान मण्डल में रखवाई जाती है।

न्यायिक शक्तियाँ राज्य के कार्यपालिका क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले कानूनों के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने, बदलने अथवा क्षमा करने का अधिकार राज्यपाल को है। राज्यपाल अपनी इस न्यायिक शक्ति का प्रयोग मुकदमे के पूर्व, मुकदमे के मध्य अथवा मुकदमे के बाद कर सकता है। राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय राज्यपाल से अवश्य सलाह लेता है। जिला एवं सत्र न्यायाधीश की नियुक्ति राज्यपाल के हाथों होती है। राज्यपाल के विरुद्ध तक तक न्यायालय में अभियोग नहीं चलाया जा सकता जब तक वह पदासीन हैं।

स्पष्ट है कि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं। तथापि उसकी स्थिति, कतिपय अपवादों को छोड़कर, सांविधानिक अध्यक्ष की है और उसके अधिकारों का वास्तविक प्रयोग मन्त्रि परिषद् द्वारा उसके नाम से किया जाता है। सांविधानिक प्रधान के रूप में उसे मन्त्रिपरिषद् को सलाह चेतावनी और प्रोत्साहन देने का अधिकार है। वह राष्ट्रपति का अभिकर्ता और संघ सरकार का प्रतिनिधि है। यह एक कड़ी है जो संघ तथा राज्य को जोड़ता है और संघ-राज्य के सम्बन्ध को निर्धारित करता है।

राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियाँ और उसके कुछ उदाहरण

1 संविधान के अनुच्छेद 183 के अन्तर्गत राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के दो रूप हैं – (1) संविधान प्रदत्त शक्तियाँ, एवं (2) परिस्थितिजन्य स्वविवेकीय शक्तियाँ। संविधान ने कुछ विशेष मामलों में और खास तौर पर असम के सम्बन्ध में राज्यपाल को स्वविवेकीय अधिकार दिए हैं। असम के राज्यपाल को यह विशेषाधिकार है कि प्रजातीय क्षेत्रों से सम्बन्धित मामलों तथा असम सरकार व स्वायत्त जिला परिषद् के बीच खनिज सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों के बारे में निर्णय करे। विद्रोही एवं शत्रु नागाओं से निपटने के लिए नागालैण्ड के राज्यपाल को वहाँ के सभी क्षेत्रों के लोगों के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए समुचित प्रबन्ध करने की दृष्टि से विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं। संविधान में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति ऐसे उपबन्धों का निर्माण कर सकता है जिनमें राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग से अधिक अवसर मिल सकें। राज्यपाल को स्वविवेक से निर्णय लेने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 163 (1) की निम्न भाषा से स्पष्ट है। इसमें कहा गया है कि “जिन बातों में संविधान द्वारा राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों के निर्वहन में सहायता और मन्त्रणा के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा।” राज्यपाल को कुछ स्वविवेकीय शक्तियाँ परिस्थितियों विशेष में प्राप्त होती हैं। वे विशेष परिस्थितियाँ तब उत्पन्न हो सकती हैं। जब—

(1) किसी एक दल को विधान-सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो ।

भारतीय शासन राजनीति

(2) संयुक्त सरकार का कठन हो और आपसी फूट के कारण शासन का सुचारु संचालन करना कठिन हो रहा है।

(3) दल-बदल के कारण सरकार के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाए।

(4) राज्य में शांति और व्यवस्था को खतरा पैदा हो गया हो या उसकी सम्भावना हो। (5) मंत्रिमण्डल से विधायिका के अविश्वास की स्थिति पैदा हो गई हो।

(8) दलीय विद्रोह के कारण मंत्रिमण्डल अल्पमत में आ गया हो और विपक्षी दल वैकल्पिक सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत कर दे।

राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग में अवसरों को डा. एम.वी. पायली ने निम्नानुसार गिनाया है—

“(1) मंत्रिपरिषद् की स्थापना से पूर्व मुख्यमंत्री का चुनाव, (2) मंत्रिमण्डल को पदच्युत करना, (3) विधान सभा का विघटन करना, (4) मुख्यमंत्री से प्रसाधनिक तथा विधायी कार्यों के सम्बन्ध में सूचना माँगना, (5) किसी एक मंत्री द्वारा किए गए निर्णय (जिस पर मंत्रि-परिषद् ने विचार किया हो) को मंत्रि-परिषद् के समझ विचारार्थ प्रस्तुत करने के लिए मुख्यमंत्री को आदेश देना, (6) विधान – मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकृति न देकर उसे पुनर्विचार के लिए लौटा देना, (7) राज्य विधान – मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजना, (8) किसी अध्यादेश को प्रख्यात करने से पूर्व राष्ट्रपति से अनुदेश (प्रेजतनबजपवद) की याचना करना, (9) राष्ट्रपति को आपात परामर्श देना, तथा (10) असम तथा अन्य घोशणा करने का पूर्ववर्ती राज्यों के राज्यपाल के लिए आदिम-जाति क्षेत्रों की कुछ प्रशासनिक समस्याओं का हल करना, असम राज्य तथा (स्वायत्तशासी क्षेत्र की) जिला परिषदों के खनिज स्वामित्व सम्बन्धी विवादों का निर्णय करना ।”

उपर्युक्त विप्लेशन से यह स्पष्ट है कि राज्यपालों की स्वविवेकीय शक्तियों का क्षेत्राधि कार बहुत ही विस्तृत है।

कुछ उदाहरण स्वतंत्रता – प्राप्ति से लेकर वर्तमान तक राज्यपालों ने अपनी स्वविवेकीय शक्तियों का अनेक अवसरों पर खुलकर प्रयोग किया है। राज्यपालों द्वारा स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) राज्यों में सांविधानिक तंत्र की विफलता के बारे में स्वविवेक से निर्णय लेते हुए राज्यपाल के समय – समय पर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजे और फलस्वरूप राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है। पहला प्रतिवेदन पंजाब से 1951 में गया। 1952 में पेंसु राज्य में, 1954 में आन्ध्र में, 1961 में उड़ीसा में, 1967 में राजस्थान में और तत्पश्चात् पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, कर्नाटक और गुजरात राज्यों में जो संकट कालीन घोशणा लागू की गई वह मुख्यतः राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही की गई और राष्ट्रपति द्वारा की गई वह मुख्यतः राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही की गई और राष्ट्रपति द्वारा की गई इन घोशणाओं का आधार प्रमुख रूप से राज्यपाल का प्रतिवेदन ही था। शिरोमणि अकालीदल के आन्दोलन तथा उग्रवादी तत्वों की गतिविधियों से पंजाब में सांविधानिक तंत्र की विफलता सम्बन्धी राज्यपाल के प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात् पंजाब में सांविधानिक तंत्र की विफलता सम्बन्धी राज्यपाल के प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात् पंजाब में 6 अक्टूबर, 1983 से राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। सन् 1984 में जम्बू-कभीर में, मई, 1987 में पंजाब में, अगस्त, 1988 में नागालैण्ड में और सितम्बर 1988 में मिजोरम में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। ये निर्णय उग्र वाद-विवाद के विषय बने

.व्यापारिक कम्पनी के रूप में स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद 1750 ई० से कम्पनी ने: भारत में 'षक्ति एवं राजनीति का खेल' (ळंउम वळ्ळूमते – च्वसपजपबे) प्रारम्भ किया। भारत की विशेष परिस्थितियों के कारण कम्पनी को अपने इस कार्य में भी सफलता मिली और 1850 ई. तक भारत के बहुत बड़े भाग पर कम्पनी का शासन स्थापित हो गया। 1857 ई. का स्वतंत्रता संग्राम और कम्पनी के शासन की समाप्ति कम्पनी के शासन के लगभग 100 वर्षों में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और सैनिक क्षेत्र में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हुआ, जिन्होंने भारतीय जनता को कम्पनी के शासन का प्रबल विरोधी बना दिया। लार्ड डलहौजी के द्वारा अपने शासनकाल में कम्पनी के भारतीय क्षेत्र में विस्तार के सभी सम्भव प्रयत्न किए गए थे और उसने अपनी 'हड़प नीति' को कठोरतापूर्वक अपनाकर तथा देशी शासकों के साथ दुर्व्यवहार कर उनमें से अनेक को भारत में ब्रिटिश शासन का घोर षत्रु बना लिया था। अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में किये गये हस्तक्षेप तथा उन्हें ईसाई बनाने के कार्यों ने साधारण भारतीयों में तीव्र असंतोश को जन्म दिया। भारत के निरन्तर आर्थिक शोषण से कृषक, श्रमिक तथा व्यापारी – सभी वर्गों की स्थिति बहुत अधिक बुरी थी। सैनिक क्षेत्र में अंग्रेज और भारतीय सैनिकों में भेदभाव किया जाता था और भारतीय सैनिकों के साथ अंग्रेज अधिकारियों का व्यवहार खराब था। अतः काफी समय पहले से भारतीय सैनिक असंतुष्ट थे। इसी समय उनको जो कारतूस दिए गए, उन्हें चिकना करने के लिए गाय और सुअर की चर्बी का प्रयोग किया गया था। अतः उन्होंने स्वाभाविक रूप से यह सोचा कि उन्हें धर्मभ्रष्ट करने की चेष्टा की जा रही है। इस प्रकार जीवन की चतुर्मुखी परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी थीं कि इन परिस्थितियों में विद्रोह का न होना अत्यधिक आश्चर्यजनक होता।

उपर्युक्त परिस्थितियों ने 1857 में जिस स्वतंत्रता संग्राम को जन्म दिया, उसका प्रसार तेजी से हुआ, लेकिन परिणाम आशा के अनुकूल नहीं हुए। आधुनिक षस्त्र – सामग्री तथा आर्थिक साधनों के अभाव, क्रान्तिकारियों की सेना में एकबद्धता और संगठन का अभाव, अनेक भारतीय शासकों तथा वर्गों का असहयोग तथा विरोधी व्यवहार आदि कारणों ने स्वतंत्रता संग्राम को असफल कर दिया।

(ड.) राज्यों के मुख्यमंत्रियों को बर्खास्त करने में भी राज्यपालों ने अपनी स्वविवेक शक्तियों का सहारा लिया। अनेक उदाहरण इसकी पुष्टि करते हैं। पश्चिमी बंगाल में श्री अजय मुखर्जी मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने, आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल रामलाल द्वारा एन. टी. रामाराव के नेतृत्व वाले मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने, जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन द्वारा डा० फारुख अब्दुल्ला के मंत्रिमण्डल की बर्खास्तगी और पंजाब में सुरजीतसिंह बरनाला मंत्रिमण्डल की बर्खास्तगी ने देशव्यापी आक्रोश को जन्म दिया।

वास्तव में राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग की कोई एकदम सुनिश्चित सीमा या परिभाषा कठिन है। न ही राज्यपाल के स्वविवेकाधिकार निरपेक्ष हो सकते हैं। निरपेक्ष स्वविवेक निरंकुशता का प्रतीक है जिसे लोकतंत्र में इजाजत नहीं दी जा सकती। राज्यपाल की स्वविवेकी शक्ति पर राज्यपाल की स्वविवेकी शक्ति पर राज्य मंत्री परिषद या राज्यपाल को नियंत्रित कर सकता है। राज्यपाल यदि अपने स्वविवेकाधिकार का अनुचित प्रयोग करे तो राष्ट्रपति उसका विरोध कर सकता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे पदच्युत कर सकता है। इसके अतिरिक्त, जब तक मंत्रिपरिषद् को राज्य विधान – मण्डल का विश्वास प्राप्त है, तब तक वह मंत्रिमण्डल के परामर्श के स्थान पर अपने स्वविवेक से कार्य नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी करवट ले सकती हैं कि जिनमें राज्यपाल की पदच्युति अवश्यम्भावी है। एम.वी. पायली ने लिखा है कि “इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल के पद में उनके परामर्शदाता के रूप पर ही अधिक जोर दिया गया है। एक ओर वह मंत्री-परिषद् के निष्पक्षके निष्पक्ष के रूप में कार्य करता है। और एक राज्य का अध्यक्ष होने के नाते उसे अधिकार है कि उससे परामर्श लिया जाए, उसे प्रोत्साहित करना तथा चेतावनी देने का अधिकार है। वह सुविधाजनक तथा प्राधि कारपूर्ण स्थान से राज्य में होने वाले प्रत्येक कार्य को अनासक्त पर्यवेक्षक के रूप में देखता है। इस स्थिति से वह राज्य सरकार के गौरव, स्थायित्व तथा सामूहिक दायित्व को बनाये रखता है। दूसरी ओर वह राष्ट्रपति को अभिकर्ता तथा उस राज्य से सम्बद्ध कार्यों में उसका परामर्शदाता है वह राज्य में संघ का प्रतिनिधित्व करता है। वह संघ राज्य को बांधने वाली एक कड़ी तथा संघ- राज्यक सम्बन्धों को विनियमित करने का माध्यम है। इस प्रकार वह साँविध गानिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है जो एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति तथा एक आवश्यक सेवा प्रदान करता है।

हम कह सकते हैं कि आसाधारण परिस्थितियों को छोड़कर साधारण परिस्थितियों में राज्यपाल का प्रमुख कर्तव्य यह देखना है कि राज्य का प्रशासन अच्छी तरह चले। उससे यह अपेक्षित है कि वह मंत्री-परिषद् के समस्त निर्णयों के सम्बन्ध में अपनी सहमति प्रदान करे। वह अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा करे और तत्सम्बन्धी शिकायतों की ओर राज्य सरकार का ध्यान आकृष्ट करे। राज्यपाल को चाहिये कि वह निर्दलीय नेतृत्व प्रदान करके राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों में अपना विशेष योग दे।

राज्यपालों के लिए निर्देश – पत्र

मुख्यमंत्री की नियुक्ति, मुख्यमंत्री की बर्खास्तगी, मंत्रियों को नियुक्ति और बर्खास्तगी, विधान सभा का वेतन, शासन प्रबन्ध, अध्यादेश निकालना आदि के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में राज्यपालों को राजनीतिक आचरण समान नहीं रहा है। राज्य विशेष की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप राज्यपाल के राजनीतिक आचरण में अन्तर होना स्वाभाविक है, लेकिन समान सांविधानिक परिस्थितियों में तो समान राजनीतिक आचरण की अपेक्षा की जाती है और ऐसा न होने पर जनता में राज्यपाल पद के प्रति निष्ठा की भावना को आघात पहुँचता है। 1967 के चुनावों के बाद राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न हुए और विशाल राजनीतिक घटनाओं के दौरान राज्यापालों ने जो कदम उठाए, उन सब को देखते हुए अनेक पक्षों द्वारा यह सुझाव दिया गया कि राज्यपालों के मार्गदर्शन के लिए कुछ निर्देश सिद्धान्त निश्चित किए जाने चाहिए। अतः राष्ट्रपति ने जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल श्री भगवान सहाय की अध्यक्षता में 5 सदस्यों की एक समिति नियुक्ति करके उसे राज्यपाल के राज्य – मंत्रिमण्डल के साथ सम्बन्ध, निश्चित करने का कार्य सौंपा। समिति अन्य सदस्य

थे श्री बी. पी. गोपाल रेड्डी, श्री अलीयावर जंग, श्री वी विष्वनाथन तथा श्री एम. एस. धवन । इस समिति को 'राज्यपाल समिति' के नाग से जाना गया । समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्न लिखित सिफारिशें कीं

1. यदि विधानसभा का विष्वास प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई मुख्यमंत्री विधानसभा का अधिवेशन आमंत्रित करने के उत्तरदायित्व से पीछे हटता है तो राज्यपाल इस मंत्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है ।
2. मंत्रिमण्डल के बहुमत का प्रश्न सामान्यतया विधानसभा द्वारा निश्चित किया जाना चाहिए और यदि कोई मुख्यमंत्री इस बात से मना करता है तो इसका अभिप्राय यह है कि इस मंत्रिमण्डल का विधान सभा में बहुमत समाप्त हो गया है ।
3. यदि वैकल्पिक सरकार का गठन सम्भव न हो तो राज्यपाल के पास इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है । कि वह राष्ट्रपति को विधानसभा भंग करने सम्बन्धी अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दे ।
4. यदि कोई व्यक्ति सदन का सदस्य न हो, अथवा कोई मनोनीत सदस्य हो तो उसे मुख्यमंत्री नहीं बनाना चाहिए ।
5. यदि मिली जुली सरकार के कोई भागीदार मुख्य मंत्री से मतभेद हो जाने के फलस्वरूप त्याग-पत्र दे देते हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि मुख्यमंत्री भी त्यागपत्र दे देते हैं तो आवश्यक नहीं है कि मुख्यमंत्री भी त्याग पत्र दे दे, किन्तु यदि इस प्रकार के त्याग पत्र से विधान-सभा में उसका बहुमत संदिग्ध हो तो उससे आशा की जाती है कि वह राज्यपाल को सलाह देकर विधान सभा का अधिवेशन षीघ्रातिषीघ्र बुलाएगा और सदन में अपना बहुमत सिद्ध करेगा ।
6. संयुक्त विधायक दल सरकार के मुख्यमंत्री को सम्बद्ध दलों एवं गुटों द्वारा औपचारिक रूप से चुना जाना चाहिए ।
7. राष्ट्रपति के सचिवालय में एक विशेष कक्ष स्थापित किया जाना चाहिए । जिसका यह मुख्य कर्तव्य हो कि वह विभिन्न राज्यों में समय-समय पर घटित होने वाली राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में अधिकाधिक सूचनाएँ रखे । इस विशेष कक्ष द्वारा किसी विशेष मामले के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की अनुमति से राज्यपाल को सभी उपलब्ध जानकारी दी जानी चाहिए ताकि राज्यपाल को निर्णय लेने में सहायता मिले ।
8. राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष होता है, राष्ट्रपति का अभिकर्ता नहीं और उसके कर्तव्य संविधान में ही निर्धारित किए गए हैं ।

राज्यपाल – समिति ने उपरोक्त सिफारिशें करते हुए अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बल दिया कि न तो भविष्य में उत्पन्न होने वाली सभी परिस्थितियों के सम्बन्ध में सोचा जा सकता है और न ही इस सम्बन्ध में निश्चित निर्देश दिये जा सकते हैं कि विभिन्न परिस्थितियों में राज्यपालों को अपनी भूमिका किस प्रकार अदा करनी होगी । वास्तव में राज्यपाल का 'स्वविवेक' ही सर्वोच्च निर्देश हो सकता है ।

अतः इस पद को समाप्त नहीं किया जाना चाहिए, अपितु राज्यपालों को सज्जनात्मक और अपनी बहुमुखी भूमिका से राज्य के विकास में प्रभावशाली योगदान करना चाहिए । राज्यपालों को अपनी कार्यप्रणाली से शासन के उच्च मापदण्ड स्थापित करने चाहिए ।

भारतीय शासन राजनीति

केन्द्रीय सरकार से भी अपेक्षा की जा सकती है। कि वह संस्था का दलीय हितों की पूर्ति में दुरुपयोग नहीं करें।

राज्यपाल के राष्ट्रपति के साथ सम्बन्ध:

केन्द्रीय अभिकर्ता की भूमिका

राज्यपाल की नियुक्ति, शक्तियों और कार्यों, उसके विवेकाधिकार अथवा उसकी स्थिति आदि का अब तक जो विप्लेशन किया गया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राज्यपाल का राष्ट्रपति के साथ क्या सम्बन्ध है। सारभूत रूप में हम यह कह सकते हैं कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के आदेश के अधीन की जाती है। राज्यपाल के पद पर किस व्यक्ति को नियुक्त किया जाए, इसका निर्णय केन्द्रीय सरकार करती है। राज्यपाल राष्ट्रपति

के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर रहता है यद्यपि सामान्य रूप से उसका कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। किन्तु राष्ट्रपति किसी भी समय उसे पदच्युत कर सकता है। इस मामले में राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार कार्य करता है। राज्यपाल लिखित रूप से यदि वह चाहे तो, अपना त्याग-पत्र राष्ट्रपति को भेज सकता है। कतिपय राज्यपालों को बर्खास्त किया गया। विपक्षी दलों ने इन घटनाओं की तीव्र आलोचना की।

1 केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल को विभिन्न प्रकार के जो कार्य करने पड़ते हैं। उनके सम्बन्ध में राष्ट्रपति ही (प्रधानमंत्री के परामर्शानुसार) राज्यपालों को निर्देश – आदेश देता है। यदि राज्य का मंत्रिमण्डल राज्यपाल को राष्ट्रपति के निर्देशन के विरुद्ध कार्य करने की सलाह दे तो वह इस प्रकार की किसी भी सलाह को अस्वीकार कर सकता है। और राज्य को राष्ट्रपति के निर्देश मानने के लिए बाध्य कर सकता है। यदि राज्य मंत्रिमण्डल केन्द्रीय सरकार के निर्देश के अनुसार कार्य नहीं करता है तो राज्यपाल इसे संविधान के विरुद्ध कार्य मानकर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को सांविधानिक संकट की रिपोर्ट दे सकता है और तथा कथित संकट की उद्घोषणा के पश्चात् राष्ट्रपति राज्यपाल के निहित शक्तियों को स्वयं द्वारा संचालित कर सकता है। जब कभी केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण किसी कार्यक्रम को अपनाती है तो राज्यपाल पर यह दायित्व आ जाता है कि वह यह देखे कि राज्य सरकार इस कार्यक्रम को पूरा करने की दिशा में आगे बढ़ रही है।

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधित्व के रूप में राज्यपाल राज्य के सम्बन्ध में समय-समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजता है जिसमें उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिये जाते हैं। राज्यपाल पद ग्रहण के समय संविधान की रक्षा करने की शपथ लेता है, और यदि वह राष्ट्रपति को सांविधानिक तंत्र की विफलता की रिपोर्ट देता है तो उसकी रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राष्ट्रपति, राज्यपाल को जो भी प्रशासनिक, विधायी और वित्तीय कार्य सौंपे राज्यपाल उन सबको पूरा करता है तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के शासन को संचालित करता है। राज्यपाल, अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्य विधान- मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। राज्यपाल को अध्यादेश जारी नहीं कर सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में यह देखता है कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयवाद को न अपनाकर समस्त संघ के हितों का ध्यान रखे। संविधान की उपर्युक्त व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल की मुख्य भूमिका राज्य के सांविधानिक अध्यक्ष की तथा उसकी गौण भूमिका केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता की है। किन्तु राज्यपाल के आचरण के वर्तमान तक के इतिहास से प्रकट यही होता है। कि उसकी दूसरी भूमिका अधिक महत्व की रही है। सांविधानिक अध्यक्ष के रूप में तो अपने औपचारिक कार्य करता ही है, परन्तु उसके उन कार्यों पर उसके केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में छाप अवश्य दिखाई देती है। यह छाप उस समय तो और अधिक स्पष्ट दिखाई देती है, जब केन्द्र की नीति किसी विषय में अलग तथा राज्य की नीति उस विषय में उससे भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल प्रायः केन्द्र

की इच्छा के अनुसार चलता है। राज्यपाल की उक्त भूमिका के कारण उसके पद की उस आधार पर आलोचना भी कही जाती रही है कि केन्द्र उसके माध्यम से राज्यों में अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी इस पद का महत्व निर्विवाद रूप से बना हुआ है।

राज्य विधान मण्डल

लोकतंत्रात्मक शासन पद्धति के अन्तर्गत एक ऐसे यंत्र की आवश्यकता होती है जो कार्यपालिका का निर्माण और उस पर नियंत्रण कर जनता के विचारों की अभिव्यक्ति करे तथा जनता की सम्प्रभुता के सिद्धान्त को मूर्त रूप दे। व्यवस्थापिका एक ऐसा ही यंत्र होती है। जहाँ दोनों सदनों की व्यवस्थापिका होती है वहाँ प्रथम सदन वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त पर

गठित होता है। द्वितीय या उच्च सदन कुछ विशेष वर्गों और संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

अंग्रेजी शासनकाल में भारत के प्रान्तों में विधानमण्डल का षनै- षनै विकास हुआ और इसके अधिकार भी विस्तृत हुए। किन्तु इस काल में उसे कभी पूर्ण प्रभुता प्राप्त नहीं हो पायी। प्रान्तों के गर्वनरों को विशेष अधिकार प्राप्त थे जिनसे कभी पूर्ण प्रभुता प्राप्त नहीं हो पायी। प्रान्तों के गर्वनरों को विशेष अधिकार प्राप्त थे जिनसे समस्त विधानमण्डल शक्तिहीन बने रहे पर नये संविधान के लागू होने पर राज्य विधानमण्डलों की स्थिति बिल्कुल बदल गयी। राज्य के प्रशासन में उनका महत्वपूर्ण स्थान हो गया है।

1. राज्य-व्यवस्थापिका का स्वरूप – संविधान द्वारा भारत के प्रत्येक राज्य के लिए विधानमण्डल की व्यवस्था की गयी जिसका काम राज्य-सूची के विषयों पर कानून बनाना है। राज्यों के शासन में विधानमण्डल का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि राज्य की कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद्) इसी के एक सदन (विधानसभा) के प्रति उत्तरदायी है।

भारत के सभी राज्यों के विधानमंडलों को स्वरूप एक सा नहीं है। कुछ राज्यों के विधानमंडलों में एक ही सदन है। जिन राज्यों में विधानमंडलों में एक ही सदन है उस सदन को विधानसभा कहा जाता है। पर जिन राज्यों के विधानमंडलों में दो सदन हैं वहाँ उच्च सदन को विधान परिषद् और निचले सदन को विधानसभा कहा जाता है। आजकल बिहार, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश पंजाब, मध्य प्रदेश, मैसूर, मद्रास, गुजरात, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश, के विधानमंडलों में दो-दो सदन हैं। उड़ीसा, समम, राजस्थान और केरल में केवल एक ही सदन है। राज्यों की व्यवस्थापिका के संगठन में इस तरह का जो विभेद हो गया है इसके कारण का पता संविधान से नहीं चलता। यदि सभी राज्यों के विधानमंडलों में दो सदन होते तो यह कहा जा सकता था कि द्विसदनात्मक प्रणाली को अपनाने से जो लाभ होता है उसी को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने राज्यों की व्यवस्थापिका में दो सदनों की व्यवस्था की। लेकिन सभी राज्यों में दो सदनों की व्यवस्था नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधान निर्माताओं को द्विसदनात्मक प्रणाली का लाभ ध्यान में नहीं था। वस्तुतः संविधान परिषद् में इस बात को लेकर सदस्यों के बीच काफी मतभेद था। कुछ सदस्य दूसरे सदन को अनावश्यक समझते थे। अतएव इस बात पर कोई एक निर्णय नहीं हुआ। किस राज्य में एकसदनात्मक और किसमें द्विसदनात्मक विधानमंडल हों। इसका निर्णय राज्य सरकार पर छोड़ दिया गया। संविधान में यह उल्लेख कर दिया गया कि यदि विधानसभा में उपस्थित सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से विधानपरिषद् हटाने के लिए प्रस्ताव पारित कर दे तो संसद कानून बनाकर उस राज्य की विधान परिषद् का अन्त कर देगी। इस प्रकार जिन राज्यों में एक ही सदन है वह दूसरे सदन की स्थापना की जा सकती है। उपर्युक्त कारणों से भारत संघ के राज्यों में विधानमण्डल का स्वरूप एक-सा नहीं है। किसी राज्य में एक सदन है तो किसी राज्य में दो। इसके पीछे एक ऐतिहासिक परम्परा भी है। संविधान लागू होने के समय जिन-जिन राज्यों

भारतीय शासन राजनीति

में उच्च सदन थे उन्हें ज्यों का त्यों छोड़ दिया गया और जिन राज्यों की व्यवस्थापिका में एक ही सदन था वहाँ वैसा ही रखा गया।

संविधान के अनुच्छेद 138वें अनुच्छेद में राज्यों की व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमंडल होगा। यह उस राज्य के राज्यपाल तथा राज्य के विधान मण्डल के सदस्यों से मिलकर बनेगा। इसके बाद संविधान उनकी बनावट, अधिकार और कार्यों का वर्णन करता है। आगे के पृष्ठों में हम इन्हीं बातों पर प्रकाश डालेंगे।

2. विधान परिषद् उन राज्यों के विधानमंडल में जहाँ दो सदन हैं, उच्च या द्वितीय सदन को विधानपरिषद् कहते हैं। आन्ध्र, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, कर्णाटक, मैसूर, पंजाब, उत्तरप्रदेश, और पश्चिम बंगाल राज्यों में विधानपरिषद् की व्यवस्था है। पेश राज्यों के विधानमंडलों में एक ही सदन है।

आजकल इन विभिन्न राज्यों की विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार निर्धारित है

संगठन दृष्टि मूल संविधान में विधान परिषद् को बनावट के सम्बन्ध में यह व्यवस्था थी कि उनके सदस्यों की संख्या विधानसभा के कुल सदस्यों का होना आवश्यक था। 1956 में संविधान के सातवें संशोधन द्वारा इस व्यवस्था में एक परिवर्तन हो गया है। अब विधानपरिषद् के सदस्यों की कुल संख्या उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या के तीसरे भाग से अधिक नहीं होनी चाहिए। परन्तु अभी भी उसमें सदस्यों की संख्या 40 से कम नहीं हो सकती।

अभी विधान परिषद् का संगठन निम्नलिखित प्रकार से होता है। इसमें तब तक कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक संसद इस सम्बन्ध में कोई कानून न बना दे।

(क) विधान परिषद् के लिए तिहाई सदस्य ऐसे निर्वाचक मंडल द्वारा निर्वाचित होंगे जिनमें राज्यों की नगरपालिकाओं, जिला परिषदों तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं के सदस्य होंगे और जिन्हें संसद कानून द्वारा निश्चित करेगी।

(ख) इस परिषद् की कुल सदस्य संख्या के बारहवें भाग का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक मंडल द्वारा होगा जिसमें भारत के किसी भी विश्वविद्यालय के कम-से-कम तीन वर्ष पुराने स्नातक होंगे या संसद द्वारा निर्धारित इसके बराबर अन्य योग्यता रखने वाले।

(ग) इसकी कुल सदस्य संख्या के बारहवें भाग का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक मंडल द्वारा होगा जिसमें माध्यमिक तथा इसके ऊपर के शिक्षणालयों के ऐसे अध्यापक हों जो कम से कम तीन वर्ष तक अध्यापन का कार्य कर चुके हों।

(घ) कुल सदस्यों के एक तिहाई का निर्वाचन विधानसभा के सदस्य ऐसे व्यक्तियों से करेंगे जो विधानसभा के सदस्य नहीं हैं।

(ङ.) पेश सदस्य अर्थात् सदस्यों की संख्या का छठा भाग – राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाएंगे। राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत करेगा जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव हो।

एक उदाहरण : बिहार विधान परिषद् – बिहार में विधान परिषद् का अस्तित्व संविधान लागू होने से पहले ही है। संविधान लागू होने पर इसकी सदस्य संख्या 72 थी। 1954 में संसद ने एक कानून बनाकर अन्य राज्यों की विधान परिषदों के साथ-साथ बिहार – विधानपरिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी। आजकल 96 है, इनमें 34 सदस्य स्थानीय

संस्थाओं द्वारा 34 विधान सभाओं द्वारा, 8 शिक्षकों द्वारा और 8 स्नातकों द्वारा होते हैं तथा 12 सदस्यों को राज्यपाल नियुक्त करता है ।

कार्यकाल विधान परिशद एक स्थाई संस्था है इसका कभी विघटन नहीं हो सकता। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति छः वर्ष वर्ष के पश्चात अपना स्थान रिक्त कर देते हैं और उन

स्थानों की पूर्ति नये सदस्यों द्वारा होती है। आरम्भ में इसका संगठन इस प्रकार हुआ था कि एक तिहाई सदस्य छः वर्ष के लिए, एक तिहाई चार वर्ष के लिए और पेश एक तिहाई दो वर्ष के लिए हुए। बाद में क्रम बैठ जाने पर सभी सदस्य छः वर्ष के लिए होने लगे। इस प्रकार अब प्रत्येक सदस्य एक बाद निर्वाचित होने पर छः वर्ष के लिए इस सदन का सदस्य होता है। सदस्यता की योग्यता— विधानपरिशद का सदस्य निर्वाचित होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक हैं.

(क) उम्मीदवार भारत का नागरिक हो ।

(ख) उसकी उम्र तीस वर्ष से कम न हो।

(ग) संसद द्वारा निश्चित अन्य योग्यताएँ पूरी करता हो ।

इसके विपरीत, वे व्यक्ति इसके सदस्य नहीं हो सकते जिनमें निम्नलिखित आयोग्यताएँ हैं

(क) भारत सरकार तथा किसी राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर होना ।

(ख) किसी न्यायालय द्वारा पागल घोषित होना ।

(ग) अनुन्मुक्त दिवालिया होना

(घ) भारत का नागरिक न होना ।

सदस्यता की समाप्ति — विधान परिशद का कोई सदस्य सदन के अधिवेशन परिशद की आज्ञा लिए बिना लगातार 60 दिनों तक अनुपस्थित रहता है तो उसका स्थान रिक्त समझा जायगा। इसके अतिरिक्त कोई भी सदस्य एक ही साथ विधान सभा के दोनों सदनों को सदस्य नहीं हो सकता है। यदि कोई सदस्य दोनों सदनों का सदस्य है तो उसे एक निश्चित समय के भीतर किसी एक सदन की सदस्यता त्याग देनी पड़ेगी यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी दोनों सदनों की सदस्यता समाप्त मानी जाएगी।

पदाधिकारी — विधान परिशद के दो पदाधिकारी होते हैं — सभापति और उपसभापति छ विधान परिशद के निर्वाचन के बाद इसके सदस्य अपने में से दो सदस्यों को इन पदों के लिए चुन लेते हैं । सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति उसका काम करता है। परिशद की बैठकों की कार्यवाहियों को सुचारु रूप से चलाना सभापति का मुख्य काम है। सभापति को केवल निर्णायक मत देने का अधिकार है। अपने बहुमत से प्रस्ताव पारित कर विधान परिशद इन पदाधिकारियों को हटा भी सकती हैं।

कार्य पद्धति — एक साल में विधान परिशद के कम से कम दो अधिवेशन अवश्य होंगे। प्रत्येक बात का निर्णय उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से होगा। इसकी कोई भी कार्यवाही विधि के अनुसार समझी जायगी जब कम से कम दस सदस्य या कुल सदस्य का दसवा हिस्सा उपस्थित हो ।

अधिकार और कार्य विधान परिशद के अधिकार और कार्य का अध्ययन हम निम्नलिखित परिशदों के अंतर्गत कर सकते हैं

(क) विधानपरिशद तथा साधारण विधेयक राज्य सूची तथा समवर्ती सूची में वर्णित विषयों पर विधानपरिशद को कानून बनाने का अधिकार है, किन्तु इस क्षेत्र में इसका अधिकार काफी सीमित है। यह बात ठीक है कि कोई भी साधारण विधेयक विधानपरिशद में पेश किया

भारतीय शासन राजनीति

जा सकता है। (वित्त विधेयक या धन विधेयक इस सदन में पेश नहीं किया जा सकता), फिर भी इस क्षेत्र में विधानसभा की ही इच्छा सर्वोपरि है। विधानसभा द्वारा स्वीकृत विधेयक को परिशद् नामंजूर कर सकती है, लेकिन अन्त में विधानसभा की ही विजय होती है। यदि कोई विधेयक विधानसभा द्वारा पारित हो गया हो परन्तु विधान परिशद् उसे अस्वीकृत कर दे या एक महीने तक उसे नहीं लौटाये या तीन महीने से अधिक अपने पास रखे रहे या उसमें ऐसे संशोधन कर दे जो विधानसभा को मान्य न हों तो वह विधेयक विधानसभा में पुनः पारित होकर फिर से परिशद् में भेजा जायगा। यदि इस बार परिशद् उसे अस्वीकृत कर दे या एक महीने तक उसे नहीं लौटाये या कोई ऐसा संशोधन कर दें जो विधानसभा को स्वीकार नहीं हो तो वह उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा जिस रूप में वह विधानसभा द्वारा पारित किया गया था।

इस स्थल पर यह जान लेना अनुपयुक्त न होगा कि संघ में जब लोकसभा और राज्यसभा के बीच इस तरह को कोई विवाद उठ खड़ा होता है तो उसके समाधान के लिए राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है। यह व्यवस्था राज्यों की व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में मतभेद की स्थिति में नहीं की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण विधेयक के सम्बन्ध में विधान परिशद् के अधिकार नाम मात्र के हैं।

(ख) विधानपरिशद् तथा वित्त विधेयक – वित्त विधेयक केवल विधानसभा में ही पेश किए जा सकते हैं, विधान परिशद् में नहीं। जब विधानसभा वित्तसम्बन्धी कोई विधेयक पारित कर देती है। तो उसे विधान परिशद् में उसकी स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। विधान परिशद् के लिए आवश्यक है कि ऐसे विधेयकों को अपनी सम्मति के साथ 14 दिनों के अन्दर परिशद् उस विधेयक को वापस नहीं भेजती है तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा अपने मूल रूप में ही पारित समझा जाएगा। यदि परिशद् 14 दिन के अन्दर ही कुछ संशोधन के साथ उस विधेयक को लौटा दे तो उस संशोधन को मानना या न मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर है। अतएव यह स्पष्ट है कि वित्तविधेयक के सम्बन्ध में इस सदन का अधिकार नगण्य है।

(ग) विधानपरिशद् और कार्यपालिका – कार्यपालिका पर नियंत्रण के सम्बन्ध भी विधानपरिशद् के अधिकार नहीं के बराबर है। राज्य की मंत्रिपरिशद् इस सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। इसलिए इस सदन द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने का कोई अर्थ नहीं होता है। किन्तु कुछ परोक्ष तरीकों से विधानपरिशद् कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सकती है। परिशद् को मंत्रियों से प्रश्न करने, वादविवाद करने तथा काम रोको प्रस्ताव रखने का अधिकार है। इस सदन के सदस्य मंत्रिपरिशद् के मंत्री भी नियुक्त हो सकते हैं।

विधानपरिशद् की व्यर्थता पर निश्कर्ष – विधान परिशद् के नगण्य अधिकारों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक बिल्कुल शक्तिहीन सदन है। संविधान द्वारा विधानसभा को महत्ता दी गई है। न कि विधानपरिशद् को। इसके अधिकारों के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि इस संस्था को कोई प्रभावशाली अधिकार नहीं हैं। यह विधानसभा पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रख सकती है। धन- विधेयकों को यह केवल 14 दिनों तक और साधारण विधेयकों को अधिक से अधिक चार महीने तक रोक सकती है। केन्द्र की तरह दोनों सदनों के मतभेद होने पर संयुक्त बैठक की भी व्यवस्था नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी शक्तिहीन संस्था को रखने से लाभ ही क्या है जबकि कानून निर्माण पर इसके निर्णयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता? इस सम्बन्ध में दोनों तरह के विचारक हैं। आलोचकों ने विध

नपरिशद् के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं

(क) विधानपरिशद् का संगठन प्रजातांत्रिक प्रणाली के विरुद्ध हैं, क्योंकि इसके सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष ढंग से होता है। सत्तारूढ़ राजनीतिक दल कुछ अलोकप्रिय व्यक्तियों को विधानपरिशद् बनाकर मंत्रिपरिशद् में सम्मिलित करता है। उदाहरण के लिए भारत के कुछ

राज्यों में ही विधानपरिशद की व्यवस्था कांग्रेस दल के राजनीतिक स्वार्थसाधन के लिए की गयी है। वस्तुतः यह राजनीतिक लाभ के लिए एक पिछले दरवाजे की तरह है जिससे वैसे लोग भी राजनीतिक पद पर चले आते हैं जिन्हें जनता ने अस्वीकृत कर दिया हो। भूतपूर्व बम्बई राज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री मोरारजी देसाई इसके उदाहरण हैं। 1952 के आम चुनाव में हार गये और तब सभी जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों की उपेक्षा करते हुए उन्हें तुरन्त विध गगनपरिशद का सदस्य मनोनीत कर मुख्यमंत्री बना दिया गया। इसी तरह विहार में 1968 में बिन्देश्वरी प्रसाद मंडल को विधान परिशद का सदस्य मनोनीति कर मुख्यमंत्री बना दिया गया। इसी तरह बिहार में 1968 में बिन्देश्वरी प्रसाद मंडल को विधानपरिशद का सदस्य मनोनीत कर मुख्यमंत्री बनाया गया। इसके अतिरिक्त विधानपरिशद काँग्रेसदल के पदलोलुप, अयोग्य और अप्रिय राजनीतिक कार्यकर्ताओं को खुष करने का एक माध्यम तो रही है !

(ख) विधानपरिशद को कोई व्यावहारिक शक्ति भी प्राप्त नहीं है। साधारण विधेयक और अनविधेयक के निर्माण में विधान परिशद की स्वीकृति या अस्वीकृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संसद के दोनों सदनों में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक का प्रावधान किया गया है। राज्य में विधानमंडल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का कोई प्रबन्ध नहीं है। अतः कनिशपरिशद पूर्णतः अनावश्यक है और राज्यों की निधि पर भार स्वरूप है। फ्रेंच लेखक अब्बेसाइज के विचारानुसार, “यदि उच्च सदन निचले पर भारस्वरूप है। फ्रेंच लेखक अब्बेसाइज के विचारानुसार, “यदि उच्च सदन से सहमत है तो व्यर्थ है और यदि सहमत नहीं है तो यह उसकी बदमाशी है।

(ग) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका संघात्मक राज्य का एक आवश्यक लक्षण है। भारत भी एक संघात्मक राज्य है। अतः यहाँ भी द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका आवश्यक है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब केन्द्र में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था कर दी गयी है तो राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आवश्यकता ही क्या है? श्री पालडे ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है। कि “भारत संघ के स्वायत्त राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आवश्यकता नहीं है।

(घ) आलोचकों का यह भी तर्क है कि इस सदन में कुछ विपिष्ट वर्गों का प्रतिनिधित्व होता है। अतः उनका काम लोकप्रिय सदन द्वारा प्रस्तावित प्रगतिशील विधेयकों के मार्ग में रोड़ा अटकांना भर रह गया है।

(ङ) विधानपरिशद का संगठन भी बहुत दोषपूर्ण है। इसके संगठन में प्रत्यक्ष निर्वाचन, अप्रत्यक्ष निर्वाचन का मनोनयन तीनों पद्धतियों को अपनाकर सदन को ‘भानुमती का पिटारा बना दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप सदन प्रभावपूर्ण तरीके से काम करने में सफल नहीं हो सकता है।

(च) इसके बाद यह प्रश्न उठता है कि भारत जैसे गरीब देश के लिए इस प्रकार की अनावश्यक, अनुपयोगी और खर्चीली संस्था कायम रखने का क्या नैतिक औचित्य हो सकता है? आप्ठ्य की बात यह है कि कुछ राज्यों में विधान परिशदों को सज्जन कर दिया गया है। जहाँ पहले वे नहीं। इतना ही नहीं, संविधान के सप्तम् संशोधन के द्वारा पुरानी विधानपरिशदों में सदस्यों की संख्या भी बढ़ा दी गयी है।

परन्तु कुछ विद्वानों का तर्क भी है कि विधान परिशद से हानियों के बदले लाभ अधिक है। इसे बनाये रखने के पक्ष में इसी कारण विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न तर्क दिये गये हैं—

(क) विधानपरिशद के कारण शक्ति केवल विधानसभा में केन्द्रीभूत नहीं हो पाती ! यदि ऐसा होता तो यह मंत्रिपरिशद के लिए बहुत घातक सिद्ध होता। विधानपरिशद की निरंकुषता रोकती है।

(ख) विधानसभा को बहुत सारे कार्य करने पड़ते हैं। सभी विधेयकों की बारीकियों में विधानसभा नहीं जा सकती। विधानपरिशद इस कमी को पूरा करती है।

भारतीय शासन राजनीति

(ग) विधानपरिशद को विधानसभा से पारित विधेयकों को दुहराने का मौका मिल जाता है। इससे विधेयकों में त्रुटियाँ रह जाने की कम सम्भावना रहती है।

(घ) विधानसभा के लोग जनता के प्रतिनिधि होते हैं। वे किसी भी समस्या पर जनता के भावावेश से प्रभावित हो सकते हैं और तरह-तरह की गलतियाँ कर सकते हैं। विधानपरिशद के साथ ऐसा होने की कम ही गुंजाइश है। विधानपरिशद में वयोवृद्ध लोग होते हैं। यदि कनिष्ठसभा के लिए 25 वर्ष सदस्यता की उम्र रखी गयी है तो विधान परिशद में अनुभवी और वयोवृद्ध लोगों की संख्या अधिक होती है। उनके अनुभव और समझदारी से विधायन क्षेत्रों में लाभ उठाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि जनता के भावावेश के थपेड़े में आने का उनके साथ, प्रश्न ही नहीं उठता।

(ङ.) विधानपरिशद को विधानसभा से पारित विधेयकों को जब तक रोक रखने का अधिकार है तब तक की अवधि में जनता को उन विधेयकों की अच्छाइयों और बुराइयों पर सोचने का मौका मिल जाता है। अस्तु विधानपरिशद के कारण किसी समस्या में जनमत के निर्माण का अवसर मिल जाता है।

(च) विधानपरिशद में विभिन्न वर्गों और अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का अवसर मिल जाता है। यदि राज्य के विधानमंडल में केवल विधानसभा ही रहती तो उस विभिन्न वर्गों और अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता जो साधारणतया विधानपरिशद में प्रतिनिधित्व पा लेते हैं।

(छ) विधानपरिशद में समाजसेवी, साहित्यिक, विद्वान, कलाप्रेमी, वैज्ञानिक आदि को भी मनोनीत कर उनके अनुभव और ज्ञान से शासनकार्यों में लाभ उठाया जा सकता है।

(ज) संसार के प्रायः सभी राज्यों में द्वितीय सदन है। अस्तु विधान परिशद इस कसौटी पर खरी उतरती है। यदि भारत के विभिन्न राज्यों में विधानपरिशद की व्यवस्था है तो वह द्विसदनात्मक पद्धति की प्रचलित परम्परा के अनुसार ही है।

दोनों दृष्टिकोणों पर विचार करने के बाद निष्कर्ष के रूप में यहीं कहा जा सकता है कि विधानपरिशद राज्य के शासनसंगठन का आलंकारिक भाग भर रह गयी है। इसकी अपनी उपयोगिताएँ हैं, परन्तु अभी हवा का रुख इसके विरुद्ध है।

चतुर्थ आम चुनाव के बाद विधानपरिशद— चतुर्थ आम चुनाव के बाद कई राज्यों में गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। चूँकि विधानपरिशदों की रचना पुरानी थी और उनमें कांग्रेस का ही बहुमत था, इसलिए विधानपरिशदों में सत्तारूढ़ दल को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विधानपरिशदों में कई बार गैर कांग्रेसी सरकार को हार खानी पड़ी और उसने ऐसे-ऐसे प्रस्ताव पारित किये जो सरकार को नापसंद थे।

1969 के मध्यावधि चुनाव के बाद पश्चिम बंगाल तथा पंजाब में यह समस्या और भी गम्भीर हो गयी। पश्चिम बंगाल की विधानपरिशद ने विपक्ष तौर पर संयुक्त मोर्चा सरकार को पक्षोपेक्ष में डालना शुरू किया। इस हालत में पश्चिम बंगाल की विधानसभा ने एक प्रस्ताव पारित कर परिशद को समाप्त करने की माँग की। केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया और वहाँ विधानपरिशद समाप्त हो गयी। इसी तरह पंजाब और उत्तर प्रदेश में भी इसे समाप्त कर दिया गया। बिहार विधानसभा में भी इसे हटाये जाने से सम्बद्ध प्रस्ताव पारित कर दिया था। परन्तु फिर 4 दिसम्बर 1970 को एक प्रस्ताव पारित कर विधानसभा ने 7 मई, 1974 तक विधानपरिशद को विघटित नहीं करने का निश्चय किया। अतः स्पष्ट है कि इसकी उपयोगिता दिनोंदिन घटती जा रही है। अतः परिवर्तित राजनीतिक स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि सभी राज्यों से विधानपरिशदों को समाप्त कर दिया जाय।

3. विधानसभा — भारत संघ जिन-जिन राज्यों के विधानमंडल में दो सदन हैं उनके निचले या प्रथम सदन को 'विधानसभा' संज्ञा दी गयी है। इस सदन का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। संविधान के अनुसार सभी राज्यों में इस सदन का होना आवश्यक है।

विधानसभा का संगठन – विधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्कमताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष ढंग से होता है। इसके सदस्यों की संख्या प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के आधार पर निश्चित की जाती है। फिर भी संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी भी राज्य की विधानसभा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी भी राज्य की विधानसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या पाँच सौ तथा न्यूनतम साठ हो सकती है। विधानसभा चुनाव के लिए प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है। संविधान मान के मूल अनुच्छेद 107 (2) में यह निश्चित किया गया था कि विधानसभा में प्रतिनिधित्व का आधार इस प्रकार होगा कि 75,000 जनसंख्या के लिए एक प्रतिनिधि से अधिक नहीं हो। लेकिन संविधान के सप्तम संशोधन ने इस निश्चित जनसंख्या को उठा दिया है। इसकी जगह

अब यह व्यवस्था की गयी है कि सारे राज्य में निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या और प्रतिनिधित्व का अनुपात बराबर हो। इन्हीं क्षेत्रों में प्रत्यक्ष ढंग से गुप्त मतदान द्वारा सदस्यों को निर्वाचन होता है। प्रत्येक मतदाता के लिए यह आवश्यक है कि वह भारत का नागरिक हो, इक्कीस वर्ष से कम आयु का न हो, निवास की शर्त पूरी करता हो और किसी अपराध, भ्रष्टाचार अथवा गैरकानूनी कार्य के कारण न्यायालय अयोग्य न ठहरा दिया गया हो।

□ प्रत्येक राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। स्थानों का यह संरक्षण इन जातियों की जनसंख्या के अनुपात से ही होता है। संविधान के मूल अनुच्छेद 322 के अनुसार यह अवधि पूरी हो रही थी। लेकिन, संविधान के अष्टम संशोधन (दिसम्बर, 1959) के द्वारा इस अवधि को दस वर्ष के लिए और भी बढ़ा दिया गया। पुनः संविधान के 23वें संशोधन (1970) द्वारा इस अवधि को 10 वर्ष के लिए और भी बढ़ा दिया गया। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इसमें मनोनीत आँगल भारतीय सदस्य एक होगा।

इसी तरह यदि, सम्बद्ध राज्य का राज्यपाल यह समझे कि विधानसभा में ऐंग्लो-इंडियन समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह उस समुदाय से कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। इस समुदाय के कितने व्यक्ति विधानसभा के सदस्य मनोनीत किये जायेंगे, इनकी संख्या संविधान द्वारा निश्चित नहीं की गई थी। संविधान के अष्टम संशोधन द्वारा प्रत्येक राज्य के लिए इस संख्या को निश्चित कर देने का प्रयास किया गया था। किन्तु, लोकसभा के कांग्रेसी सदस्यों की लापरवाही के कारण विधेयक का यह अंश पारित नहीं हो सका। इस समय विभिन्न राज्यों की विधानसभा के सदस्यों की संख्या इस प्रकार है—

‘ तथा 7 अन्य केन्द्र शासित क्षेत्र में एक-एक विधान सभा सदस्य हैं।

दिल्ली में विधानसभा के स्थान पर महानगरपरिशद है। पेश केन्द्रीय क्षेत्रों में विधानसभाएँ नहीं हैं। बल्कि उन्हें केवल लोकसभा में ही प्रतिनिधित्व दिया गया है।

विधानसभा के सदस्यों की योग्यताएँ

(क) वह भारत का नागरिक हो,

1 (ख) वह पच्चीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,

(ग) उसमें वे सभी योग्यताएँ हों जिन्हें विधानमंडल ने उसके लिए निर्धारित किया हो। पर यदि किसी व्यक्ति में निम्नलिखित अयोग्यताएँ हों तो वह विधानसभा की सदस्यता का

उम्मीदवार नहीं हो सकता

(क) वह भारत का नागरिक न हो,

(ख) भारत सरकार या किसी भी राज्य सरकार के ऐसे पद पर काम करता हो जिससे

भारतीय शासन राजनीति

उसे आर्थिक लाभ होता हो,

(ग) विधानमंडल द्वारा निर्मित किसी नयी विधि के अन्तर्गत अयोग्य ठहराया गया हो,

(घ) पागल हो या किसी न्यायालय द्वारा पागल करार दिया गया होय

(ङ.) ऐसा दिवालिया हो जिसने भुगतान न किया हो ।

सदस्यों के पद की रिक्तता –

कोई भी व्यक्ति एक ही समय किसी राज्य के विधानमंडल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हो जाए तो उसे किसी एक सदन की सदस्यता छोड़नी पड़ेगी। इसी तरह एक ही समय कोई व्यक्ति दो या अधिक राज्यों के विधानमंडलों का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति इस स्थिति में आ गया हो तो उसे राष्ट्रपति द्वारा निश्चित अवधि के अन्दर ही एक को छोड़कर अन्य राज्यों के विधानमंडलों की सदस्यता त्याग कर देना पड़ेगा। ऐसा नहीं करने से उसका स्थान सभी विधानमंडलों से रिक्त समझा जायगा। यदि कोई सदस्य अपने सदन की आज्ञा बिना उसके अधि वेषन से लगातार साठ दिनों तक अनुपस्थित रहे तो उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जायगा। अपना त्यागपत्र देकर भी कोई सदस्य विधानसभा की सदस्यता से मुक्त हो सकता है। विधानसभा का कार्यकाल साधारणतया विधानसभा का कार्यकाल पाँच वर्ष का है। इस अवधि के समाप्त होते ही विधानसभा स्वयमेव भंग हो जाती है। यदि राज्यपाल चाहे तो वह इस अवधि के भीतर भी विघटन कर सकता है। आपातकाल में विधानसभा के कार्यकाल में वर्षद्धि भी की जा सकती है, परन्तु यह संसद द्वारा पारित कानूनों के आधार पर ही हो सकता है। संसद एक बार में केवल एक वर्ष के लिए ही इसकी कार्यअवधि बढ़ाई जा सकती है, इससे अधिक नहीं घोशणा समाप्त होने के उपरान्त यह अतिरिक्त अवधि किसी भी दशा में छह महीने से अधिक नहीं हो सकती।

विधानसभा के पदाधिकारी विधानसभा के पदाधिकारी होते हैं—अध्यक्ष और उपाध्यक्ष। विधानसभा के निर्वाचन के बाद इस सदन के सदस्य अपने सदस्यों में से किन्हीं दो सदस्यों को इन पदों के लिए चुन लेते हैं। इन पदाधिकारियों के कार्य कार्य और अधिकार वि

नसभा के सम्बन्ध में वही हैं जो संसद की लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष उस सभा के

सम्बन्ध में वही हैं जो संसद की लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को अपदस्थ करने की करने की प्रक्रिया के अनुसार ही है। जहाँ तक अध्यक्ष के कार्यों का प्रश्न है, संक्षेप में यहाँ यह कह देना कोई अनुपयुक्त न होगा कि सदन की बैठक अध्यक्ष की अध्यक्षता में ही होती है और उसकी कार्यवाहियों को सुचारु रूप से चलाना उसका मुख्य काम है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसका आसन ग्रहण करता है। अध्यक्ष के अधिकार और कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा रहा सकता है—

(क) अध्यक्ष का सबसे महत्वपूर्ण कार्य सदन में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखना है। सभा में अनुशासन कायम रखने की जिम्मेदारी उसी के ऊपर है। अनुशासन कायम रखने के उद्देश्य से वह किसी भी सदस्य को सदन से बाहर जाने की आज्ञा दे सकता है या उसकी सदस्यता निलम्बित कर सकता है।

(ख) सदन में प्रश्न या प्रस्ताव उसकी अनुमति के बाद ही उपस्थित किए जा सकते हैं। (ग) सदन की विभिन्न कार्यवाहियों के लिए समय निर्धारित करना अध्यक्ष का ही कार्य है (घ) कार्यवाहियों का क्रम निश्चित करना तथा भाषणों के लिए समय निश्चित करना भी उसी का कार्य है। इस सम्बन्ध में वह सदन के विभिन्न दलों के नेताओं से परामर्श कर सकता है।

(ङ.) विभिन्न समितियों के अध्यक्षों को मनोनीत करना भी उसी का कार्य है।

(च) अध्यक्ष सदन के नियमों की भी व्याख्या करता है। तथा विवादास्पद विषयों पर अपना निर्णय देता है।

(छ) सदन में गम्भीर अव्यवस्था तथा अशान्ति की अवस्था में अध्यक्ष सदन का कार्य स्थगित या निलम्बित कर सकता है।

(ज) सदन के सदस्यों के विषेशाधिकार की रक्षा कर उत्तरदायित्व भी अध्यक्ष पर ही है। (झ) कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, यह निश्चित करने का अधिकार अध्यक्ष को ही है।

(ञ) मानहानिकारक, अपशिष्ट, असंसदीय तथा अनुचित शब्दों को अध्यक्ष सदन की कार्यवाही से निकाल सकता है।

इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि उसे सदन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ती है। अध्यक्ष का पद महत्वपूर्ण होता है। ब्रिटिश लोकसभा के अध्यक्ष के सम्बन्ध में ठीक ही कहा जाता है कि उसकी पोषाक की खड़खड़ाहट ही सारे सदन को शान्त करने के लिए पर्याप्त है। इसका कारण यह है कि वह निष्पक्ष होता है और शान्त करने के लिए पर्याप्त है। इसका कारण यह है कि वह निष्पक्ष होता है और उसे अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र देकर तटस्थ हो जाना पड़ता है। वह निष्पक्षतापूर्वक अपने सदन की कार्यवाही सम्पन्न करता है। बिहार – विधानसभा या किसी भी राज्य की विधानसभा के अध्यक्ष को अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे देना चाहिए ताकि वह निष्पक्षतापूर्वक सदन की कार्यवाही चला सके। परन्तु हमारे यहाँ विधानसभा के अध्यक्ष के लिए ऐसा करना आवश्यक नहीं ठहराया गया है। यही – कारण है कि उससे उतनी निष्पक्षता की आशा नहीं की जा सकती है। यह बात सही है कि विधानसभा के अध्यक्ष को लोकसभा के अध्यक्ष की तरह व्यापक अधिकार दिये गये हैं। फिर भी व्यवहार में उसकी स्थिति लोकसभा के अध्यक्ष की तरह गौरवपूर्ण नहीं है। बराबर ऐसा देखने को मिलता है कि विधानसभा के सदस्य अध्यक्ष की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हैं। कई बार तो किसी सदस्य का सदन से बाहर निकालने के लिए अध्यक्ष को मार्शल की सहायता कृपया आवश्यकता पड़ जाती है।

अध्यक्ष के अधिकार के सम्बन्ध में नया विवाद – चतुर्थ आम चुनाव के बाद कृ. अध्यक्षों की स्थिति भी विवादपूर्ण बन गयी है। पश्चिम बंगाल के अध्यक्ष बी०के० बनर्जी ने 1968

स्वप्रगति की जाँच करें : 1. नियुक्त राज्यपाल निर्वाचित क्यों नहीं होते हैं? कोई दो बाजिव कारण: बताइए।

2. राज्यपाल पर पर प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को क्यों नियुक्त किया जाता है जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विश्वास पात्र हों ?

3. क्या राज्यपाल को एक निर्दलीय आचरण की अपेक्षा की जाती है? स्पष्ट करें।

“में विधानसभा की बैठक को यह कहकर अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर दिया कि घोश – मंत्रिमंडल (जिसके परामर्श पर विधानसभा की बैठक बुलायी गयी थी) गैरकानूनी है। कुछ आलोचकों ने अध्यक्ष बनर्जी की इस कार्यवाही की कड़ी निन्दा की। इसी प्रकार पंजाब की विधान सभा के अध्यक्ष ने सभा की बैठक को एकाएक स्थगित कर उसे बजट पारित करने से रोका। फलतः राज्यपाल को अध्यादेश द्वारा सभा की बैठक बुलाकर पुलिस के संरक्षण में बजट पारित करवाना पड़ा। इन घटनाओं से अध्यक्षों की स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा है और वे अब निर्दलीय नहीं माने जा रहे हैं।

भारतीय शासन राजनीति

विधानसभा की कार्यविधि – विधानसभा में प्रत्येक बात का निर्णय उपस्थित तथ्य मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से होता है। सदन की कार्यवाही विधि के अनुसार तभी मानी जायगी जब कम-से-कम कुल सदस्य संख्या का दसवां भाग उपस्थित हो। इस सभा की कार्यवाही के अन्य नियम अध्यक्ष के परामर्श से राज्यपाल बनाता है। यदि विधानमंडल के दोनों सदनों को संयुक्त अधिवेशन हो तो उसमें विधानसभा का अध्यक्ष ही समापतित्व करेगा।

विधानसभा के सदस्यों की उन्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार – अपने कर्तव्य का अच्छी तरह पालन करने के लिए विधानसभा के सदस्यों को अनेक उन्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त हैं (ये सुविधाएँ) विधानपरिशद के सदस्यों को सदन के भीतर भाषण देने की पूरी स्वतंत्रता है। विधानमंडल या उसकी किसी समिति में व्यक्त किये गये विचारों या मतदान के लिए किसी सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। अपने सदस्यों की उन्मुक्तियों के सम्बन्ध में विधान-मंडल समय-समय पर नियमों का निर्माण करेगा, किन्तु जबतक अस विषय पर कोई नियम नहीं बनता तब तक इसके सदस्यों को वे सारी सुविधाएँ प्राप्त रहेंगी जो ब्रिटेन के हाउस ऑफ कामन्स के सदस्यों को प्राप्त हैं।

विधानसभा के सदस्यों को विधानमंडल द्वारा निर्धारित वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ मिलती हैं।

षपथग्रहण – निर्वाचित होने के बाद विधानसभा के प्रत्येक सदस्य को राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी पदाधिकारी के सामने संविधान के प्रति भक्ति और अपने कर्तव्यपालन के सम्बन्ध में षपथ लेनी होती है। संविधान के सोलहवें संशोधन (मई, 1963) के अनुसार उन्हें अब भारत की अखंडता बनाये रखने की भी षपथ लेनी पड़ती है।

विधानसभा के अधिकार और कार्य – राज्य के शासन में विधानसभा का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। संघ शासन में जो स्थान लोकसभा का है, राज्य के शासन में वही स्थान विधानसभा का है। विधानसभा को राज्य-सूची तथा समवर्ती सूची के समस्त विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है। विधिनिर्माण के अतिरिक्त उसका अन्य महत्वपूर्ण अधिकार और राज्य की कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना है। अपनी सुविधा के लिए हमें विधानसभा के अधिकार और कार्यों का अध्ययन निम्नलिखित षीर्षकों में करेंगे—

(क) विधि, निर्माण सम्बन्धी अधिकार – राज्यस्तर पर विधिनिर्माण के क्षेत्र में यथार्थ विधायनी शक्ति विधानसभा को प्राप्त है। इसे राज्य सूची और समवर्ती सूची में वर्णित सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है। राज्य सूची पर कानून बनाने में तो यह स्वच्छन्द हैं, लेकिन समवर्ती सूची के विषयों पर प्रथम अधिकार संसद को है। यदि राज्य के विधानमण्डल की बनायी विधि और संसद की बनायी उस विषय की विधि में विरोध है तो संसद की बनायी विधि ही वैध मानी जायगी। पर जहाँ तक राज्य सूची से सम्बद्ध विषयों के प्रश्न हैं, इस क्षेत्र में विधानसभा का स्थान सर्वोपरि है। जैसा कि विधानपरिशद के अध्ययन के समय बतलाया जा चुका है। कोई भी साधारण विधेयक विधान सभा से पारित होकर विधानपरिशद में जायगा अवश्य, किन्तु विधानपरिशद उस विधेयक को चार महीने से अधिक के लिए नहीं रोक सकती। यदि विधानपरिशद उसमें कोई संशोधन लाये या किसी प्रकार का सुझाव पेश करे तो उसे मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर है। इस तरह के मतभेद की स्थिति में, केन्द्र की तरह, दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की व्यवस्था भी नहीं है।

विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए जाता है। राज्यपाल इस तरह के विधेयक को पहलीबार अस्वीकृत कर अपने सुझावों के साथ विधानमण्डल के पास पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। लेकिन यदि विधानसभा अपने निष्पक्ष

पर अड़ जाए और उस विधेयक को दुबारा फिर उसी रूप में राज्यपाल के पास भेजे तो इस बार राज्यपाल को अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ेगी।

असे प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी तरह के साधारण विधेयकों पर इस सदन का पर्याप्त नियंत्रण है। विधायन में विधानसभा का स्थान राज्यपाल और परिशद दोनों के ऊपर है।

(ख) वित्तीय अधिकार

वित्तीय क्षेत्र में तो विधानसभा सर्वेसर्वा है। वित्त या धन से सम्बद्ध विधेयक केवल विधानसभा में ही पेश किया जा सकते हैं। विधानपरिशद में नहीं। लेकिन इस प्रकार का कोई विधेयक विधानसभा द्वारा पारित हो जाय तो उसे विधानपरिशद के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाना जरूरी है। पर विधानपरिशद विधानसभा की इच्छा के विरुद्ध इन विधेयकों में किसी प्रकार का संशोधन नहीं कर सकती और न चौदह दिनों से अधिक के लिए इन्हें रोककर रख सकती है यदि इस अवधि में इस प्रकार का कोई विधेयक परिशद द्वारा विधानसभा में वापस नहीं भेज दिया जाता है। तो यह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा। राज्य के वार्षिक बजट पर विधानसभा का पूर्ण नियंत्रण है। कर बढ़ाना या घटाना पूर्णतया उसी पर निर्भर है। इस प्रकार, जहाँ तक धन विधेयक और वित्त विधेयक का सम्बन्ध है, सारी शक्ति राज्य विधानसभा में निहित है। यदि विधानमंडल में कभी यह प्रश्न उठे कि अमुक विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उसके निर्णय का अधिकार विधानसभा के अध्यक्ष को है और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय अन्तिम होगा।

(ग) कार्यपालिका पर नियंत्रण – विधिनिर्माण के अतिरिक्त विधानसभा का अन्य महत्वपूर्ण अधिकार राज्य की कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिपरिशद सामूहिक रूप से इसी सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्रिपरिशद का उत्तरदायित्व विधानपरिशद या राज्यपाल के प्रति नहीं होता। विधानसभा विविध तरीकों से मंत्रि परिशद पर नियंत्रण रखती है। उसके सदस्य मंत्रियों से प्रशासन संबंधी प्रश्न करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर काम रोको प्रस्ताव भी रखते हैं। सरकार के विरुद्ध निन्दा अथवा अविश्वास प्रस्ताव पारित करने का अधिकार भी इस सदन को प्राप्त है। विधानसभा द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाना मंत्रिपरिशद के लिए मध्यु ही है। इसके बाद तो मंत्रिपरिशद एक दिन के लिए भी कायम नहीं रह सकती है।

विधानसभा के अधिकारों पर कुछ प्रतिबंध – विधानसभा के अधिकारों के वर्णन से हमें यह समझना चाहिए कि राज्य के क्षेत्र में उसके अधिकार असीमित हैं। विधानसभा को, लोकसभा की तरह, एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संस्था नहीं कहा जा सकता। इसके अधिकारों पर कतिपय निम्नलिखित प्रतिबंध भी हैं—

(क) यद्यपि विधानसभा की समवर्ती सूची पर कानून बनाने का अधिकार है, लेकिन इस क्षेत्र में संसद को ही प्राथमिकता दी गई है, और उन्हें रद्द भी कर सकती है यदि राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनाये गये कानून और इसी विषय पर संसद द्वारा बनाये गये कानून में कोई विरोध हो जाय तो इस स्थिति में संसद द्वारा बनाए गए कानून में कोई विरोध हो जाए तो इस स्थिति में संसद द्वारा बनाया कानून ही ठीक समझा जायगा।

(ख) किसी भी विधानसभा (या विधानमंडल) में उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्णय पर या उनके कर्तव्यपालन सम्बन्धी कार्यों पर कोई वाद-विवाद नहीं किया जा सकता।

(ग) आपातकाल में विधानसभा (या विधानमंडल) को विधिनिर्माण का अधिकार नहीं रह जाता। ऐसे समय राज्य-सूची में वर्णित सभी विषयों पर कानून का निर्माण संसद ही करेगी।

भारतीय शासन राजनीति

(घ) राज्य की विधानसभा या (विधानमंडल) द्वारा पारित कुछ विधियाँ तब तक कानून का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक उन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिल जाय। ऐसी विधियों को राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेज देता है।

:: (ङ) कुछ विधेयक — जिनका सम्बन्ध दूसरे राज्यों अथवा राज्य के भीतर व्यापार आदि से हो— विधानसभा (विधानमंडल) में तब तक पेश नहीं किए जा सकते जब तक उन पर राष्ट्रपति की पूर्वानुमति न मिल जाए।

उपसंहार — इन प्रतिबन्धों के बावजूद निश्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि राज्य के प्रशासन में विधानसभा का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है राज्य सम्बद्ध सभी विषयों पर कानून बनाना और कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना इसके प्रमुख काम हैं। विविध प्रश्नों पर वाद—विवाद कर इसके सदस्य जनमत भी तैयार करते हैं। इतना होने पर भी अनुभव के आध गार पर यह का जा सकता है कि विधानसभा राज्य के प्रशासन में उतना महत्वपूर्ण पार्ट नहीं अदा कर रही है, जितना संविधान द्वारा उसे प्रशासन का बल मिला है। इसलिए कुछ आलोचक राज्यों की विधानसभाओं को गप्प लड़ाने का अड्डा मात्रा कहते हैं। और कुछ अंशों में यह आरोप ठीक भी है।

चतुर्थ आमचुनाव का विधानसभाओं की स्थिति पर प्रभाव — चतुर्थ आमचुनाव के बाद विधानसभा की इस स्थिति में थोड़ा सा परिवर्तन हुआ है और कई दृष्टिकोण से वह राजनीतिक गतिविधि का तूफानी स्थल बन गयी। कई राज्यों में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। अतः इन राज्यों में संयुक्त मंत्रिमंडलों का निर्माण किया गया लेकिन ये मंत्रिमंडल सफलतापूर्वक काम नहीं कर सके। आपसी फूट तथा दलबदल के कारण हरयाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, तथा मध्यप्रदेश में इन्हें समाप्त होना पड़ा।

इस प्रकार चतुर्थ आम चुनाव के बाद भारतीय राज्यों की विधानसभाओं में हम अवसरवादी प्रवृत्ति का विकास पाते हैं। चूँकि इस चुनाव के बाद कई राज्यों में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं था, अतः कई दलों को मिलाकर ही सरकार बनाना सम्भव था। इस स्थिति ने व्यक्तिगत रूप में विधायकों को यह मौका दिया कि वे स्वार्थ सिद्धि के लिए अपना दल बदलकर दूसरे दल में सम्मिलित हो जायँ तथा एक सरकार को गिराकर दूसरी सरकार का निर्माण करें। हर इस होड़ में लग गया कि दूसरे दल के कितने विधायकों को फोड़कर वह अपने समर्थन में ला सकता है। इस प्रकार विधानसभाओं की राजनीति 'आयाराम, गयाराम की राजनीति हो गयी और विभिन्न राज्यों में दलबदलाव इतनी द्रुतगति से हुआ कि स्थाई सरकारों का निर्माण असम्भव हो गया। सरकार की अस्थिरता इतनी बढ़ गयी कि कई राज्यों में

राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा।

इस अवसरवादी प्रवृत्ति का प्रभाव विधानसभाओं की स्थिति पर तुरन्त पड़ा। जो दल सत्तारूढ़ उसने विधानसभा की उपेक्षा शुरू कर दी। उसका प्रयास यही रहा कि अधिक—से—अधिक समय तक विधानसभा का अधिवेशन टाला जाय। सरकारी काम भी ठप पड़ गये। उदाहरणार्थ, मध्यावधि चुनाव के बाद विहार में जो काँग्रेस की सरकार बनी (फरवरी 1969) उसके मुख्यमंत्री ने अपने मंत्रिमंडल का संगठन पूरी तरह इसलिए नहीं किया कि विपक्ष ज लोग दलबदलकर सरकार को गिरा देंगे। महीनों तक मंत्रिमण्डल निर्माण का कार्य स्थगित रखा गया और मंत्रियों के बीच विभागों का वितरण तक नहीं किया जा सका। इस प्रकार दल बदलाव की राजनीति ने विधानसभा के महत्व को ही कम नहीं किया, वरन राज्य के प्रशासन को भी बुरी तरह से प्रभावित किया है। अब सत्तारूढ़ दल का यही प्रयास रहता है कि विध नसभा का अधिवेशन जितना हो सके, टाला जाय और यदि वह हो भी तो कम—से—कम समय के लिए।

4. विधानसभा और विधानपरिशद में सम्बन्ध राज्य के विधानमंडल में विध गनसंभा और विधानपरिशद का सम्बन्ध देखने पर पता चलता है कि विधान परिशद की शक्ति विधानसभा के समक्ष बहुत धुंधली है। उसे राज्यसभा के बराबर भी अधिकार प्राप्त नहीं। संसार

के सभी देशों के द्वितीय सदनों में ब्रिटेन की लार्ड्स सभा सबसे दुर्बल द्वितीय सदन कही जाती है। परन्तु भारत के विधानपरिशद तो उससे भी गयी गुजरी संस्था है।

प्रशासन के क्षेत्र में विधानसभा और विधानपरिशद दोनों को ही अधिकार प्राप्त हैं राज्य की मंत्रिपरिशद में दोनों सदनों के सदस्य मंत्रिपद पर लिए जाते हैं। परन्तु सामान्यतः संसदीय के पद्धति के शासन की परम्परा के अनुसार मुख्यमंत्री विधानसभा का ही सदस्य होता है। कारण, विधानसभा में जिस राजनैतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है। कारण, विधानसभा में जिस राजनीतिक दल को प्राप्त होता है उसी दल का नेता मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त किया जाता है। इस नियम के अनुसार, मुख्यमंत्री विधानसभा का ही सदस्य होता है। परन्तु भारत में ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जब विधानपरिशद के भी किसी सदस्य को मुख्यमंत्री बना दिया जाता है।

मंत्रिपरिशद पर विधानसभा और विधानपरिशद दोनों का ही नियंत्रण होता है। परन्तु इस कार्य में भी विधानसभा विधानपरिशद की तुलना में अधिक शक्तिशाली है। दोनों ही सदनों में मंत्रियों से प्रश्न और पूरक प्रश्न किये जा सकते हैं, परन्तु सरकार तक पहुँचाई जा सकती है। दोनों ही सदनों में जनता की शिकायतें सरकार तक पहुँचाई जा सकती हैं। दोनों ही सदन काम रोकने का प्रस्ताव ला सकते हैं। परन्तु सरकार के विरुद्ध अविश्वास या निन्दा का प्रस्ताव लाने का अधिकार केवल विधानसभा को है। यह अधिकार विधानपरिशद को नहीं है।

राज्य की मंत्रिपरिशद या सरकार केवल विधानसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त है। तब तक वह अपने पद पर बनी रहती है। इसलिए तो उसी राजनीतिक दल को सरकार बनाने का मौका दिया जाता है जिसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन खो देने पर विधानसभा में बहुमत प्राप्त होता है। विधानसभा को अधिकार है कि वह बहुमत द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिपरिशद उस हद तक मंत्रिपरिशद को नियंत्रित नहीं कर सकती जिस हद तक विधानसभा कर सकती है।

विधिनिर्माण के क्षेत्र में विधानपरिशद विधानसभा के मसक्ष बहुत कमजोर है। जहाँ तक धनविधेयक की बात है, लोकसभा की तरह विधानसभा में ही प्रस्तावित हो सकते हैं। वित्तविधेयक केवल लोकसभा की तरह विधानसभा में ही प्रस्तावित हो सकते हैं। विधानसभा से वित्तविधेयक के पारित हो जाने पर वह विधानपरिशद में भेजा जाता है। विधानपरिशद को राज्यसभा की तरह चौदह दिन के भीतर उसे विधानपरिशद पारित किया गया है। उसी रूप में यदि चौदह दिनों के भीतर उसे विधानपरिशद पारित कर देती है। तो वह राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है। चौदह दिनों के भीतर यदि विधानपरिशद चाहे तो अपने संशोधनों के साथ वित्तविधेयक को विधानसभा में लौटा सकती है। परन्तु उन संशोधनों के साथ वित्तविधेयक को विधानसभा में लौटा सकती है। परन्तु उन संशोधनों को मानना या न मानना विधानसभा की मर्जी पर निर्भर है। यहाँ भी विधानपरिशद की इच्छा के अनुसार कोई काम होने की गुंजाइश नहीं है। यदि चौदह दिनों के भीतर विधानपरिशद वित्त विधेयक को पारित नहीं करती तो उस अवस्था में भी वह वित्तविधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जायगा। इस प्रकार वित्त विधेयक के क्षेत्र में विधानपरिशद की शक्ति राज्य की तरह शून्यप्रायः है। वस्तुतः इसकी यह शक्ति लार्ड्स सभा से भी कम है। लार्ड्स सभा को तो वित्तविधेयक और बजट पर सोचने-विचारने और कोई फैसला करने के लिए एक महीने की अवधि मिलती है।

साधारण विधेयक विधानसभा और विधानपरिशद दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं। यहीं तक साधारण विधेयक के क्षेत्र में दोनों सदनों को बराबर अधिकार प्राप्त हैं, अन्यथा उसके बाद प्राथमिकता विधानसभा को ही दी गयी है यदि साधारण विधेयक विधानपरिशद में प्रस्तावित होता है तो वहाँ से पारित होने के बाद वह विधानसभा इस विधेयक के उस रूप से सहमत नहीं है तो सभा द्वारा संशोधित विधेयक को केवल एक महीने तक रोक सकती है। यदि एक महीने के भीतर विधानसभा के संशोधनों को वह मान लेती

भारतीय शासन राजनीति

है तो कोई बात नहीं। यदि नहीं मानती है तो उस अवस्था में भी विधानसभा द्वारा संघोद्धित रूप: में ही वह विधेयक दोनों सदनों में पारित समझा जाता है। केन्द्र की तरह राज्यों में दोनों सदनों

के. संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान नहीं है।

इस प्रकार साधारण विधेयक का रूप क्या होगा इसके बारे में अन्तिम अधिकार विधानसभा को ही प्राप्त है। विधानपरिशद अधिक से अधिक साधारण विधेयक को चार महीने तक ही रोक सकती है। इसके आगे उसे साधारण विधेयक के सम्बन्ध में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

भारत के विभिन्न राज्यों के दोनों सदनों के सम्बन्धों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि विधानपरिशद राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में प्राप्त हैं। निस्संदेह विधानपरिशद राज्यसभा को क्या, ब्रिटेन की लार्ड्स सभा से भी कम शक्तिशाली है। ब्रिटेन की लार्ड्स सभा संसार के सभी द्वितीय सदनों में दुर्बलतम है। परन्तु विधानपरिशद तो उससे गया बीता द्वितीय सदन है।

5. विधायनी प्रक्रिया – राज्य के विधानमंडल में विधायनी प्रक्रिया उसी प्रकार है जिस प्रकार भारतीय संसद में है। अतः यहाँ उसका वर्णन संक्षेप में किया जायगा।

विधानसभा का मुख्य कार्य राज्य के लिए कानून बनाना है। संविधान में जो विषय राज्य – सूची के अन्तर्गत आते हैं उन पर राज्य – विधानमंडल कानून बनाता है। इसके अतिरिक्त समवर्ती सूची के विषयों पर भी विधानमंडल कानून बना सकता है। पर यदि समवर्ती सूची के विषयों पर संसद द्वारा निर्मित कानून विधानमंडल के विरुद्ध हो तो संसद के कानून को ही प्राथमिक मिलेगी।

विधानमंडल में कानून बनाने के लिए जो प्रस्ताव प्रस्तुत होता है उसे विधेयक कहते हैं, विधेयक दो प्रकार के होते हैं साधारण विधेयक और धन अथवा वित्त विधेयक। इसके पारित होने की प्रक्रिया निम्नलिखित है—

(क) सामान्य विधेयकों के पारित होने की प्रक्रिया – गैर धन विधेयकों को हमलोग 'सामान्य विधेयक' की संज्ञा देते हैं। यह विधेयक विधानमंडल के दोनों सदनों में से किसी में पेश किए जा सकते हैं। इनके पारित होने के लिए प्रत्येक सदन में हर विधेयक के तीन वाचन आवश्यक हैं। इन तीनों वाचन की प्रक्रिया को विप्लेशन केन्द्रीय व्यवस्थापिका के वर्णन के समय किया गया है। उसी तरह राज्य के विधानमंडल द्वारा विधेयक के तीन वाचन होते हैं। अगर गैर धन विधेयक पर विधानमंडल के दोनों सदनों में मतभेद हो जाय अर्थात् अगर कोई विधेयक विधानसभा में पारित कर विधानपरिशद में भेजें और परिशद उसे अस्वीकृत कर दे अथवा उसे तीन महीने के भीतर नहीं लौटावे अथवा ऐसे संशोधन पेश करे जो विधानसभा को नहीं हैं। तो संविधान के अनुसार विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित कर परिशद के पास भेज सकती अगर इस बार भी परिशद इसे अस्वीकार करे अथवा पुनः विधानसभा के अमान्य संशोधन पेश करे तो इस बार वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। और राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिए दिया जाता है।

(ख) 'धन विधेयक को पारित होने की प्रक्रिया – संविधान के अनुच्छेद 199 में धन विधेयक की परिभाषा दी गयी है। इसके अनुसार निम्नांकित बातों से सम्बद्ध विधेयक ही धन विधेयक कहे जाते हैं – (प) कर लगाना, उसमें परिवर्तन तथा उसकी समाप्ति इत्यादि। (पप) ऋण – सम्बन्धी नियम। (पपप) राज्य की आक्समिक निधि तथा संचित निधि को सुरक्षित रूप में रखने या उनमें से धन निकालने से सम्बद्ध व्यवस्था। (पा) राज्य की संचित निधि से धन देने की स्वीकृति। (अ) किसी व्यय के मद को संचित निधि पर भारित मदों में

रखना आदि । (अप) सरकारी हिसाब में धन जमा करना तथा उसकी जाँच (अपप) उपर्युक्त बातों से सम्बद्ध कोई नियम नहीं । ।

धन विधेयक केवल विधानसभा में ही पुरस्थापित किया जाता है। इस पर राज्यपाल की पूर्वस्वीकृति आवश्यक है। विधानपरिशद में उस सदन की सिफारिशों के लिए भेजा जाता है। विधानपरिशद को 14 दिनों के भीतर इस विधेयक को विधानसभा के पास लोटा देना पड़ता

है। विधानसभा परिशद द्वारा की गयी सिफारिशों को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकती है। अगर चौदह दिनों तक विधानपरिशद चुप बैठी रहे तो धन विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जाता है।

“राज्यपाल की स्वीकृति – कानून का रूप धारण करने के लिए सभी विधेयकों पर राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। वह इन्हें अस्वीकृत कर सकता है या उनपर अपनी सम्मति दे सकता है। वह किसी भी विधेयक को (धनविधेयक को छोड़कर) विधानमंडल के विचारार्थ पुनः भेज सकता है। अगर इस बार विधानमंडल उक्त विधेयक को पुनः पारित करें तो राज्यपाल को इस पर अपनी अनुमति देनी होगी ।

राष्ट्रपति और राज्यों के विधेयक – राज्यपालों को यह अधिकार भी प्राप्त है कि ‘वह किसी ऐसे विधेयक को जो उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार का उल्लंघन करता हो – राष्ट्रपति के विचारार्थ भेज सकता है। छः महीने की अवधि के भीतर विधानमंडल द्वारा इस पर पुनर्विचार करने के बाद राष्ट्रपति के पास फिर इसे विचारार्थ भेजा जाता है। उसे फिर स्वीकार करना या न करना राष्ट्रपति पर निर्भर है।

वित्तीय प्रक्रिया – केन्द्र में वित्तीय मामलों में जिस प्रक्रिया का पालन होता है प्रायः उसी तरह राज्यों में भी व्यवस्था है। यह प्रक्रिया कई भागों में विभक्त है। इनका संक्षिप्त वर्णन आगे की पक्तियों में किया जा रहा है।

(क) वार्षिक बजट – वित्तीय प्रक्रिया का प्रथम चरण वार्षिक आय–व्यय के विवरण (बजट) से आरम्भ होता है। राज्यपाल वर्ष भर की आमदनी और खर्च का अनुमान विधानमंडल के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है। इस बजट में अनुमानित खर्च दो भागों में रहता है। पहले भाग के खर्च को संचित निधि पर भारित खर्च कहते हैं तथा दूसरे भाग में अन्य खर्च की मदें रहती हैं। पहली मद पर विधानसभा में मतदान नहीं होता है। उस पर बहस हो सकती है। इसमें राज्यपाल का वेतन, भत्ता, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, विधानसभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, विधानपरिशद के सभापति, उपसभापति के वेतन, भत्ते तथा अन्य ऐसे ही मदें रहते हैं।

(ख) अनुदान की मद – संचित निधि पर भारित खर्च की मदों को छोड़कर अन्य खर्च की मदों को अनुदान के रूप में विधानसभा के सामने रखा जाता है। इन अनुदानों की माँग के लिए राज्यपाल की सिफारिश आवश्यक है। इस तरह अनुदानों की माँग के विधानसभा द्वारा स्वीकृति होने पर वित्तीय प्रक्रिया का द्वितीय चरण समाप्त हो जाता है।

(ग) विनियोग–विधेयक विधानसभा द्वारा अनुदानों की माँग स्वीकृत हो जाने पर खर्च की सभी मदों के लिए विनियोग विधेयक विधानसभा में पुरः स्थापित किया जाता है इस विधेयक के पारित होने पर ही संचित निधि से खर्च के लिए रुपया निकाला जा सकता है। (घ) पूरक अनुदान अगर स्वीकृत बजट से अधिक राशि किसी मद पर खर्च हो जाती है अथवा किसी नयी मद पर कोई खर्च आवश्यक हो जाता है। तो राज्यपाल उसकी स्वीकृति के लिए पूरक बजट विधानसभा के सामने रख जाता है। इसके अतिरिक्त बजट पारित होने के पहले आवश्यक खर्च के लिए विधान–सभा का अग्रिम रकम देने का भी अधिकार है।

भारतीय शासन राजनीति

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधित्व के रूप में राज्यपाल राज्य के सम्बन्धस में समय-समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजता है जिसमें उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिये जाते हैं। राज्यपाल पद ग्रहण के समय संविधान की रक्षा करने की शपथ लेता है, और यदि वह राष्ट्रपति को सांविधानिक तंत्र की विफलता की रिपोर्ट देता है तो उसकी रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राष्ट्रपति, राज्यपाल को जो भी प्रशासनिक, विधायी और वित्तीय कार्य सौंपे राज्यपाल उन सबको पूरा करता है तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के शासन को संचालित करता है।

राज्यपाल, अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्य विधान- मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। राज्यपाल को अध्यादेश जारी नहीं कर सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में यह देखता है कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयवाद को न अपनाकर समस्त संघ के हितों का ध्यान रखे। संविधान की उपर्युक्त व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल की मुख्य भूमिका राज्य के सांविधानिक अध्यक्ष की तथा उसकी गौण भूमिका केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता की है। किन्तु राज्यपाल के आचरण के वर्तमान तक के इतिहास से प्रकट यही होता है कि उसकी दूसरी भूमिका अधिक महत्व की रही है। सांविधानिक अध्यक्ष के रूप में तो अपने औपचारिक कार्य करता ही है, परन्तु उसके उन कार्यों पर उसके केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में छाप अवश्य दिखाई देती है। यह छाप उस समय तो और अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। जब केन्द्र की नीति किसी विषय में अलग तथा राज्य की नीति उस विषय में उससे भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल प्रायः केन्द्र की इच्छा के अनुसार चलता है। राज्यपाल की उक्त भूमिका के कारण उसके पद की उस आधार पर आलोचना भी कही जाती रही है कि केन्द्र उसके माध्यम से राज्यों में अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी इस पद का महत्व निर्विवाद रूप से बना हुआ है।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

प. एक निर्वाचित राज्यपाल में और राज्य के मुख्यमंत्री में संघर्ष की संभावना उत्पन्न हो जाएगी क्योंकि मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रियों का निर्वाचन भी जनता द्वारा ही होता है। पप. एक निर्वाचित राज्यपाल राजनैतिक दलबन्दी के वातावरण में फँस जायेगा और निरपेक्ष रूप से सांविधानिक कार्यपालिका के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा।

राज्यपाल पद प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्ति किया जाता रहा है। जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विष्वासपात्र व्यक्ति राज्यपाल न होगा तो राज्य की गतिविधियों की सही सूचना केन्द्र को नहीं मिल सकेगी और इस प्रकार संविधान की व्यवस्था को आघात पहुँचेगा संविधान में व्यवस्था है कि राज्यपाल द्वारा यदि राज्य में संवैधानिक या वित्तीय संकट की रिपोर्ट दी जाए तो राष्ट्रपति आपात शक्ति का प्रयोग कर सकता है। फिर इस बात की क्या गारन्टी है कि राज्यपाल के पद पर विरोधी दलों के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाएगा। तो वे अपने दलीय हितों के लिए कार्य नहीं करेंगे।

हम कह सकते हैं कि आसाधारण परिस्थितियों को छोड़कर साधारण परिस्थितियों, में राज्यपाल का प्रमुख कर्तव्य यह देखना है कि राज्य का प्रशासन अच्छी तरह चले। उससे यह अपेक्षित है कि वह मंत्री-परिषद के समस्त निर्णयों के समबन्ध में अपनी सहमति प्रदान करे। वह अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा करे और तत्सम्बन्धी शिकायतों की ओर राज्य सरकार का ध्यान आकृष्ट करे। राज्यपाल को चाहिये कि वह निर्दलीय नेतृत्व प्रदान करके राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों में अपना विशेष योग दे।

अभ्यास-प्रश्न

1. भारत संघ के किसी राज्य की विधानपरिषद के संगठन, अधिकार तथा कार्यों का

‘वर्णन कीजिए।

2. अपने राज्य की विधानसभा के संगठन, अधिकार और कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. भारत – संघ के राज्यों की व्यवस्थापिका की रचना कैसे हुई है। विधानपरिषद् और विधानसभा के पारस्परिक सम्बन्धों की परीक्षा कीजिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

- 1- भारतीय संविधान, लेखक एम. लक्ष्मीकांत, प्रकाशक Mc Graw-Hill Education, प्रकाशन वर्ष 2023
- 2- भारतीय शासन और राजनीति, वी. पी. वर्मा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2021
- 3- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, गोपाल कृष्ण, राजकमल प्रकाशन, 2020
- 4- राजनीतिक सिद्धांत, ओ. पी. गायकवाड, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2022
- 5- आधुनिक राजनीतिक विचारक, सुरेंद्र प्रताप सिंह, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स , 2021
- 6- भारतीय विदेश नीति, कु. एल. शर्मा, साहित्य भवन, 2019
- 7- भारतीय लोकतंत्र, राजीव भार्गव, राजकमल प्रकाशन, 2023
- 8- राजनीति शास्त्र का परिचय, सुरेश मिश्रा, विकास पब्लिशिंग हाउस, 2022
- 9- शासन और प्रशासन, राम अवधेश सिंह, किताब महल, 2020
- 10- भारत का संविधान और राजनीति, पी. एम. बखशी, यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, 2021

MATS UNIVERSITY

MATS CENTER FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS : Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 M : 9109951184, 9755199381 Toll Free : 1800 123 819999

eMail : admissions@matsuniversity.ac.in Website : www.matsodl.com

